सप्ततिकाप्रकरण

(षष्ठ कर्मग्रन्थ)

पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री रचित
हिन्दी व्याख्या आदि सहित

सम्पादक—
धवल, जयधवल आदि अनेक ग्रन्थों के सम्पादक
पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री

प्रकाशक—
श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल
रोशन मुहल्ला, आगरा
वीर निर्वाण सम्वत् २४७४
ईसवी सन् १९४८

प्रकाशक—
बा० दयालचन्द जौहरी
बा० जवाहरलाल नाहटा
मन्त्री—
आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मंडल
आगरा

प्रथम संस्करण १०००
मूल्य ४)

मुद्रक
पी० घोष,
सरला प्रेस, बाँसफाटक, बनारस

समर्पण

कर्मशास्त्र के गभीर अभ्यासी एव धर्मनिष्ठ प०
हीराचन्द देवचद्र को सादर समर्पित ।

मन्त्री
आत्मानद जैन पुस्तक प्रचारक मडल
आगरा ।

श्रीयुत हीराचंद्रभाई का परिचय ।

प्रस्तुत छठा कर्मग्रन्थ जिनको समर्पित किया गया है उनका संक्षिप्त परिचय वाचकोंको कराना जरूरी है वैसा ही रसप्रद भी है। यों तो हीराभाई को गुजरात के जैनसमाज खासकर श्वेताम्बर समाज के धार्मिक अभ्यास में रस लेनेवालों में से कोई भा ऐसा न होगा जो उन्हें एक या दूसरी तरह से जानता न हो। राजपूताना, पंजाब आदि प्रदेशों के धार्मिक जिज्ञासु श्वेताम्बर भाइयों में से भी अनेक व्यक्ति उन्हें उनकी कृति के द्वारा भी जानते ही हैं, फिर भी उनका जीवनपरिचय शायद ही किसी को हो। एक तो वे स्वभाव से बहुत लज्जालु प्रकृति के हैं और किसी भी प्रकार की प्रसिद्धि से दूर रहनेवाले हैं। दूसरे वे अपने प्रिय विषय का अध्ययन-अध्यापन और चिंतन-मनन को छोड़कर किसी भी सामाजिक आदि अन्य प्रवृत्ति में नहीं पड़ते। इसलिए उनका जीवन उनके परिचय में आनेवालों के लिए भी एक तरह से अपरिचित-सा है। मैं स्वयं लगभग ३५ वर्षों से उनके परिचय में आया हूँ तो भी पूरे तौर से उनका जीवन नहीं जान पाया। अगर उनके सदा सहवासी, निकट मित्र और धर्मबंधु सब्रह्मचारी पंडित भगवानदास हर्षचन्द्र मुझको संक्षिप्त परिचय लिखकर न भेजते तो मैं विश्वस्त रूपसे निम्न पंक्तियों में उनका परिचय देने में असमर्थ ही रहता।

भाई हीराचंद वढवाण शहर जो कि झालावाड में वढवाण रेल्वे जंक्शन के निकट है और पुरानी ऐतिहासिक भूमि है, वहाँ के निवासी

हैं। उनका जन्म विक्रम स० १९४७ के चैत्र शुक्ल त्रयोदशी के दिन—जो भगवान महावीर का जन्म दिन है—हुआ। उनके पिता का नाम देवचन्द्र और माता का नाम अम्मा था। वे तीन भाई हैं। हीराचद भाई की प्राथमिक गुजराती सम्पूर्ण शिक्षा वढवाण में ही समाप्त हुई। वे तेरह वर्ष की उम्र में धार्मिक शिक्षा के लिए मेसाणा गये जहाँ कि यशोविजय जैन पाठशाला स्थापित है। उस पाठशाला में दो वर्ष तक प्राथमिक सस्कृत भाषा का तथा प्राथमिक जैन प्रकरण ग्रन्थों का अध्ययन करके वे विशेष अभ्यास के लिए अन्य चार मित्रों के साथ भड़ौच गये।

उस समय भड़ौच में जैन कर्मशास्त्र और आगमशास्त्र के निष्णात श्रीयुत अनूपचद मलूकचद जैन समाज में सुप्रसिद्ध थे। जिनका एक मात्र मुख्य कार्य जैन शास्त्र विषयक चिंतन-मनन, लेखन ही था। जैसे दिगम्बर समाज में मुरेना प० गोपालदास बैरया के कारण उस जमाने में प्रसिद्ध था, वैसे ही भड़ौच भी श्वेताम्बर समाज में श्रीयुत् अनूपचदभाई के कारण आकर्षक था। श्रीयुत अनूपचदभाई के निकट रहकर हीराचद-भाई ने छह महीने में छह कर्मग्रन्थ तथा कुछ अन्य महत्त्व के प्रकरणों का अध्ययन-आकलन कर लिया। इसके बाद वे मेसाणा गये और अनूपचदभाई की सूचना के अनुसार विशेष सस्कृत अध्ययन करने में लग गये। आचार्य हेमचन्द्रकृत व्याकरण तथा काव्य आदि ग्रन्थों का ठीक ठीक अध्ययन करने के बाद वे मेसाणा में ही धार्मिक अध्यापक रूप से नियुक्त हुए। और करीब पाँच वर्ष उसी काम को करते रहे। यहाँ से, और भी विशेष अध्ययन के लिए वे बनारस यशोविजय जैन पाठशाला में गये, पर तबियत के कारण वे वहाँ विशेष रह न सके। वहाँ से वापिस

लौटकर मेसाणा में ही करीब डेढ़ वर्ष तक वे धार्मिक अध्यापन कराते रहे। फिर वे अहमदाबाद पहुँचे। जहाँ जाकर उन्होंने कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह आदि कर्मविषयक आकर ग्रन्थों का गहरा आकलन किया।

हीराभाई ने आचार्य मलयगिरिकृत टीका सहित पंचसंग्रह का गुजराती अनुवाद करके विक्रम संवत् १९९२ में प्रथमखण्ड में प्रकाशित किया और उसका दूसरा खण्ड विक्रम संवत् १९९७ में प्रकाशित किया। इस अनुवाद के द्वारा वे कर्मशास्त्र के सभी जिज्ञासुओं तक पहुँच गये।

आज उनकी उम्र ५७ वर्ष की है। उन्होंने प्रथम से ही ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके उसे अभी तक सुचारु रूप से निभाया है। वे प्रकृति से इतने भद्र और सरलचेता हैं, जिसे देखकर मैं तो अनेक बार अचरज में पड़ गया हूँ। मन, वचन और कर्म में एकरूपता कैसी होती है या होनी चाहिये, इसके वे एक सजीव आदर्श हैं। वे कर्मशास्त्र के पारगामी होकर भी अन्य वैसे विद्वानों की तरह अकर्म या सेवाग्राही नहीं हैं। जब देखो तब वे कार्यरत ही दिखाई देते हैं और दूसरों की भलाई करने या यथा-सम्भव दूसरे के बतलाये काम कर देने में बिलकुल नहीं हिचकिचाते। उनको जाननेवाला कोई भी चाहे वह स्त्री हो या पुरुष—हीराभाई-हीराभाई जैसे मधुर सम्बोधन से निःसकोच अपना काम करने को कहता है और हीराभाई—मानों लघुता और नम्रताकी मूर्ति हो—एक सी प्रसन्नता से दूसरों के काम कर देते हैं।

वे मात्र श्वेताम्बरीय कर्मशास्त्रों के अध्ययन में ही सतुष्ट नहीं रहे। ज्यों ज्यों दिगम्बरीय कर्मशास्त्र विषयक ग्रन्थ प्रसिद्ध होते गये त्यों त्यों उन्होंने उन सभी ग्रन्थों का आकलन करने का भी यथा-सम्भव

है। हीराभाई की शास्त्र-जिज्ञासा और परिश्रमशीलता का मैं साक्षी हूँ। मैंने देखा है कि आगम, टीकाएं या अन्य कोई भी जैन ग्रन्थ सामने आया तो उसे वे पूरा करके ही छोड़ते हैं। उनका मुख्य आकलन तो कर्मशास्त्रका, खासकर श्वेताम्बरीय समग्र कर्मशास्त्र का है, पर इस आकलन के आसपास उनका शास्त्रीय वाचन विस्तार और चिंतन-मनन इतना अधिक है कि जैन सम्प्रदाय के तत्त्वज्ञान की छोटी बड़ी बातों के लिए वे जीवित ज्ञानकोष जैसे बन गये हैं।

अन्य साम्प्रदायिक विद्वानों की तरह उनका मन मात्र सम्प्रदायगामी या सकुचित नहीं है। उनकी दृष्टि सत्य जिज्ञासा की ओर मुख्यतया मैंने देखी है। इससे वे सामाजिक, राष्ट्रीय या मानवीय कार्यों का मूल्याङ्कन करने मे दुराग्रह से गल्ती नहीं करते। गुजरात में पिछले लगभग ३५ वर्षों में जो जैन धार्मिक अध्ययन करनेवाले पैदा हुए हैं, चाहे वे गृहस्थ हों या साधु-साध्वी, उनमें से शायद ही कोई ऐसा हो जिसने थोड़ा या बहुत हीराभाई से पढ़ा या सुना न हो। कर्मशास्त्र के अनेक जिज्ञासु साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविकाएं हीराभाइ से पढ़ने के लिए लालायित रहते हैं और वे भी आरोग्य की बिना परवाह किये सबको सतुष्ट करने का यथासंभव प्रयत्न करते रहते हैं। ऐसी है इनके शास्त्रीय तपकी सक्षिप्त कथा।

मैंने इस्वी सन् १९१६-१९१७ में कर्मग्रन्थों के हिंदी अनुवाद का कार्य आग्रा तथा काशी में प्रारम्भ किया और जैसे जैसे अनुवाद कार्य करता गया वैसे वैसे उस कर्मग्रन्थ के हिंदी अनुवाद की प्रेसकोपी प्रेस,में छपने के लिए भेजने के पहले हीराचदभाई के पास देखने व सुधार के लिए भेजता गया। १९२१ तक में चार हिंदी कर्मग्रन्थ तैयार

किये जो हीराचदभाई ने छपने के पहले ही देख लिये थे। इसके बाद बहुत वर्षों तक आगे के अनुवाद का काम मेरी अन्यान्य प्रवृत्ति के कारण स्थगित था। पर आखिर को बाकी के दो कर्मग्रन्थों का हिंदी अनुवाद भी तैयार हो ही गया। पञ्चम कर्मग्रन्थ का अनुवाद तो प० कैलासचंद्रजीने किया और प्रस्तुत छठे कर्मग्रन्थका अनुवाद प० फूलचद्रजी ने किया है। पञ्चम और षष्ठ इन दोनों हिंदी अनुवादों को भी छपने के पहले श्रीयुत हीराभाई ने पूरी सावधानी से देख लिया और अपनी व्यापक ग्रन्थोपस्थिति तथा सूक्ष्म सूझ से अनेक स्थलों में सुधार सूचित किये। उनके सुझाये हुए सुधार इतने महत्त्व के और इतने सच्चे थे कि जिनको देखकर पडित कैलासचंदजी तथा पडित फूलचद्रजी जैसे कर्मशास्त्री को भी हीराचदभाई के साक्षात् परिचय के बिना ही उनकी शास्त्र निष्ठा की ओर आकर्षित होते मैंने पाया।

मैंने जैन समाज के जुदे जुदे फिरकों में प्रसिद्ध ऐसे अनेक कर्मशास्त्रियों को देखा है, पर श्रीयुत हीराचदभाई जैसे सरल, उदार और ज्ञानपरायण चेता कर्मशास्त्री विरल ही पाये हैं। आज वे अहमदाबाद में रहते हैं और जैन प्राच्य-विद्या के अध्ययन, अध्यापन और सशोधन के उद्देश से स्थापित एक सस्था में अपने धर्मबधु प० भगवानदास के साथ अध्यापन कार्य करते हैं। उनकी धर्मभीरुता और आर्थिक सतुष्टि एक सच्चे धर्मशास्त्रके अभ्यासी को शोभा देनेवाली है जो इस युग में विरल होने के कारण अनुकरणीय है।

—सुखलाल सघवी

बाबू दयालचन्दजी जौहरी के बारे में दो शब्द

मैं यहाँ बाबू दयालचन्दजी का विशेष परिचय या जीवन-वृत्त लिखने नहीं बैठा हूं। मैं तो केवल एक विशेष कार्य की समाप्ति के अवसर पर उनके उत्साह और पुरुषार्थ का संकेत मात्र करने बैठा हूं। यों तो मेरा परिचय उक्त बाबूजी से ४० वर्ष पहले से शुरू हुआ है जो अभी तक अखण्ड रूप से चला आता है पर मैं यहाँ उस लम्बे परिचय में से प्रस्तुत अनुवाद उपयोगी एक ही अंश का संक्षिप्त उल्लेख करना अभी उपयुक्त समझता हूँ।

यद्यपि बाबू दयालचन्दजी प्रथम से ही व्यापारी रहे हैं, फिर भी उनकी विद्यावृत्ति प्रबल रही है। इसी विद्यावृत्ति ने उनके द्वारा आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल की स्थापना बहुत वर्षों से कराई है। बाबूजी ने अपनी सूझ से सोचा कि जैन परम्परा मे धर्म शास्त्र के अभ्यासियों के लिए कर्म शास्त्र महत्त्व का स्थान रखते हैं तो उस विषय के ग्रन्थों का जैसा गुजराती अनुवाद है वैसा हिन्दी में क्यों न कराया जाय? बाबूजी ने इसी विचार से मुझे बड़ोदे में १९१६ में लिखा कि आप गुजरात में रह गये, पर कर्म ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद मण्डल के द्वारा करा करके प्रकाशित करना आवश्यक है। बाबूजी की लगनी और स्नेहाकर्षण के वशीभूत होकर मैं आगा की ओर चला गया और कर्म ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद का कार्य प्रारम्भ किया। आगा तथा काशी में अमुक काम किया और फिर पूना गया। पूना में अन्य प्रवृत्ति का भार मेरे पर कुछ अधिक

पड़ा। जिससे कर्मग्रन्थों के अनुवाद आदि का कार्य कुछ ढीला पड़ गया और मुद्रण कार्य बिगड़ने भी लगा।

बाबू दयालचन्दजी ने देखा कि आरंभ किया काम बिगड़ रहा है तो मुझे फिर पूना से आगरा खींच लिया। आगरा में उन्हीं की सूझ और योजना से हमने एक विद्यार्थी मण्डल तथा लेखक-मण्डल जमाया। जहाँ फिर कर्मग्रंथ के अनुवाद आदि का कार्य चालू हुआ। ई० स० १९२१-२२ तक में चार कर्मग्रंथों के जो हिन्दी अनुवाद अपने नये रूप के साथ पहले पहल प्रकाशित हुए वह बाबू दयालचन्दजी की अखण्ड लगन का परिणाम है। वे इस कार्य को पूरा करने के लिये इतने पीछे न पड़ते और सदा जागरूक न रहते तो अधिक संभव यही है कि वह काम जिस धैर्य और निश्चिन्तता से पूरा हुआ कभी होने नहीं पाता।

ई० स० १९२२ से मैं अहमदाबाद गुजरात विद्यापीठ में आ गया और आगे का कर्मग्रंथ विषयक कार्य बन्द रहा। यद्यपि मैंने पञ्चम कर्मग्रन्थ का हिंदी अनुवाद २।३ जितना कर रखा था, पर न तो उसे पूरा कर सका और न उसकी प्रतिलिपि ही सुरक्षित रख सका। पर बाबू दयालचन्दजी कब चुप रहने वाले? बीच बीच में वे मुझको कर्मग्रन्थ के बाकी कार्य को किसी तरह सम्पन्न करने या कराने के लिये लिखते एवं कहते रहे। पर इसके लिये सुयोग बहुत ही पीछे से मिला। लगभग १९४० के आस पास बाकी के दो कर्मग्रंथों में से पञ्चम का हिन्दी अनुवाद कराने का भार मैंने पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री को सौंपा। उन्होंने अपनी योग्यता से उस कार्य को सुसम्पन्न किया। फिर मैं एक तरह से निश्चिन्त ही था, पर बाबू दयालचन्दजी ने मुझे कभी चैन से रहने न दिया। उन्होंने बार

आभार-प्रदर्शन

चिरकाल से मन में पोषित छहों कर्मग्रन्थ विषयक हिंदी अनुवाद का शुभ सङ्कल्प आज पूर्ण हो रहा है। इस शुभ सङ्कल्प की सिद्धि के आद्य और अंतिम साक्षी पं० सुखलालजी हैं। पंडितजी की विद्योपासना से आकर्षित होकर ही मुझ जैसे व्यापारी मानस ने इस मण्डल की स्थापना की। मण्डल की स्थापना से ही पंडितजी ने इसकी कार्य प्रवृत्ति में ही केवल रस नहीं लिया, वरन् अपने गंभीर चिंतन मनन के फल-स्वरूप अनेक मौलिक कृतियां का निर्माण करके मण्डल को प्रकाशनार्थ दी। उनमें कर्मग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मैं यह कहूँगा तो अत्युक्ति नहीं होगी कि सर्वप्रथम हिंदी जगत में कर्मशास्त्र की ओर अभिरुचि पंडितजीके कर्मग्रन्थों के अनुवाद के पश्चात् ही हुई। अतएव इस शुभ कार्य के स्थापक और उसे वेग प्रदान करनेवाले वस्तुत पंडित सुखलालजी हैं। मेरी तरह पंडितजीकी भी तीव्र उत्कण्ठा थी कि मण्डल से छहों कर्मग्रन्थों का अनुवाद प्रकाशित हो जाय तो हिंदी जगत् में कर्मशास्त्र-विषयक थोड़ा सा अच्छा साहित्य उपलब्ध हो जायगा। जिसके अध्ययन से हिंदी भाषिओं की कर्मशास्त्र विषयक जिज्ञासा कुछ शान्त होगी। अतएव पंडितजी केवल चार कर्मग्रन्थों का समयानुकूल सुंदर अनुवाद करके चुप नहीं रहे। परन्तु पञ्चम और षष्ठ कर्मग्रन्थ का अनुवाद भी कर्मशास्त्र के विशिष्ट अभ्यासी क्रमशः पं० कैलाशचन्द्रजी और पं० फूलचन्दजी शास्त्री को सौंपा। जिसका सुंदर और मधुर फल आज आपके सामने प्रस्तुत है।

पं० फूलचंदजी शास्त्री अपने विषय के गंभीर अभ्यासी हैं। उन्होंने दिगम्बरीय कर्मशास्त्रों का तो आकलन किया ही है, परन्तु इसके साथ ही साथ श्वेताम्बरीय कर्म शास्त्र के भी पूर्ण अभ्यासी हैं। अपने इस अनुवाद में उन्होंने अपने चिरकालीन अभ्यास का पूर्ण उपयोग किया है और प्रत्येक दृष्टि से ग्रन्थ को सर्वाङ्ग सम्पूर्ण बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया है। काशी विश्वविद्यालय में प्राच्य विद्याविभाग में जैन दर्शनाध्यापक पं० दलसुखभाई मालवणिया का भी इस शुभ कार्य में पूर्ण हाथ रहा है। पं० दलसुखभाई ने पञ्चम और षष्ठ कर्मग्रंथ के प्रकाशन के समय प्रेस और कागज के प्रबंध में, प्रकाशन के कार्य में और संग्रह मशविरा आदि अनेक कार्यों में आत्मीय भाव से प्रोत्साहन सहायता दी है। मैं इसका अन्तःकरण से आभारी हूँ।

इसमें इतनी मदद हमको मिली है जिसके लिये हम आभारी हैं।

५००) दिवान बहादुर सेठ केसरीसिंह जी बाफना कोटा (राजपूताना)

३००) बा० गोपीचन्दजी धाडीवाल, इनके पिता स्वर्गीय सेठ शिवचन्दजी धाडीवाल के स्मरणार्थ।

१२५) सेठ फूलचन्दजी झावक फलोदी।

—दयालचन्द्र

सम्पादकीय वक्तव्य

सन् ४२ की बात है। जीवन में वस्तुओं की मँहगाई का अनुभव ी लगा था। आर्थिक सन्तुलन रखने के लिये अधिक श्रम करने निश्चय किया। फलत श्रीमान् पं० सुखलाल जी सघवी से बातचीत । उन्होंने सप्ततिका का अनुवाद करने के लिये मुझसे आग्रह किया। पि मेरा झुकाव कर्मप्रकृति की ओर विशेष था। फिर भी तत्काल का अनुवाद कर देने का ही मैंने निश्चय किया। अनुवाद कार्य तो ी वर्ष पूरा कर लिया था पर छपाई आदि की विशेष सुविधा न हो ने के कारण यह सन् ४६ के मध्य तक यों ही पडा रहा।

अनुवाद मे आचार्य मलयगिरि कृत टीका का उपयोग हुआ है। ोषार्थ उसी के आधार से लिखे गये हैं। कहीं कहीं प० जय- न रचित गुजराती टवे का भी उपयोग किया है। विषय को स्पष्ट ने के लिये यथास्थान कोष्ठक दिये गये हैं। इनके बनाने में मुनि विजय जी कृत सार्थ कर्मग्रन्थ द्वि० भाग से सहायता मिली है।

टिप्पणियाँ दो प्रकार की दी गई हैं। प्रथम प्रकार की टिप्पणियों हैं जिनमें सप्तिका के विषय का गाथाओं से साम्य सूचित होता है। र दूसरे प्रकार की टिप्पणियाँ वे हैं जिनमें कुछ मान्यताओं के य में मतभेद की चर्चा की गई है। ये टिप्पणियाँ हिन्दी में दी हैं। आवश्यकतानुसार उनकी पुष्टि में प्रमाण भी दिये गये हैं।

कुछ मान्यताएँ एव सज्ञाएँ ऐसी हैं जो दिगम्बर और श्वेताम्बर मिक साहित्य में कुछ अन्तर से व्यवहृत होने लगी है। इस य में हमने श्वेताम्बर परम्परा का पूरा ध्यान रखा है।

अहमदाबाद निवासी प० हीराचन्दजी कर्मशास्त्र के अच्छे विद्वान् । प्रस्तुत अनुवाद इनके पास भेजा गया था। इन्होंने उसे पढ़कर

[illegible] संशोधन कर दिया गया है। फिर भी [illegible] उत्तरदायित्व मेरे ऊपर है।

[illegible] का आभार मानता हूँ जिनकी [illegible] सका हूँ। सर्व [illegible] विद्वान् श्रीमान् पं० सुखलाल जी का [illegible] हाथ में लिया था। [illegible] भेजने का कष्ट [illegible] बनाने में बड़ी सहायता मिली [illegible] का अनुवाद कर [illegible] जी न्यायाचार्य ने किया [illegible] बातचीत भी की थी। [illegible] पं० महेन्द्रकुमार जी का [illegible] विशेष आभारी हूँ।

[illegible] जैन दर्शन व जैन आगम के अध्यापक [illegible] और भी विशेष आभारी हूँ, [illegible] प्रकाश में आ रहा है। [illegible] कमी देखी उसे पूरा [illegible] मन्त्री बाबू दयाचन्दजी एक [illegible] जाने पर भी प्रस्तावना के [illegible] पड़ा है फिर भी आप [illegible] लिखाने गये। इसलिये [illegible]

फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

[illegible]

प्रस्तावना

१—कर्म साहित्यकी क्रम परम्परा का निर्देश

परिभाषा—जैनदर्शनमें पुद्गल द्रव्यकी अनेक प्रकारकी वर्गणाएँ बतलाई हैं। इनमेंसे औदारिक शरीर वर्गणा, वैक्रिय शरीर वर्गणा, आहारक शरीर वर्गणा, तैजस वर्गणा, भाषा वर्गणा, श्वासोच्छ्वास वर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मण वर्गणा इन वर्गणाओंका संसारी जीवद्वारा ग्राह्य माना गया है। संसारी जीव इन वर्गणाओंको ग्रहण करके विभिन्न शरीर, वचन और मन आदिकी रचना करता है। इनमेंसे प्रारम्भकी तीन वर्गणाओंसे औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीन शरीरोंकी रचना होती है। तैजस वर्गणाओंसे तैजस शरीर बनता है। भाषा वर्गणाएँ विविध प्रकारके शब्दोंका आकार धारण करती हैं। श्वासोच्छ्वास वर्गणा श्वासोच्छ्वासके काम आती हैं। हिताहितके विचारमें साहाय्य करनेवाले द्रव्यमनकी रचना मनोवर्गणाओंसे होती है। और ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्म कार्मण वर्गणाओंसे बनते हैं। इन सबमें कर्म संसारका मूल कारण माना गया है। वैदिक साहित्यमें जिसका लिंग शरीररूपसे उल्लेख किया गया है वह ही जैनदर्शनमें कर्म शब्द द्वारा पुकारा जाता है।

वैसे तो संसारी जीवकी प्रतिक्षण जो राग द्वेष आदि रूप परिणति हो रही है। उसकी कर्म संज्ञा है। कर्मका बन्ध किया है, यह अर्थ

---

(१) गोम्मटसार जीवकाण्डमें २३ प्रकारकी वर्गणाएँ बतलाई हैं। उनमेंसे आहार वर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मण वर्गणा ये संसारी जीवद्वारा ग्राह्य मानी गई हैं।

जो सुझाव भेजे थे तदनुसार संशोधन कर दिया गया है। फिर भी अनुवाद में गलती होना संभव है जिसका उत्तरदायित्व मेरे ऊपर है।

अन्त में मैं उन सभी महानुभावों का आभार मानता हूँ जिनकी यथा योग्य सहायता से मैं इस कार्य को सम्पन्न कर सका हूँ। सर्व प्रथम मैं जैन दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् श्रीमान् पं० सुखलाल जी का चिर आभारी हूँ जिनके प्रेमवश मैंने इस काम को हाथ में लिया था। पं हीराचंद जी ने पूरे अनुवाद को पढकर अनेक सुझाव भेजने का कष्ट किया था। इससे अनुवाद को निर्दोष बनाने में बडी सहायता मिली है, इसलिये मैं उनका भी आभारी हूँ। 'मैं सप्ततिका का अनुवाद कर दूँ', यह प्रस्ताव मेरे मित्र पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य ने किया था। उन्होंने पं० सुखलाल जी से प्रारम्भिक बातचीत भी की थी। इस हिसाब से इस कार्य को चालना देने में पं० महेन्द्रकुमार जी का विशेष हाथ है अत मैं इनका विशेष आभारी हूँ।

हिन्दू विश्वविद्यालय में जैन दर्शन व जैन आगम के अध्यापक पं० दलसुख जी मालवणिया का तो मैं और भी विशेष आभारी हूँ, इन्हीं के प्रयत्न से यह ग्रन्थ इतने जल्दी प्रकाश में आ रहा है। इन्होंने छपाई आदि में जहा जिस बात की कमी देखी उसे पूरा करके मेरी सहायता की है। मण्डल के मन्त्री बाबू दयालचन्दजी एक सहृदय व्यक्ति हैं। मूल ग्रन्थ के छप जाने पर भी प्रस्तावना के कारण बहुत दिन तक ग्रन्थ को प्रेस में रुकना पडा है फिर भी आप अपने सौजन्य पूर्ण व्यवहार को यथावत् निभाते गये। इसलिये इनका मैं सर्वाधिक आभारी हूँ।

बनारस।
मार्गशीर्ष कृष्णा ७
वीर नि० सं० २४७४

फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

बाद जो अनुबद्ध केवली और श्रुतकेवली हुए उन तक तो यह अंग पूर्वसम्बन्धी ज्ञान व्यवस्थित चला आया, किन्तु इसके बाद इसकी यथावत् परम्परा न चल सकी। धीरे धीरे लोग इसे भूलने लगे और इस प्रकार मूल साहित्यका बहुत बड़ा भाग नष्ट हो गया। ऊपर हम मूलभूत जिस कर्म साहित्यका उल्लेख कर आये हैं। उसमेंसे कर्मप्रवादका तो लोप हो ही गया। केवल अग्रायणीय पूर्व और ज्ञानप्रवाद पूर्वका कुछ अंश बच रहा। तब श्रुतधारक ऋषियोंको यह चिन्ता हुई कि पूर्व साहित्यका जो भी हिस्सा शेष है उसका संकलन हो जाना चाहिये। इस चिन्ताका पता उन कथासे लगता है जो षट्खं० प्रथम पुस्तकमें निबद्ध है। श्वेताम्बर परम्परामें प्रचलित अंग साहित्यके संकलनके लिये जिन तीन वाचनाओंका उल्लेख मिलता है वे भी इसी बातकी द्योतक हैं।

वर्तमान मूल कर्मसाहित्य और उसकी संकलनाका आधार—अबतक जो भी प्रमाण मिले हैं उनके आधारसे यह कहा जा सकता है कि कर्म साहित्य व आगमसाहित्यके संकलनमें श्रुतधर ऋषियोंकी एक चिन्ता ही विशेष सहायक हुई थी। वर्तमानमें दोनों परम्पराओंमें जो भी कर्मविषयक मूल साहित्य उपलब्ध होता है वह इसीका फल है। अग्रायणीय पूर्वकी पाँचवीं वस्तुके चौथे प्राभृतके आधारसे षट्खण्डागम, कर्मप्रकृति, शतक और सप्ततिका इन ग्रन्थोंका संकलन हुआ था और ज्ञानप्रवाद पूर्वकी दसवीं वस्तुके तीसरे प्राभृतके आधारसे कषायप्राभृतका संकलन हुआ था। इनमेंसे कर्मप्रकृति, यह ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परामें माना जाता है कषायप्राभृत और षट्खण्डागम ये दो दिगम्बर परम्परामें माने जाते हैं। तथा कुछ पाठ भेदके साथ शतक और सप्ततिका ये दो ग्रन्थ दोनों परम्पराओंमें माने जाते हैं।

जैसे इस साहित्यको पूर्व साहित्यका उत्तराधिकार प्राप्त है वैसे ही यह शेष कर्म साहित्यका आदि स्रोत भी है। आगे टीका, टिप्पणी

जीवकी राग द्वेषरूप परिणतिमें अच्छी तरह घटित होता है इसलिये इसे ही कर्म कहा है, क्योंकि अपनी इस परिणतिके कारण ही जीवकी हीन दशा हो रही है। पर आत्माकी इस परिणतिके कारण कार्मण नामवाले पुद्गलरज आत्मासे आकर सम्बद्ध हो जाते हैं और कालान्तरमें वे वैसी परिणति के होनेमें निमित्त होते हैं, इसलिये इन्हें भी कर्म कहा जाता है। इन ज्ञानावरणादि कर्मोंके साथ संसारी जीवका एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध है जिससे जीव और कर्मका विवेक करना कठिन हो गया है। लक्षणभेदसे ही ये जाने जा सकते हैं। जीवका लक्षण चेतना अर्थात् ज्ञान दर्शन है और कर्म का लक्षण जड अचेतन है। इस प्रकारके कर्मका जिस साहित्यमें सांगोपांग विचार किया गया है उसे कर्मसाहित्य कहते हैं।

अन्य आस्तिक दर्शनों में भी कर्मके अस्तित्वको स्वीकार किया है। किन्तु उनकी अपेक्षा जैन दर्शनमें इस विषयका विस्तृत और स्वतन्त्र वर्णन पाया जाता है। इस विषयके वर्णनने जैन साहित्यके बहुत बड़े भागको रोक रखा है।

मूल कर्म साहित्य--भगवान महावीरके उपदेशोंका संकलन करते समय कर्म साहित्यकी स्वतन्त्र संकलना की गई थी। गणधरोंने (पट्ट-शिष्योंने) समस्त उपदेशोंको बारह अङ्गोंमें विभाजित किया था। इनमेंसे दृष्टिवाद नामक बारहवाँ अङ्ग बहुत विशाल था। इसके परिकर्म, सूत्र प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका ये पाँच भेद थे। इनमेंसे पूर्वगतके चौदह भेद थे जिनमेंसे आठवें भेदका नाम कर्मप्रवाद था। कर्मविषयक साहित्यका इसीमें संकलन किया गया था।

इसके सिवा अग्रायणीय और ज्ञानप्रवाद इन दो पूर्वोंमें भी प्रसंगसे कर्मका वर्णन किया गया था।

पूर्वगत कर्म साहित्यके ह्रासका इतिहास—किन्तु धीरे धीरे काल-दोषसे पूर्व साहित्य नष्ट होने लगा। भगवान महावीरके मोक्ष जानेके

आ रही है। सप्ततिका यह नाम इसी आधारसे रखा गया जान पड़ता है। इसे षष्ठ कर्मग्रन्थ भी कहते हैं। इसका कारण यह है कि वर्तमानमें कर्म ग्रन्थोंकी जिस क्रमसे गणना की जाती है उसके अनुसार इसका छठा नम्बर लगता है।

गाथासंख्या—प्रस्तुत ग्रन्थका सप्ततिका यह नाम यद्यपि गाथाओंकी संख्याके आधारसे रखा गया है तथापि इसकी गाथाओंकी संख्याके विषयमें मतभेद है। अबतक हमारे देखनेमें जितने संस्करण आये हैं उन सबमें इनकी गाथाओंकी अलग अलग संख्या दी गई है। श्री जैन श्रेयस्कर मण्डलकी ओरसे इसका एक संस्करण म्हेसाणासे प्रकाशित हुआ है उसमें इसकी गाथाओंकी संख्या ९१ दी गई है। प्रकरण रत्नाकर चौथा भाग बम्बईसे प्रकाशित हुआ है उसमें इसकी गाथाओंकी संख्या ९४ दी गई है। आचार्य मलयगिरिकी टीकाके साथ इसका एक संस्करण श्री आत्मानन्द जैन ग्रन्थमालासे प्रकाशित हुआ है उसमें इसकी गाथाओंकी संख्या ७२ दी गई है। और चूर्णिके साथ इसका एक संस्करण श्री ज्ञानमन्दिर डभोईसे प्रकाशित हुआ है उसमें इसकी गाथाओंकी संख्या[1] ७१ दी गई है। इसके अतिरिक्त ज्ञानमन्दिर डभोईसे प्रकाशित होनेवाले संस्करणमें जिन तीन मूल गाथा प्रतियोंका परिचय दिया गया है उनके आधारसे इसकी गाथाओंकी संख्या ८१,९२ और ९३ प्राप्त होती है।

अब देखना यह है कि इसकी गाथाओंकी संख्याके विषयमें इतना मतभेद क्यों है। छानबीन करनेके बाद मुझे इसके निम्नलिखित तीन कारण ज्ञात हुए हैं।

---

(१) यह चूर्णि ७१ गाथाओं पर न होकर ८९ गाथाओं पर है। इससे चूर्णिकारके मतसे सप्ततिकाकी गाथाओंकी संख्या ८९ सिद्ध होती है। इसमें अन्तर्भाष्य गाथाएँ भी सम्मिलित हैं।

व संकलन रूप जितना भी कर्मसाहित्य लिखा गया है उसका जनक उपर्युक्त साहित्य ही है।

मूल साहित्यमें सप्ततिकाका स्थान—जैसा कि हम पहले बतला आये हैं कि वर्तमानमें ऐसे पाँच ग्रन्थ माने गये हैं जिन्हें कर्मविषयक मूल साहित्य कहा जा सकता है। उनमें एक ग्रन्थ सप्ततिका भी है।

सप्ततिकामें अनेक स्थलों पर मतभेदोंका निर्देश किया है। एक मतभेद उदयविकल्प और पदवृन्दोंकी संख्या बतलाते समय आया है और दूसरा मतभेद अयोगिकेवली गुणस्थानमें नामकर्मकी कितनी प्रकृतियोंका सत्त्व होता है इस सिलसिलेमें आया है। इससे ज्ञात होता है कि जब कर्मविषयक अनेक मतान्तर प्रचलित हो गये थे तब इसकी रचना हुई होगी।

तथापि इसकी प्रथम गाथामें इसे दृष्टिवाद अंगकी एक बूँदके समान बतलाया है। और इसकी टीका करते हुए सभी टीकाकार अग्रायणीय पूर्वकी पाँचवीं वस्तुके चौथे प्राभृतसे इसकी उत्पत्ति मानते हैं, इसलिये इसकी मूल साहित्यमें परिगणना की गई है।

सप्ततिका की थोड़ी सी गाथाओंमें कर्म साहित्यका समग्र निचोड़ भर दिया है। इस हिसाबसे जब हम विचार करते हैं तो इसे मूल साहित्य कहनेके लिये ही जी चाहता है।

२—सप्ततिका व उसकी टीकाएँ

नाम—प्रस्तुत ग्रन्थका नाम सप्ततिका है। गाथाओं या श्लोकोंकी संख्या के आधारसे ग्रन्थका नाम रखनेकी परिपाटी प्राचीन कालसे चली

(१) देखो गाथा १९,२० व उनकी टीका। (२) देखो गाथा ६६,६७ व ६८।

मूल गाथा तरीके मानी लीधी छे परन्तु ए गाथाने चूर्णिकारे 'पाठतरं' लखीने पाठान्तर गाथा तरीके निर्देशी छे, एटले 'षड् पणुवीसा सोलस' गाथा मूलनी नथी ए माटे चूर्णिकारनो सचोट पुरावो होवाथी सित्तरी प्रकरणनी ७१ गाथाओ घटित थाय छे। आद्य गाथाने मंगल गाथा तरीके समजवाथी सित्तरीनी सित्तेर गाथाओ थई जाय छे।'

किन्तु इस गाथाके अन्तमें केवल 'पाठतर' ऐसा लिखा होनेसे इसे मूल गाथा न मानना युक्त प्रतीत नहीं होता। जब इस पर चूर्णि और आचार्य मलयगिरिकी टीका दोनों हैं तब इसे मूल गाथा मानना ही उचित प्रतीत होता है। हमने इसी कारण प्रस्तुत संस्करणमें ७२ गाथाएँ स्वीकार की हैं। इनमेंसे अन्तकी दो गाथाएँ विषयकी समाप्तिके बाद आई हैं अतः उनकी गणना नहीं करने पर ग्रन्थका सित्तरी यह नाम सार्थक ठहरता है।

ग्रन्थकर्ता—सप्ततिकाके रचयिता कौन थे, अपने पावन जीवनसे किस भूमिको उन्होंने पवित्र किया था, उनके माता पिता कौन थे, दीक्षा गुरु और विद्यागुरु कौन थे, इन सब प्रश्नोंके उत्तर पानेके वर्तमानमें कोई साधन उपलब्ध नहीं हैं। इस समय सप्ततिका और उसकी दो टीकाएँ हमारे सामने हैं। कर्ताके नाम ठामके निर्णय करनेमें इनसे किसी प्रकारकी सहायता नहीं मिलती।

यद्यपि स्थिति ऐसी है तथापि जब हम शतककी अन्तिम १०४ व १०५ नम्बरवाली गाथाओंसे सप्ततिकाकी मंगल गाथा और अन्तिम गाथाका क्रमशः मिलान करते हैं तो यह स्वीकार करनेको जी चाहता है कि बहुत सम्भव है कि इन दोनों ग्रन्थोंके संकलयिता एक ही आचार्य हों।

जैसे सप्ततिकाकी मंगल गाथामें इस प्रकरणको दृष्टिवाद अंगकी एक बूँदके समान बतलाया है वैसे ही शतककी १०४ नम्बरवाली गाथामें भी उसे कर्मप्रवाद श्रुतरूपी सागरकी एक बूँदके समान बतलाया गया

१—लेखकों या गुजराती टीकाकारों द्वारा अन्तर्भाष्य गाथाओंका मूल गाथा रूपसे स्वीकार किया जाना।

२—दिगम्बर परम्परामें प्रचलित सप्ततिकाकी कतिपय गाथाओंका मूल गाथारूपसे स्वीकार किया जाना।

३—प्रकरणोपयोगी अन्य गाथाओंका मूल गाथारूपसे स्वीकार किया जाना।

जिन प्रतियोंमें गाथाओंकी संख्या ९१,९२,९३ या ९४ दी है उनमें कुछ अन्तर्भाष्य गाथाएँ, दिगम्बर परम्परामें प्रचलित सप्ततिकाकी पाँच गाथाएँ और शेष प्रकरणसम्बन्धी अन्य गाथाएँ सम्मिलित हो गई हैं। इससे गाथाओंकी संख्या अधिक बढ़ गई है। यदि इन गाथाओंको अलग कर दिया जाता है तो इसकी कुल ७२ मूल गाथाएँ रह जाती हैं। इन पर चूर्णि और मलयगिरि आचार्यकी संस्कृत टीका ये दोनों पाई जाती हैं अतः इस आधारसे मूल गाथाओंकी संख्या ७२ निर्विवाद रूपसे निश्चित होती है। मुनि कल्याणविजयजीने आत्मानन्द जैन ग्रन्थमालासे प्रकाशित होनेवाले ८६वें रत्न 'शतक और सप्ततिकाकी' प्रस्तावनामें इसी आधारको प्रमाण माना है।[1]

किन्तु मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोईसे चूर्णिसहित जो सप्ततिका प्रकाशित हुई है उसमें उसके सम्पादक पं० अमृतलालजीने 'चउ पणवीसा सोलस' इत्यादि २५ नम्बरवाली गाथाको मूल गाथा न मानकर सप्ततिकाकी कुल ७१ गाथाएँ मानी हैं उनका इस सम्बन्धमें यह वक्तव्य है—

'परन्तु अमोए आ प्रकाशनमा सित्तरीनी ७१ गाथाओज मूल तरीके मानी छे। तेनु कारण ए छे के उपर्युक्त कर्मग्रन्थ द्वितीय विभागमा 'चउ पणुवीसा सोलस' (गा-२५) ए गाथाने तेना सम्पादक श्री प

१—देखो प्रस्तावना पृष्ठ १२ व १३।

मूळ गाथा तरीके मानी लीधी छे परन्तु ए गाथाने चूर्णिकारे 'पाढतरं' लखीने पाठान्तर गाथा तरीके निर्देशी छे ; एटले 'वज्ज पणुवीसा सोलस' गाथा मूळनी नथी ए माटे चूर्णिकारनो सचोट पुरावो होवाथी सित्तरी प्रकरणनी ७१ गाथाओ घटित थाय छे। आद्य गाथाने मंगल गाथा तरीके समजवाथी सित्तरीनी सित्तेर गाथाओ थई जाय छे।'

किन्तु इस गाथाके अन्तमें केवल 'पाढतरं' ऐसा लिखा होनेसे इसे मूल गाथा न मानना युक्त प्रतीत नहीं होता। जब इस पर चूर्णि और आचार्य मलयगिरिकी टीका दोनों हैं तब इसे मूल गाथा मानना ही उचित प्रतीत होता है। हमने इसी कारण प्रस्तुत संस्करणमें ७२ गाथाएँ स्वीकार की हैं। इनमेंसे अन्तकी दो गाथाएँ विषयकी समाप्तिके बाद आई हैं अतः उनकी गणना नहीं करने पर भी प्रकृत सित्तरी यह नाम सार्थक ठहरता है।

ग्रन्थकर्ता—सप्ततिकाके रचयिता कौन थे, अपने पावन जीवनसे किस भूमिको उन्होंने पवित्र किया था, उनके माता पिता कौन थे, दीक्षा गुरु और विद्यागुरु कौन थे, इन सब प्रश्नोंके उत्तर पानेके वर्तमानमें कोई साधन उपलब्ध नहीं हैं। इस समय सप्ततिका और उसकी दो टीकाएँ हमारे सामने हैं। कर्ताके नाम ठामके निर्णय करनेमें इनसे किसी प्रकारकी सहायता नहीं मिलती।

यद्यपि स्थिति ऐसी है तथापि जब हम शतककी अन्तिम १०४ व १०५ नम्बरवाली गाथाओंसे सप्ततिकाकी मंगल गाथा और अन्तिम गाथाका क्रमशः मिलान करते हैं तो यह स्वीकार करनेको जी चाहता है कि बहुत सम्भव है कि इन दोनों ग्रन्थोंके संकलयिता एक ही आचार्य हों।

जैसे सप्ततिकाकी मंगल गाथामें इस प्रकरणको दृष्टिवाद अंगकी एक बूँदके समान बतलाया है वैसे ही शतककी १०४ नम्बरवाली गाथामें भी उसे कर्मप्रवाद श्रुतरूपी सागरकी एक बूँदके समान बतलाया गया

हैं। जैसे सप्ततिकाकी अन्तिम गाथा में ग्रन्थकर्ता अपने लाघवको प्रकट करते हुए लिखते हैं कि 'अल्पज्ञ मैंने त्रुटित रूप से जो कुछ भी निबद्ध किया है उसे बहुश्रुत के जानकार पूरा करके कथन करें।' वैसे ही शतककी १०५ वीं गाथामें भी उसके कर्ता निर्देश करते हैं कि 'अल्प श्रुतवाले अल्पज्ञ मैंने जो बन्धविधानका सार कहा है उसे बन्ध मोक्ष की विधिमें निपुण जन पूरा करके कथन करें।' दूसरी गाथाके अनुरूप एक गाथा कर्म प्रकृतिमें भी पाई जाती है।

गाथाएँ ये हैं—

वोच्छं सुण संखेवं नीसंदं दिट्ठिवायस्स ॥१॥ सप्ततिका।
कम्मप्पवायसुयसागरस्स णिस्संदमेत्ताओ ॥१०४॥ शतक।
जो जत्थ अपडिपुन्नो अत्थो अप्पागमेण बद्धो त्ति।
तं खमिऊण बहुसुया पूरेऊण परिकहंतु ॥७२॥ सप्ततिका।
बंधविहाणसमासो रइओ अप्पसुयमंदमइणा उ।
तं बंधमोक्खणिउणा पूरेऊण परिकहेंति ॥१०५॥ शतक।

इनमें णिस्संद, अप्पागम, अप्पसुयमंदमइ, पूरेऊण परिकहंतु ये पद ध्यान देने योग्य हैं।

इन दोनों ग्रन्थोंका यह साम्य अनायास नहीं है। ऐसा साम्य उन्हीं ग्रन्थों में देखने को मिलता है जो या तो एक कर्तृक हों या एक दूसरेके आधारसे लिखे गये हों। बहुत सम्भव है कि शतक और सप्ततिका इनके कर्ता एक आचार्य हों।

शतककी चूर्णिमें शिवशर्म आचार्यको उसका कर्ता बतलाया है। ये वे ही शिवशर्म प्रतीत होते हैं जो कर्मप्रकृतिके कर्ता माने गये हैं।

(१) केण कयं ति, शब्दतर्कन्यायप्रकरणकर्मप्रकृतिसिद्धान्तविजाणएण अणेगवायसमालद्धविजएण सिवसम्मायरियणामधेज्जेण कयं। पृ० १

इस हिसाबसे विचार करने पर कर्मप्रकृति, शतक और सप्ततिका ये तीनों ग्रन्थ एक कर्तृक सिद्ध होते हैं।

किन्तु कर्मप्रकृति और सप्ततिकाका मिलान करने पर ये दोनों एक आचार्यकी कृति हैं यह प्रमाणित नहीं होता, क्योंकि इन दोनों ग्रन्थोंमें विरुद्ध दो मतों का प्रतिपादन किया गया है। उदाहरणार्थ—सप्ततिकामें अनन्तानुबन्धी चतुष्कको उपशम प्रकृति बतलाया गया है। किन्तु कर्मप्रकृतिके उपशमना प्रकरणमें 'नतरकरण उवसमो वा' यह कहकर अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी उपशमविधि और अन्तरकरण विधिका निषेध किया गया है।

इस परसे निम्न तीन प्रश्न उत्पन्न होते हैं—

१—क्या शिवशर्म नामके दो आचार्य हुए हैं एक वे जिन्होंने शतक और सप्ततिकाकी रचना की है और दूसरे वे जिन्होंने कर्मप्रकृतिकी रचना की है?

२—शिवशर्म आचार्यने कर्मप्रकृतिकी रचना की, क्या यह किंवदन्तीमात्र है?

३—शतक और सप्ततिकाकी कुछ गाथाओंमें समानता देखकर एककर्तृक मानना कहाँ तक उचित है?

यह भी सम्भव है कि इनके संकलयिता एक ही आचार्य हों। किन्तु इनका संकलन विभिन्न दो आधारों से किया गया हो। जो कुछ भी हो। तत्काल उक्त आधारसे सप्ततिकाके कर्ता शिवशर्म ही हैं ऐसा निश्चित कहना विचारणीय है।

एक मान्यता यह भी प्रचलित है कि सप्ततिकाके कर्ता चन्द्रर्षि महत्तर हैं। किन्तु इस मतकी पुष्टिमें कोई सबल प्रमाण नहीं पाया जाता। सप्ततिकाकी मूल ताडपत्रीय प्रतियोंमें निम्नलिखित गाथा पाई जाती है—

'गाहग्गं सयरीए चंदमहत्तरमयाणुसारीए।
टीगाइ निअमिआण एगूणा होइ नउईओ॥'

हैं। जैसे सप्ततिकाकी अन्तिम गाथा में ग्रन्थकर्ता अपने लाघवको प्रकट करते हुए लिखते हैं कि 'अल्पज्ञ मैंने त्रुटित रूप से जो कुछ भी निबद्ध किया है उसे बहुश्रुत के जानकार पूरा करके कथन करें।' वैसे ही शतककी १०५ वीं गाथामें भी उसके कर्ता निर्देश करते हैं कि 'अल्प श्रुतवाले अल्पज्ञ मैंने जो बन्धविधानका सार कहा है उसे बन्ध मोक्ष की विधिमें निपुण जन पूरा करके कथन करें।' दूसरी गाथाके अनुरूप एक गाथा कर्म प्रकृतिमें भी पाई जाती है।

गाथाएँ ये हैं—

> वोच्छं सुण संखेवं नीसंदं दिट्ठिवायस्स ॥१॥ सप्ततिका।
> कम्मप्पवायसुयसागरस्स णिस्संदमेत्ताओ ॥१०४॥ शतक।
> जो जत्थ अपडिपुन्नो अत्थो अप्पागमेण बद्धो त्ति।
> तं खमिऊण बहुसुया पूरेऊण परिकहंतु ॥७२॥ सप्ततिका।
> बंधविहाणसमासो रइओ अप्पसुयमंदमइणा उ।
> तं बंधमोक्खणिउणा पूरेऊण परिकहेंति ॥१०५॥ शतक।

इनमें णिस्संद, अप्पागम, अप्पसुयमंदमइ, पूरेऊण परिकहंतु ये पद ध्यान देने योग्य हैं।

इन दोनों ग्रन्थोंका यह साम्य अनायास नहीं है। ऐसा साम्य उन्हीं ग्रन्थों में देखने को मिलता है जो या तो एक कर्तृक हों या एक दूसरेके आधारसे लिखे गये हों। बहुत सम्भव है कि शतक और सप्ततिका इनके कर्ता एक आचार्य हों।

शतककी चूर्णिमें शिवशर्म आचार्यको उसका कर्ता बतलाया है। ये वे ही शिवशर्म प्रतीत होते हैं जो कर्मप्रकृतिके कर्ता माने गये हैं।

(१) केण कयं ति, शब्दतर्कन्यायप्रकरणकर्मप्रकृतिसिद्धान्तविजाणएण अणेगवायसमालद्धविजएण सिवसम्मायरियणामधेज्जेण कयं। पृ० १

हिसावसे विचार करने पर कर्मप्रकृति, शतक और सप्ततिका ये
ों ग्रन्थ एक कर्तृक सिद्ध होते हैं।

किन्तु कर्मप्रकृति और सप्ततिकाका मिलान करने पर ये दोनों एक
ार्यकी कृति हैं यह प्रमाणित नहीं होता, क्योंकि इन दोनों ग्रन्थोंमें
द दो मतों का प्रतिपादन किया गया है। उदाहरणार्थ—सप्ततिकामें
ानुबन्धी चतुष्कको उपशम प्रकृति बतलाया गया है। किन्तु
्कृतिके उपशमना प्रकरणमें 'नतरकरण उवसमो वा' यह कहकर
ानुबन्धी चतुष्कको उपशमविधि और अन्तरकरण विधिका निषेध
गया है।

इस परसे निम्न तीन प्रश्न उत्पन्न होते हैं—

१—क्या शिवशर्म नामके दो आचार्य हुए हैं एक वे जिन्होंने
और सप्ततिकाकी रचना की है और दूसरे वे जिन्होंने कर्मप्रकृतिकी
की है?

—शिवशर्म आचार्यने कर्मप्रकृतिकी रचना की, क्या यह
ीमात्र है?

—शतक और सप्ततिकाकी कुछ गाथाओंमें समानता देखकर
क मानना कहाँ तक उचित है?

ह भी सम्भव है कि इनके संकलयिता एक ही आचार्य हों। किन्तु
संकलन विभिन्न दो आधारों से किया गया हो। जो कुछ भी हो।
उक्त आधारसे सप्ततिकाके कर्ता शिवशर्म ही हैं ऐसा निश्चित
विचारणीय है।

क मान्यता यह भी प्रचलित है कि सप्ततिकाके कर्ता चन्द्रर्षि
हैं। किन्तु इस मतकी पुष्टिमें कोई सबल प्रमाण नहीं पाया जाता।
ाकी मूल ताडपत्रीय प्रतियोंमें निम्नलिखित गाथा पाई जाती है—

'गाहग्गं सयरीए चंदमहत्तरमयाणुसारीए।
टीगाइ निअमिआण एगूणा होइ नउईओ॥'

निर्णय हो जाने पर दूसरेका निर्णय करनेमें बड़ी सहायता मिलती है। ऊपर हम ग्रन्थकर्ताके विषयमें निर्देश करते समय यह सभावना प्रकट कर आये हैं कि या तो शिवशर्मसूरिने इसकी रचना की है या इसके पहले ही यह लिखा गया था। साधारणत शिवशर्म सूरिका वास्तव्यकाल विक्रमकी पाँचवीं शताब्दि माना गया है। इस हिसाबसे विचार करनेपर इसका रचनाकाल, विक्रमकी पाँचवी शताब्दी या इससे पूर्ववर्तीकाल ठहरता है। श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने अपनी विशेषणवतीमें अनेक बार सित्तरीका उल्लेख किया है। श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणका काल विक्रमकी सातवीं शताब्दि निश्चित है, अत पूर्वोक्त कालको यदि आनुमानिक ही मान लिया जाय तब भी इतना तो निश्चित ही है कि विक्रमकी सातवीं शताब्दिके पहले इसकी रचना हो गई थी। इसकी पुष्टि दिगम्बर परम्परामें प्रचलित प्राकृत पचसंग्रहसे भी होती है। प्राकृत पचसग्रह का सकलन विक्रमकी सातवीं शताब्दिके आस-पास हो चुका था। इसमें सप्ततिका सकलित है अत इसकी रचना प्राकृत पंच-संग्रहके रचनाकालसे पहले हो गई थी यह निश्चित होता है।

टीकाएँ—यहाँ अब सप्ततिकाकी टीकाओंका सक्षेपमें परिचय करा देना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रथम कर्मग्रन्थके पृष्ठ १७५ पर श्वेताम्बरीय कर्म विषयक ग्रन्थोंकी एक सूची छपी है। उसमें सप्ततिकाकी अनेक टीका टिप्पनियोंका उल्लेख है। पाठकोंकी जानकारीके लिये आवश्यक सशोधनके साथ हम उसे यहाँ दे रहे हैं।

---

(१) सयरीए मोहबंधट्ठाणा पंचादओ कया पच। अनियट्टिणो छद्धत्ता पावादओदीरणा पगए ॥६०॥ आदि। विशेषणवती।

टीका नाम	परिमाण	कर्ता	रचनाकाल
अन्तर्भाष्य गा०	गा० १०	अज्ञात	अज्ञात
भाष्य	गाथा १९१	अभयदेव सूरि	वि ११ १२वीं श
चूर्णि	पत्र १३२	अज्ञात	अज्ञात
चूर्णि	श्लो० २३००	चन्द्रर्षि महत्तर	अनु० ७वीं श०
वृत्ति	, ३७८०	मलयगिरि सूरि	वि १२ १३वीं श
भाष्यवृत्ति	, ४१५०	मेरुतुंग सूरि	वि स १४४९
टिप्पन	, ५७४	रामदेव	वि १२ वी श
अवचूरि	देखो मध्य कम ग्रन्थकी अव०	गुणरत्न सूरि	वि १५वीं श

इनमेंसे १ अन्तर्भाष्य गाथा, २ चन्द्रर्षि महत्तरकी चूर्णि और ३ मलयगिरि सूरिकी वृत्ति इन तीनका परिचय कराया जाता है।

अन्तर्भाष्य गाथाएँ —सप्ततिकामें अन्तर्भाष्य गाथाएँ कुल दस हैं। ये विविध विषयोंका खुलासा करनेके लिये रची गई हैं। इनकी रचना किसने की इसका निश्चय करना कठिन है। सम्भव है प्रस्तुत सप्ततिकाके संकलयिताने ही इनकी रचना की हो। खास खास प्रकरण पर कषाय-प्राभृतमें भी भाष्यगाथाएँ पाई जाती हैं और उनके रचयिता स्वयं कषाय प्राभृतकार हैं। बहुत संभव है इसी पद्धतिका यहाँ भी अनुसरण किया गया

(१) इसका उल्लेख जैन ग्रन्थावलिमें मुद्रित बृहट्टिप्पनिकाके आधारसे दिया है।

(२) इसका परिमाण २३०० श्लोक अधिक ज्ञात होता है। यह मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोईसे प्रकाशित हो चुकी है।

हो। ये चन्द्रर्षि महत्तरकी चूर्णि और मलयगिरिकी टीका इन दोनोंमें सगृहीत हैं। मलयगिरिकी टीकामें इन्हें स्पष्टतः अन्तर्भाष्य गाथा कह कर संकलित किया गया है। चूर्णिमें प्रारम्भ की सात गाथाओंको तो अन्तर्भाष्य गाथा बतलाया है किन्तु अन्तकी तीन गाथाओंका निर्देश अन्तर्भाष्य गाथारूपसे नहीं किया है। चूर्णिमें इन पर टीका भी लिखी गई है।

चूर्णि—यह मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोईसे प्रकाशित हुई है। जैसा कि हम पहले निर्देश कर आये हैं इसके कर्ता चन्द्रर्षि महत्तर प्रतीत होते हैं। आचार्य मलयगिरिने इसका खूब उपयोग किया है। वे चूर्णिकारकी स्तुति करते हुए सप्ततिकाके ऊपर लिखी गई अपनी वृत्तिकी प्रशस्तिमें लिखते हैं—

'यैरेषा विषमार्था सप्ततिका सुस्फुटीकृता सम्यक्।
अनुपकृतपरोपकृतश्चूर्णिकृतस्तान् नमस्कुर्वे॥'

जिन्होंने इस विषम अर्थवाली सप्ततिकाको भले प्रकार स्फुट कर दिया है। निःस्वार्थ भावसे दूसरोंका उपकार करनेवाले उन चूर्णिकारको मैं (मलयगिरि) नमस्कार करता हूँ।

सचमुचमें यह चूर्णी ऐसी ही लिखी गई है। इसमें सप्ततिकाके प्रत्येक पदका बड़ी ही सुन्दरतासे खुलासा किया गया है। खुलासा करते समय अनेक ग्रन्थोंके उद्धरण भी दिये गये हैं। उद्धरण देते समय शतक सत्कर्म कषायप्राभृत और कर्मप्रकृतिसंग्रहणीका इसमें भरपूर

---

(१) 'एएसिं विवरणं जहा सयगे।' प० ४। 'एएसिं भेओ सरूवनिरूवणा जहा सयगे।' प० ५। इत्यादि। (२) 'सतकम्मे भणिय।' प० ७। 'आगो भणति—सुस्सर विगलिंदियाणं णत्थि, तण्ण, सतकम्मे उक्तत्वात्।' प० २२। इत्यादि। (३) जहा कसायपाहुडे कम्मपगडिसंगहणीए वा तहा वत्तव्वं।' प० ६२। (४) उव्वट्टणाविही जहा कम्मपगडीसंगहणीए उव्वट्टणासकमे तहा भाणियव्वं। प० ६१। 'विसेसपच्चो जहा कम्मपगडिसंगहणीए।' प० ६३। इत्यादि।

उपयोग किया गया है। जैसा कि पहले बतला आये हैं। इसमें ८९ गाथाओं पर टीका लिखी गई है। ७२ गाथाएँ ये हो हैं जिन पर मलयगिरि आचार्यने टीका लिखी है। १० अन्तर्भाष्य गाथाएँ हैं और सात अन्य गाथाएँ हैं। ये सात गाथाएँ हम पहले ग्रन्थकर्ताका निर्णय करते समय उद्धृत कर आये हैं। यद्यपि ग्रन्थके बाहरकी प्रकरणोपयोगी गाथाओंकी टीका करनेकी परिपाटी पुरानी है। धवला आदि टीकाओंमें ऐसी कई उपयोगी गाथाओंकी टीका दी गई है। पर वहाँ प्रकरण या अन्य प्रकारसे इसका ज्ञान करा दिया जाता है कि यह मूल गाथा नहीं है। किन्तु इस चूर्णिमें ऐसा समझनेका कोई आधार नहीं है। चूर्णिकार मूल गाथाका व्याख्यान करते समय गाथाके प्रारम्भका कुछ अंश उद्धृत करते हैं। यथा—

उवरयबंधे चउ पण नवंस० त्ति गाहा।

मलयगिरि आचार्यने जिन गाथाओंको मूलका नहीं माना है उनकी टीका करते समय भी चूर्णिकारने उसी पद्धतिका अनुसरण किया है। यथा—

सत्तट्ठ नव० गाहा। सत्तावीस सुहुमे० गाहा। अणियट्टिबायरे थीण० गाहा। एत्तो हणइ० गाहा। इत्यादि।

इससे यह निर्णय करनेमें बड़ी कठिनाई हो जाती है कि सप्ततिका-की मूल गाथाएँ कौन कौन हैं। मालूम होता है कि 'गाहग्ग सयरीए' यह गाथा इसी कारण रची गई है। इसमें सप्ततिकाका इतिहास सन्निहित है। वर्तमानमें आचार्य मलयगिरिकी टीका ही ऐसी है जिससे सप्ततिकाकी गाथाओंका परिमाण निश्चित करनेमें सहायता मिलती है। इसीसे हमने गाथा संख्याका निर्णय करते समय आचार्य मलयगिरि की टीका का प्रमुखतासे ध्यान रखा है।

वृत्ति—सप्ततिकाके ऊपर एक वृत्ति आचार्य मलयगिरिने भी लिखी है। वैदिक परम्परामें टीकाकारोंमें जो स्थान वाचस्पतिमिश्रका है। जैन

परम्परामें वही स्थान मलयगिरि सूरिका है। इन्होंने जिन ग्रन्थोंपर टीकाएँ लिखीं हैं उनकी तालिका बहुत बड़ी है। ऐसी एक तालिका आत्मानन्द जैन ग्रन्थमालासे प्रकाशित होनेवाले ८६वें रत्न की प्रस्तावना में छपी है। पाठकोंकी जानकारीके लिये उसे हम यहाँ दे रहे हैं।

नाम	श्लोकप्रमाण	
१ भगवती सूत्र द्वितीय शतकवृत्ति	३७५०	
२ राजप्रश्नीयोपाङ्गटीका	३७००	मुद्रित
३ जीवाभिगमोपाङ्गटीका	१६०००	,,
४ प्रज्ञापनोपाङ्गटीका	१६०००	,,
५ चन्द्रप्रज्ञप्त्युपाङ्गटीका	९५००	[illegible]
६ नन्दीसूत्रटीका	७७३२	,,
७ सूर्यप्रज्ञप्त्युपांगटीका	९५००	,,
८ व्यवहारसूत्रवृत्ति	३४०००	,,
९ बृहत्कल्पपीठिकावृत्ति अपूर्ण	४६००	,,
१० आवश्यकवृत्ति ,,	१८०००	,,
११ पिण्डनिर्युक्ति टीका	६७००	,,
१२ ज्योतिष्करण्ड टीका	५०००	,,
१३ धर्मसंग्रहणी वृत्ति	१००००	,,
१४ कर्मप्रकृति वृत्ति	८०००	,,
१५ पञ्चसंग्रहवृत्ति	१८८५०	,,
१६ षडशीतिवृत्ति	२०००	,,
१७ सप्ततिकावृत्ति	३७८०	,,
१८ बृहत्संग्रहणीवृत्ति	५०००	,,
१९ बृहत्क्षेत्रसमासवृत्ति	९५००	,,
२० मलयगिरिशब्दानुशासन	५००० (?)	

अलभ्य ग्रन्थ

१ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति टीका
२ ओघनिर्युक्ति टीका
३ विशेषावश्यक टीका
४ तत्त्वार्थाधिगम सूत्र टीका
५ धर्मसारप्रकरण टीका
६ देवेन्द्रनरकेन्द्रकप्रकरण टीका

मलयगिरि सूरिकी टीकाओंको देखनेसे मन पर यह छाप लगती है कि वे प्रत्येक विषय का बड़ी ही सरलताके साथ प्रतिपादन करते हैं। जहाँ भी वे नये विषयका संकेत करते हैं वहाँ उसकी पुष्टिमें प्रमाण अवश्य देते हैं। उदाहरणार्थ मूल सप्ततिकासे यह सिद्ध नहीं होता कि स्त्रीवेदी जीव मरकर सम्यग्दृष्टियोंमें उत्पन्न होता है। दिगम्बर परम्परा की यह निरपवाद मान्यता है। श्वेताम्बर मूल ग्रन्थोंमें भी यह मान्यता इसी प्रकार पाई जाती है। किन्तु श्वेताम्बर टीकाकारोंने इस मतको निरपवाद नहीं माना है। उनका कहना है कि इस प्रकार सप्ततिकामें बहुलताकी अपेक्षा निर्देश किया गया है। आचार्य मलयगिरिने भी अपनी वृत्तिमें इसी पद्धतिका अनुसरण किया है। किन्तु इसकी पुष्टिमें तत्काल उन्होंने चूर्णिका सहारा ले लिया है। इसमें सप्ततिका चूर्णिका उपयोग तो किया ही गया है, किन्तु इसके अलावा सिद्धहेम, तत्त्वार्थाधिगमकी सिद्धसेनीय टीका, शतकबृहच्चूर्णि, सत्कर्मग्रन्थ, पंचसंग्रहमूलटीका, कर्मप्रकृति, आवश्यकचूर्णि, विशेषावश्यकभाष्य, पंचसंग्रह और कर्मप्रकृतिचूर्णि इन ग्रन्थोंका भी भरपूर उपयोग किया गया है। इसके अलावा बहुतसे ग्रन्थोंके उल्लेख 'उक्तं च' कहकर दिये गये हैं। तात्पर्य यह है कि मूल विषयको स्पष्ट करनेके लिये यह वृत्ति खूब सजाई गई है। आचार्य मलयगिरि आचार्य हेमचन्द्र और महाराज कुमारपालदेवके समकालीन माने जाते हैं। इनकी टीकाओंके कारण श्वेताम्बर जैन वाङ्मयके प्रसार करने में बड़ी सहायता मिली है। हमें यह प्रकाशित करते हुए प्रसन्नता होती है कि सप्ततिकाका प्रस्तुत अनुवाद आचार्य मलयगिरिकी इसी वृत्तिके आधारसे लिखा गया है।

३—अन्य सप्ततिकाएँ

पंचसंग्रहकी सप्ततिका—प्रस्तुत सप्ततिकाके सिवा एक सप्ततिका आचार्य चन्द्रर्षि महत्तर कृत पंचसंग्रहमें ग्रथित है। पंचसंग्रह एक संग्रह ग्रन्थ है। यह पाँच प्रकरणों में विभक्त है। इसके अन्तिम प्रकरणका नाम सप्ततिका है।

एक तो पंचसंग्रहके सप्ततिकाकी अधिकतर मूल गाथाएँ प्रस्तुत सप्ततिकासे मिलती-जुलती हैं, दूसरे पंचसंग्रह की रचना प्रस्तुत सप्ततिकाके बहुत काल बाद हुई है और तीसरे इसका नाम सप्ततिका होते हुए भी इसमें १५६ गाथाएँ हैं इससे ज्ञात होता है कि पंचसंग्रहकी सप्ततिकाका आधार प्रकृत सप्ततिका ही रहा है।

दिगम्बर परम्परामें प्रचलित सप्ततिका—एक अन्य सप्ततिका दिगम्बर परम्परामें प्रचलित है। यद्यपि अबतक इसकी स्वतन्त्र प्रति देखनेमें नहीं आई है तथापि प्राकृत पंचसंग्रहमें इसके अंगरूपसे यह पाई जाती है।

प्राकृत पंचसंग्रह एक संग्रह ग्रन्थ है। इसमें जीवसमास, प्रकृति-समुत्कीर्तन, बन्धोदयसत्त्वयुक्त पद, शतक और सप्ततिका इन पाँच ग्रन्थोंका संग्रह किया गया है। इनमेंसे अन्तके दो प्रकरणों पर भाष्य भी हैं। आचार्य अमितिगतिका पंचसंग्रह इसीके आधारसे लिखा गया है।

---

(१) पंचसंग्रहकी एक प्रति हमें हमारे मित्र पं० हीरालालजी शास्त्रीने भेजी थी जिसके आधारसे यह परिचय लिखा गया है। पंडितजीके इस कार्यके लिये हम उनका सम्पादकीय वक्तव्यमें आभार मानना भूल गये हैं, इसलिये यहाँ उनका विशेष रूपसे स्मरण कर लेना हम अपना कर्तव्य समझते हैं। शतक और सप्ततिकाकी चूर्णि भी उन्हींसे प्राप्त हुई थीं। उनका प्रस्तावनामें बड़ा उपयोग हुआ है।

अमितिगतिका पंचसंग्रह संस्कृतमें होनेके कारण इसे प्राकृत पंचसंग्रह कहते हैं। यह गद्य-पद्य उभयरूप है। इसमें गाथाएँ १३०० से अधिक हैं।

इसके अन्तके दो प्रकरण शतक और सप्ततिका कुछ पाठभेदके साथ श्वेताम्बर परम्परामें प्रचलित शतक और सप्ततिकासे मिलते जुलते हैं। तत्त्वार्थसूत्रके बाद ये ही दो ग्रन्थ ऐसे मिले हैं जिन्हें दोनों परम्पराओंने स्वीकार किया है। दिगम्बर परम्परामें प्रचलित इन दोनों ग्रन्थोंका स्वयं पंचसंग्रहकारने संग्रह किया है या पंचसंग्रहकारने इन पर केवल भाष्य लिखा है इसका निर्णय करना कठिन है। इसके लिये अधिक अनुसन्धानकी आवश्यकता है।

दोनों सप्ततिकाओंमें पाठभेद और उसका कारण—प्रस्तुत सप्ततिकामें ७२ और दिगम्बर परम्पराकी सप्ततिकामें ७१ गाथाएँ हैं। जिनमेंसे ४० से अधिक गाथाएँ एकसी हैं। १४–१५ गाथाओंमें कुछ पाठभेद है। शेष गाथाएँ जुदी जुदी हैं। इसके कारण दो हैं, मान्यता भेद और वर्णन करने की शैली में भेद।

मान्यता भेदके हमें चार उदाहरण मिले हैं। यथा—

१—प्रस्तुत सप्ततिकामें निद्राद्विकका उदय क्षपकश्रेणिमें नहीं होता इस मतको प्रधानता देकर भंग बतलाये गये हैं किन्तु दिगम्बर परम्पराकी सप्ततिकामें क्षपकश्रेणिमें निद्राद्विकका उदय होता है इस मतको प्रधानता देकर भंग बतलाये गये हैं।

२—प्रस्तुत सप्ततिकामें मोहनीयके उदयविकल्प और पदवृन्द दो प्रकारसे बतलाये गये हैं किन्तु दिगम्बर परम्पराकी सप्ततिकामें वे एक प्रकारके ही बतलाये गये हैं।

३—प्रस्तुत सप्ततिकामें नामकर्मके १२ उदयस्थान बतलाये गये हैं। कर्मकाण्डमें भी ये ही १२ उदयस्थान निबद्ध किये गये हैं। किन्तु दिगम्बर परम्पराकी सप्ततिकामें २० प्रकृतिक उदयस्थान छोड़ दिया गया है।

४—प्रस्तुत सप्ततिकामें आहारक शरीर व आहारक आंगोपांग और वैक्रिय शरीर व वैक्रिय आंगोपांग इन दो युगलोंकी उद्वलना होते समय इनके बन्धन और संघातकी उद्वलना नियमसे होती है इस सिद्धान्तको स्वीकार करके नामकर्मके सत्वस्थान बतलाये गये हैं। गोम्मटसार कर्मकाण्डके सत्वस्थान प्रकरणमें इसी सिद्धान्तको स्वीकार किया गया है किन्तु दिगम्बर परम्पराकी सप्ततिकामें उद्वलना प्रकृतियोंमें आहारक व वैक्रिय शरीरके बन्धन और संघात सम्मिलित नहीं करके नामकर्मके सत्वस्थान बतलाये गये हैं। गोम्मटसार कर्मकाण्डके त्रिभंगी प्रकरणमें इसी सिद्धान्तको स्वीकार किया गया है।

मान्यता भेदके ये चार ऐसे उदाहरण हैं जिनके कारण दोनों सप्ततिकाओंकी अनेक गाथाएँ जुदी जुदी हो गई हैं और अनेक गथाओंमें पाठभेद भी हो गया है। फिर भी ये मान्यताभेद सम्प्रदायभेद पर आधारित नहीं हैं।

इसी प्रकार कहीं कहीं वर्णन करनेकी शैलीमें भेद होनेसे गाथाओंमें फरक पड़ गया है। यह अन्तर उपशमना प्रकरण और क्षपणाप्रकरणमें देखनेको मिलता है। प्रस्तुत सप्ततिकामें उपशमना और क्षपणाकी खास-खास प्रकृतियोंका ही निर्देश किया गया है। किन्तु दिगम्बर परम्पराकी सप्ततिकामें क्रमानुसार उपशमना और क्षपणा सम्बन्धी सब प्रकृतियोंकी संख्याका निर्देश करने की व्यवस्था की गई है।

इस प्रकार यद्यपि इन दोनों सप्ततिकाओंमें भेद पड़ जाता है तो भी ये दोनों एक उद्गमस्थानसे निकलकर और बीच बीच में दो धाराओं में विभक्त होती हुई अन्त में एकरूप हो जाती हैं।

दिगम्बर परम्पराकी सप्ततिकाकी प्राचीनता—पहले हम अनेक बार प्राकृत पंचसंग्रहका उल्लेख कर आये हैं। इसका सामान्य परिचय भी दे आये हैं। कुछ ही समय हुआ जब यह ग्रन्थ प्रकाशमें आया है। अमितिगतिका पंचसंग्रह इसीके आधारसे

लिखा गया है। अमितिगतिने इसे विक्रम संम्वत् १०७३ में पूरा किया था। इसमें वही क्रम स्वीकार किया गया है जो प्राकृत पंचसंग्रहमें पाया जाता है। केवल नामकर्मके उदयस्थानोंका विवेचन करते समय प्राकृत पंचसंग्रहके क्रमको छोड़ दिया गया है। प्राकृत पंचसंग्रहमें नाम कर्मका २० प्रकृतिक उदयस्थान नहीं बतलाया है। प्रतिज्ञा करते समय इसमें भी २० प्रकृतिक उदयस्थानका निर्देश नहीं किया है। किन्तु उदयस्थानोंका व्याख्यान करते समय इसे स्वीकार कर लिया है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड और कर्मकाण्डमें भी पंचसंग्रहका पर्याप्त उपयोग किया गया है। कर्मकाण्डमें ऐसे दो मतोंका उल्लेख मिलता है जो स्पष्टतः प्राकृत पंचसंग्रहकी सप्ततिकासे लिये गये जान पड़ते हैं। एक मत अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी उपशमनावाला है और दूसरे मतका सम्बन्ध कर्मकाण्डमें बतलाये गये नामकर्मके सत्त्वस्थानोंसे है। दिगम्बर परम्परामें ये दोनों मत प्राकृत पंचसंग्रहकी सप्ततिकाके सिवा अन्यत्र देखनेमें नहीं आये।

यद्यपि कर्मकाण्डमें अनन्तानुबन्धी चतुष्कका उपशम होता है इस बातका विधान नहीं किया है तथापि वहाँ उपशम श्रेणिमें मोहनीयकी २८ प्रकृतियोंकी भी सत्ता बतलाई है। इससे सिद्ध होता है कि नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती अनन्तानुबन्धीके उपशमवाले मतसे भलीभाँति परिचित थे।

दूसरे मतका विधान करते हुए गोम्मटसारके त्रिभंगी प्रकरणमें निम्नलिखित गाथा आई है —

---

(१) 'त्रिसप्तत्यधिकेऽब्दानां सहस्रे शकविद्विषः। मसूतिकापुरे जातमिदं शास्त्रं मनोरमम्॥' अ० पंचसं० प्र०। (२) देखो अ० पंचसं० पृ० १६८। (३) देखो अ० पंचसं० पृ० १७६। (४) देखो गो० कर्म० गा० ५११।

तिदुइगिणउदी णउदी अडचउदोअहियसीदि सीदी य।
ऊणासं दृत्तरि सत्तत्तरि दस य णव सत्ता ॥ ६०६ ॥

यह गाथा प्राकृत पंचसंग्रहकी सप्ततिकासे ली गई है। वहाँ इसका रूप इस प्रकार है—

तिदुइगिणउदिं णउदिं अडचउदुगहियमसीदिमसीदिं च।
उणसीदि अट्ठत्तरि सत्तत्तरि दस य णव सता ॥ २३ ॥

इन गाथाओंमें नामकर्मके सत्त्वस्थान बतलाये गये हैं। इन सत्त्व-स्थानोंका निर्देश करते समय चालू कार्मिक परम्पराके विरुद्ध एक विशेष सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। चालू कार्मिक परम्परा यह है कि बन्ध और संक्रम प्रकृतियोंमें पाँच बन्धन और पाँच संघात पाँच शरीरोंसे जुदे न गिनाये जाकर भी सत्त्वमें जुदे गिनाये जाते हैं। किन्तु यहाँ इस क्रमको छोड़कर ये सत्त्वस्थान बतलाये गये हैं।

प्राचीन ग्रन्थोंमें यह मत प्राकृत पंचसंग्रहकी सप्ततिकाके सिवा अन्यत्र देखनेमें नहीं आया। मालूम होता है कि नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने प्राकृत पंचसंग्रहके आधारसे ही कर्मकाण्डमें इस मत का संग्रह किया है। ये प्रमाण ऐसे हैं जिनसे हम यह जान लेते हैं कि प्राकृत पंचसंग्रहकी रचना गोम्मटसार और अमितिगतिके पंचसंग्रहके पहले हो चुकी थी। किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं जिनसे यह भी ज्ञात होता है कि इसकी रचना धवला टीका और श्वेताम्बर परम्परामें प्रचलित शतककी चूर्णिकी रचना होनेके भी पहले हो चुकी थी।

धवला चौथी पुस्तकके पृष्ठ ३१५ में वीरसेन स्वामीने 'जीवसमासए वि उत्तं' कह कर 'छप्पंचणवविहाणं' गाथा उद्धृत की गई है। यह गाथा प्राकृत पंचसंग्रहके जीवसमास प्रकरणमें १५६ नम्बर पर दर्ज है। इससे ज्ञात होता है कि प्राकृत पंचसंग्रहका वर्तमानरूप धवलाके निर्माणकाल के पहले निश्चित हो गया था।

ऐसा ही एक प्रमाण शतक की चूर्णिमें भी मिलता है जिससे ज्ञात पडता है कि शतक की चूर्णि लिखे जानेके पहले प्राकृत पंचसंग्रह लिखा जा चुका था।

शतक की ९३ वें गाथा की चूर्णिमें दो बार पाठान्तर का उल्लेख किया है। ये पाठान्तर प्राकृत पंचसंग्रहमें निबद्ध दिगम्बर परम्पराके शतकसे लेकर उद्धृत किये गये ज्ञात पडते हैं।

शतककी ९३ वीं गाथा इस प्रकार है—

'आउक्कस्स पएसस्स पंच मोहस्स सत्त ठाणाणि।
सेसाणि तणुकसाओ बंधइ उक्कोसगे जोगे ॥९३॥'

प्राकृत पंचसंग्रहके शतकमें यह गाथा इस प्रकार पाई जाती है—

'आउस्स्स पदेसस्स छच्च मोहस्स पच दु ठाणाणि।
सेसाणि तणुकसाओ बंधइ उक्कस्सजोगेण ॥'

इन गाथाओंको देखनेसे दोनोंका मतभेद स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। शतककी चूर्णिमें इसी मतभेद की चर्चा की गई है। वहाँ इस मतभेदका इस प्रकार निर्देश किया है—

"अन्ने पढंति आउक्कोसस्स छ त्ति। अन्ने पढंति मोहस्स पंच व ठाणाणि।"

शतक की चूर्णि कब लिखी गई इसके निर्णयका अब तक कोई निश्चित आधार नहीं मिला है। मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोई से प्रकाशित होने वाली चूर्णिसहित सित्तरी की प्रस्तावनामें पं० अमृतलालजीने एक प्रमाण अवश्य उपस्थित किया है। यह प्रमाण खंभातमें स्थित श्री शान्तिनाथजी की ताडपत्रीय भंडारकी एक प्रतिसे लिया गया है। इसमें शतककी चूर्णिका कर्ता श्रीचन्द्र महत्तर श्वेताम्बराचार्यको बतलाया

(१) कृतिराचार्य श्रीचंद्रमहत्तरशितांबरस्य शतकस्य। प्रशस्तम्
दि ६ शनौ लिखितेति ॥ ६ ॥

है। ये चन्द्र महत्तर कौन हैं, इसका निर्णय करना तो कठिन है। कदाचित् ये पंचसंग्रहके कर्ता चन्द्रर्षि महत्तर हो सकते हैं। यदि पंचसंग्रह और शतककी चूर्णिके कर्ता एक ही व्यक्ति हैं तो यह अनुमान किया जा सकता है कि दिगम्बर परम्पराके पंचसंग्रहका संकलन चन्द्रर्षिमहत्तरके पंचसंग्रहके पहले हो गया था।

इस प्रकार प्राकृत पंचसंग्रह की प्राचीनता के अवगत हो जाने पर इसमें निबद्ध सप्ततिकाकी प्राचीनता तो सुतरां सिद्ध हो जाती है।

प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थमें पं० हीरालाल जी सिद्धान्त शास्त्री का 'प्राकृत और संस्कृत पंचसंग्रह तथा उनका आधार' शीर्षक एक लेख छपा है। उसमें उन्होंने प्राकृत पंचसंग्रह की सप्ततिकाका आधार प्रस्तुत सप्ततिकाको बतलाया है। किन्तु जबतक इसकी पुष्टि में कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता तब तक ऐसा निष्कर्ष निकालना कठिन है। अभी तो केवल इतना ही कहा जा सकता है कि किसी एक को देखकर दूसरी सप्ततिका लिखी गई है।

४—विषय परिचय

सप्ततिकाका विषय संक्षेप में उसकी प्रथम गाथामें दिया है। इसमें आठों मूल कर्मों व अवान्तर भेदों के बन्धस्थान, उदयस्थान और सत्वस्थानोंका स्वतन्त्र रूपसे व जीवसमास और गुणस्थानोंके आश्रयसे विवेचन करके अन्तमें उपशम विधि और क्षपणा विधि बतलाई गई है। कर्मोंकी यथासम्भव दस अवस्थाएँ होती हैं। उनमेंसे तीन मुख्य हैं—बन्ध, उदय और सत्व। शेष अवस्थाओंका इन तीनमें अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिये यदि यह कहा जाय कि कर्मोंकी विविध अवस्थाओं और उनके भेदोंका इसमें सांगोपांग विवेचन किया गया है तो कोई अत्युक्ति न होगी। सचमुचमें ग्रन्थका जितना परिमाण है उसे देखते हुए वर्णन करनेकी शैलीकी प्रशंसा करनी ही पड़ती है। सागर का जल गागरमें

भर दिया गया है। इतने लघुकाय ग्रन्थमें इतने विशाल और गहन विषयका विवेचन कर देना हर किसीका काम नहीं है। इससे ग्रन्थकर्ता और ग्रन्थ दोनोंकी ही महानता सिद्ध होती है। इसकी प्रथम और दूसरी गाथामें विषयकी सूचना की गई है। तीसरी गाथामें आठ मूल कर्मोंके संवेध भंग बतलाकर चौथी और पाँचवीं गाथामें क्रमसे उनका जीवसमास और गुणस्थानोंमें विवेचन किया गया है। छठी गाथामें ज्ञानावरण और अन्तराय कर्मके अवान्तर भेदोंके संवेध भंग बतलाये हैं। सातवींसे लेकर नौवींके पूर्वार्धतक ढाई गाथामें दर्शनावरणके उत्तर भेदोंके संवेध भंग बतलाये हैं। नौवीं गाथाके उत्तरार्धमें वेदनीय, आयु और गोत्र कर्मके संवेध भंगोंके कहनेकी सूचना मात्र करके मोहनीयके कहनेकी प्रतिज्ञा की गई है। दसवींसे लेकर तेईसवीं गाथातक १४ गाथाओं द्वारा मोहनीयके और २४वीं गाथासे लेकर ३२वीं गाथातक ९ गाथाओं द्वारा नामकर्मके बन्धादि स्थानों व संवेध भंगोंका विचार किया गया है। आगे ३३वीं गाथासे लेकर ५२वीं गाथातक २० गाथाओं द्वारा अवान्तर प्रकृतियोंके उक्त संवेध भंगोंको जीवसमासों और गुण स्थानोंमें घटित करके बतलाया गया है। ५३वीं गाथामें गति आदि मार्गणाओंके साथ सत् आदि आठ अनुयोग द्वारोंमें उन्हें घटित करनेकी सूचना की है। इसके आगे प्रकरण बदल जाता है। ५४वीं गाथामें उदयसे उदीरणाके स्वामीमें कितनी विशेषता है इसका निर्देश करके ५५वीं गाथामें वे ४१ प्रकृतियाँ बतलाई हैं जिनमें विशेषता है। ५६वीं से लेकर ५९वीं तक ४ गाथाओं द्वारा किस गुणस्थानमें कितनी प्रकृतियोंका बन्ध होता है यह बतलाया गया है। ६०वीं प्रतिज्ञा गाथा है। इसमें गति आदि मार्गणाओंमें बन्धस्वामित्वके जान लेनेकी प्रतिज्ञा की गई है। ६१वीं गाथामें यह बतलाया है कि तीर्थंकर प्रकृति, देवायु और नरकायु इनका सत्त्व तीन तीन गतियोंमें ही होता है। किन्तु इनके सिवा शेष प्रकृतियोंका सत्त्व सब गतियोंमें पाया जाता है। ६२वीं और ६३वीं

गाथा द्वारा चार अनन्तानुबन्धी और तीन दर्शन मोहनीय इनके उपशमना और क्षपणाके स्वामीका निर्देश करके ६४वीं गाथा द्वारा क्रोधादि चार की क्षपणाके विशेष नियमकी सूचना की गई है। अयोगीके द्विचरम समयमें किन प्रकृतियोंका क्षय होता है यह ६५वीं गाथामें बतलाया गया है। अयोगी जिन कितनी प्रकृतियोंका वेदन करते हैं यह ६६वीं गाथामें बतलाया गया है। ६७वीं गाथामें नामकर्मकी वे ९ प्रकृतियाँ गिनाई हैं जिनका उदय अयोगीके होता है। अयोगीके अन्तिम समयमें कितनी प्रकृतियोंका उदय होता है यह ६८वीं गाथा बतलाती है। ६९वीं गाथामें अयोगीके अन्तिम समयमें जिन प्रकृतियोंका क्षय होता है उनका निर्देश किया है। आगे ७०वीं गाथामें सिद्धों के सिद्ध सुखका निर्देश करके उपसंहार स्वरूप ७१वीं गाथा आई है। और ७२वीं गाथामें लघुता प्रकट करके ग्रन्थ समाप्त किया गया है। यह ग्रन्थका संक्षिप्त परिचय है। अब आगे प्रकृतोपयोगी समझ कर कर्म तत्त्वका संक्षेपमें विचार करते हैं।

५ कर्म-मीमांसा

कर्मके विषयमें तुलनात्मक ढंगसे या स्वतन्त्र भावसे अनेक लेखकोंने बहुत कुछ लिखा है। तथापि जैन दर्शनने कर्मको जिस रूपमें स्वीकार किया है वह दृष्टिकोण सर्वथा लुप्त होता जा रहा है। जैन कर्मवादमें ईश्वरवादकी छाया आती जा रही है। यह भूल वर्तमान लेखक ही कर रहे हैं ऐसी बात नहीं है पिछले लेखकोंसे भी ऐसी भूल हुई है। इसी दोषका परिमार्जन करनेके लिये स्वतन्त्र भावसे इस विषय पर लिखना जरूरी समझकर यहाँ संक्षेपमें इस विषयकी मीमांसा की जा रही है।

छह द्रव्योंका स्वरूप निर्देश—भारतीय सब आस्तिक दर्शनोंने जीवके अस्तित्वको स्वीकार किया है जैनदर्शनमें इसकी चर्चा विशेष रूपसे की गई है। समय प्राभृतमें जीवके स्वरूपका निर्देश करते हुए

इसे[1] रस रहित, गन्धरहित, रूपरहित, स्पर्शरहित, अव्यक्त और चेतना गुणवाला बतलाया है। यद्यपि तत्त्वार्थ सूत्रमें जीवको उपयोग लक्षणवाला[2] लिखा है पर इससे उक्त कथनका ही समर्थन होता है। ज्ञान और दर्शन ये चेतनाके भेद हैं। उपयोग शब्दसे इन्हींका बोध होता है।

ज्ञान और दर्शन यह जीवका निज स्वरूप है जो सदा काल अवस्थित रहता है। जीवमात्रमें यह सदा पाया जाता है। इसका कभी भी अभाव नहीं होता। जो तिर्यंच योनिमें भी निकृष्टतम योनिमें विद्यमान हैं उसके भी यह पाया जाता है और जो परम उपास्य देवत्वको प्राप्त है उसके भी यह पाया जाता है। यह सबके पाया जाता है। ऐसा कोई भी जीव नहीं है जिसके यह नहीं पाया जाता है।

जीवके सिवा ऐसे बहुतसे पदार्थ हैं जिनमें ज्ञान दर्शन नहीं पाया जाता। वैज्ञानिकोंने ऐसे जड़ पदार्थोंकी संख्या कितनी ही क्यों न बतलाई हो पर जैनदर्शनमें वर्गीकरण करके ऐसे पदार्थ पांच बतलाये गये हैं जो ज्ञानदर्शनसे रहित हैं। वैज्ञानिकोंके द्वारा बतलाये गये सब जड़ तत्त्वोंका समावेश इन पाँच तत्त्वोंमें हो जाता है। वे पाँच तत्त्व ये हैं—पुद्गल, धर्म अधर्म, आकाश और काल। इनमें जीव तत्त्वके मिला देने पर कुल छह तत्त्व होते हैं। जैन दर्शन इन्हें द्रव्य शब्दसे पुकारता है।

जीव द्रव्यका स्वरूप पहले बतलाया ही है। शेष द्रव्योंका स्वरूप निम्न प्रकार है—

जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और रूप पाया जाता है उसे पुद्गल[3] कहते हैं। जैन दर्शनमें स्पर्शादिककी मूर्त संज्ञा है इसलिये यह मूर्त

(१) 'अरसमरूवमगंधं अव्वत्त चेदणागुणमसद्दं। जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।'—समयप्राभृत गाथा ४९।

(२) 'उपयोगो लक्षणम्।'

(३) 'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः।'—त० सू० ५-२३।

माना गया है। किन्तु शेष द्रव्योंमें ये स्पर्शादिक नहीं पाये जाते इसलिये वे अमूर्त हैं। जो गमन करते हुए जीव और पुद्गलोंके गमन करनेमें सहायता प्रदान करता है उसे धर्म द्रव्य कहते हैं। अधर्म द्रव्यका स्वरूप इससे उल्टा है। यह ठहरे हुए जीव और पुद्गलोंके ठहरनेमें सहायता प्रदान करता है। इन दोनों द्रव्योंके स्वरूपका स्पष्टीकरण करनेके लिये जल और छायाका दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे मछलीके गमन करनेमें जल और पथिकके ठहरनेमें छाया सहायता प्रदान करते हैं ठीक यही स्वभाव क्रमसे धर्म और अधर्म द्रव्यका है। जो वस्तुकी पुरानी अवस्थाके व्यय और नूतन अवस्थाके उत्पादमें सहायता प्रदान करता है उसे काल द्रव्य कहते हैं। और प्रत्येक पदार्थके ठहरनेके लिये जो अवकाश प्रदान करता है उसे आकाश द्रव्य कहते हैं।

इनमेंसे धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य सदा अविकारी माने गये हैं। निमित्तवश इनके स्वभावमें कभी भी विपरिणाम नहीं होता। किन्तु जीव और पुद्गल ये ऐसे द्रव्य हैं जो अविकारी और विकारी दोनों प्रकारके होते हैं। जब ये अन्य द्रव्यसे संश्लिष्ट रहते हैं तब विकारी होते हैं और इसके अभावमें अविकारी होते हैं। इस हिसाबसे जीव और पुद्गलके दो-दो भेद हो जाते हैं। संसारी और मुक्त ये जीवके दो भेद हैं। तथा अणु और स्कन्ध ये पुद्गलके दो भेद हैं। जीव मुक्त अवस्थामें अविकारी हैं और संसारी अवस्थामें विकारी। पुद्गल अणु अवस्थामें अविकारी है और स्कन्ध अवस्थामें विकारी। तात्पर्य यह है कि जीव और पुद्गल जब तक अन्य द्रव्यसे संश्लिष्ट रहते हैं तब तक उस संश्लेशके कारण उनके स्वभावमें विपरिणत्ति हुआ करती है इसलिये वे उस समय विकारी रहते हैं और संश्लेशके हटते ही वे अविकारी हो जाते हैं।

(१) द्रव्य० गा० १८। (२) द्रव्य० गा० १६। (३) द्रव्य० गा० २०
(४) द्रव्य० गा० २२।

बन्धकी योग्यता—इन दोनोंका अन्य द्रव्यसे संश्लिष्ट होना इनकी योग्यता पर निर्भर है। यह योग्यता जीव और पुद्गलमें ही पाई जाती है अन्य में नहीं। ऐसी योग्यताका निर्देश करते हुए जीवमें उसे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूप तथा पुद्गलमें उसे स्निग्ध और रूक्ष गुणरूप बतलाया है। जीव मिथ्यात्व आदिके निमित्तसे अन्य द्रव्यसे बन्धको प्राप्त होता है और पुद्गल स्निग्ध और रूक्ष गुणके निमित्तसे अन्य द्रव्यसे बन्धको प्राप्त होता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

जीवमें मिथ्यात्वादि रूप योग्यता संश्लेषपूर्वक ही होती है इसलिये इसे अनादि माना है। किन्तु पुद्गलमें स्निग्ध या रूक्षगुणरूप योग्यता संश्लेषके बिना भी पाई जाती है इसलिये वह अनादि और सादि दोनों प्रकारकी मानी गई है।

इससे जीव और पुद्गल केवल इन दोनोंका बन्ध सिद्ध होता है। क्योंकि संश्लेष बन्धका पर्यायवाची है। किन्तु प्रकृतमें जीवका बन्ध विवक्षित है इसलिये आगे उसीकी चर्चा करते हैं—

जीवबन्धविचार—यों तो जीवकी बद्ध और मुक्त अवस्था सभी आस्तिक दर्शनोंने स्वीकार की है। बहुतसे दर्शनोंका प्रयोजन ही निःश्रेयस प्राप्ति है। किन्तु जैन दर्शनने बन्ध मोक्षकी जितनी अधिक चर्चा की है उतनी अन्यत्र देखनेको नहीं मिलती। जैन आगमका बहुभाग इसकी चर्चासे भरा पड़ा है। वहाँ जीव क्यों और कबसे बँधा है, बद्ध जीवकी कैसी अवस्था होती है। बँधनेवाला दूसरा पदार्थ क्या है जिसके साथ जीवका बन्ध होता है, बन्धसे इस जीवका छुटकारा कैसे होता है, बन्धके कितने भेद हैं, बँधनेके बाद उस दूसरे पदार्थका जीवके साथ कब तक सम्बन्ध बना रहता है, बँधनेवाले दूसरे पदार्थके सम्पर्कमें जीवकी विविध अवस्थाएँ कैसे होती हैं बँधनेवाला दूसरा

(१) त० सू० ८-१। (२) स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः।—त० सू० ५-३३।

माना गया है। किन्तु शेष द्रव्योंमें ये स्पर्शादिक नहीं पाये जाते इसलिये वे अमूर्त हैं। जो गमन करते हुए जीव और पुद्गलोंके गमन करनेमें सहायता प्रदान करता है उसे धर्म द्रव्य कहते हैं। अधर्म द्रव्यका स्वरूप इससे उल्टा है। यह ठहरे हुए जीव और पुद्गलोंके ठहरनेमें सहायता प्रदान करता है। इन दोनों द्रव्योंके स्वरूपका स्पष्टीकरण करनेके लिये जल और छायाका दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे मछलीके गमन करनेमें जल और पथिकके ठहरनेमें छाया सहायता प्रदान करते हैं ठीक यही स्वभाव क्रमसे धर्म और अधर्म द्रव्यका है। जो वस्तुकी पुरानी अवस्थाके व्यय और नूतन अवस्थाके उत्पादमें सहायता प्रदान करता है उसे काल द्रव्य कहते हैं। और प्रत्येक पदार्थके ठहरनेके लिये जो अवकाश प्रदान करता है उसे आकाश द्रव्य कहते हैं।

इनमेंसे धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य सदा अविकारी माने गये हैं। निमित्तवश इनके स्वभावमें कभी भी विपरिणाम नहीं होता। किन्तु जीव और पुद्गल ये ऐसे द्रव्य हैं जो अविकारी और विकारी दोनों प्रकारके होते हैं। जब ये अन्य द्रव्यसे संश्लिष्ट रहते हैं तब विकारी होते हैं और इसके अभावमें अविकारी होते हैं। इस हिसाबसे जीव और पुद्गलके दो-दो भेद हो जाते हैं। संसारी और मुक्त ये जीवके दो भेद हैं। तथा अणु और स्कन्ध ये पुद्गलके दो भेद हैं। जीव मुक्त अवस्थामें अविकारी हैं और संसारी अवस्थामें विकारी। पुद्गल अणु अवस्थामें अविकारी हैं और स्कन्ध अवस्थामें विकारी। तात्पर्य यह है कि जीव और पुद्गल जब तक अन्य द्रव्यसे संश्लिष्ट रहते हैं तब तक उस संश्लेषके कारण उनके स्वभावमें विपरिणति हुआ करती है इसलिये वे उस समय विकारी रहते हैं और संश्लेषके हटते ही ये अविकारी हो जाते हैं।

(१) द्रव्य० गा० १८। (२) द्रव्य० गा० १६। (३) द्रव्य० गा० २०
(४) द्रव्य० गा० २२।

बन्धकी योग्यता—इन दोनोंका अन्य द्रव्यसे संश्लिष्ट होना इनकी योग्यता पर निर्भर है। यह योग्यता जीव और पुद्गलमें ही पाई जाती है अन्य में नहीं। ऐसी योग्यताका निर्देश करते हुए जीवमें उसे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूप तथा पुद्गलमें उसे स्निग्ध और रूक्ष गुणरूप बतलाया है। जीव मिथ्यात्व आदिके निमित्तसे अन्य द्रव्यसे बन्धको प्राप्त होता है और पुद्गल स्निग्ध और रूक्ष गुणके निमित्तसे अन्य द्रव्यसे बन्धको प्राप्त होता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

जीवमें मिथ्यात्वादि रूप योग्यता संश्लेषपूर्वक ही होती है इसलिये उसे अनादि माना है। किन्तु पुद्गलमें स्निग्ध या रूक्षगुणरूप योग्यता संश्लेषके बिना भी पाई जाती है इसलिये वह अनादि और सादि दोनों प्रकारकी मानी गई है।

इससे जीव और पुद्गल केवल इन दोनोंका बन्ध सिद्ध होता है। क्योंकि संश्लेष बन्धका पर्यायवाची है। किन्तु प्रकृतमें जीवका बन्ध विवक्षित है इसलिये आगे उसीकी चर्चा करते हैं—

जीवबन्धविचार—यों तो जीवकी बद्ध और मुक्त अवस्था सभी आस्तिक दर्शनोंने स्वीकार की है। बहुतसे दर्शनोंका प्रयोजन ही निःश्रेयस प्राप्ति है। किन्तु जैन दर्शनने बन्ध मोक्षकी जितनी अधिक चर्चा की है उतनी अन्यत्र देखनेको नहीं मिलती। जैन आगमका बहुभाग इसकी चर्चासे भरा पड़ा है। वहाँ जीव क्यों और कबसे बँधा है, बद्ध जीवकी कैसी अवस्था होती है। बँधनेवाला दूसरा पदार्थ क्या है जिसके साथ जीवका बन्ध होता है, बन्धसे इस जीवका छुटकारा कैसे होता है, बन्धके कितने भेद हैं, बँधनेके बाद उस दूसरे पदार्थका जीवके साथ कब तक सम्बन्ध बना रहता है, बँधनेवाले दूसरे पदार्थके सम्पर्कसे जीवकी विविध अवस्थाएँ कैसे होती हैं बँधनेवाला दूसरा

(१) त० सू० ८-१। (२) स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः।—त० सू० ५-३३।

पदार्थ क्या जिस रूपमें बँधता है उसी रूपमें बना रहता है या,परिस्थितिवश उसमें न्यूनाधिक परिवर्तन भी होता है आदि सभी प्रश्नोंका विस्तृत समाधान किया गया है। आगे हम उक्त प्रश्नों के आधारसे इस विषयकी चर्चा कर लेना इष्ट समझते हैं।

संसारकी अनादिता—जैसा कि हम पहले बतला आये हैं कि जीवके संसारी और मुक्त ये दो भेद हैं। जो चतुर्गति योनियोंमें परिभ्रमण करता है उसे संसारी कहते हैं इसका दूसरा नाम बद्ध भी है। और जो संसारसे मुक्त हो गया है उसे मुक्त कहते हैं। ये दोनों भेद अवस्थाकृत होते हैं। पहले जीव संसारी होता है और जब वह प्रयत्न-पूर्वक संसारका अन्त कर देता है तब वही मुक्त हो जाता है। मुक्त होनेके बाद जीव पुनः संसारमें नहीं आता। उस समय उसमें ऐसी योग्यता ही नहीं रहती जिससे वह पुनः कर्मबन्धको प्राप्त कर सके। कर्मबन्धका मुख्य कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग है। जब तक इनका सद्भाव पाया जाता है तभी तक कर्मबन्ध होता है। इनका अभाव होने पर जीव मुक्त हो जाता है। इससे कर्मबन्धके मुख्य कारण मिथ्यात्व आदि हैं यह ज्ञात होता है। ये मिथ्यात्व आदि जीवके वे परिणाम हैं जो बद्धदशामें होते हैं। अबद्ध जीवके इनका सद्भाव नहीं पाया जाता। इससे कर्मबन्ध और मिथ्यात्व आदिका कार्यकारण भाव सिद्ध होता है। बद्ध जीवके कर्मोंका निमित्त पाकर मिथ्यात्व आदि होते हैं और मिथ्यात्व आदिके निमित्तसे कर्मबन्ध होता है यह कार्यकारण भावकी परम्परा है। इसी भावको स्पष्ट करते हुए समयप्राभृत में लिखा है—

'जीवपरिणामहेदुं कम्मत्त पुग्गला परिणमति।
पुग्गलकम्मणिमित्त तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८६॥

(१) 'संसारिणो मुक्ताश्च।'–त० सू० २–१०।

'जीवके मिथ्यात्व आदि परिणामोंका निमित्त पाकर पुद्गलोंका कर्मरूप परिणमन होता है और पुद्गल कर्मके निमित्तसे जीव भी मिथ्यात्व आदि रूप परिणमता है।'

कर्मबन्ध और मिथ्यात्व आदि की यह परम्परा अनादि काल से चली आ रही है। आगम में इसके लिये बीज और वृक्षका दृष्टान्त दिया गया है। इस परम्पराका अन्त किया जा सकता है पर प्रारम्भ नहीं। इसीसे व्यक्तिकी अपेक्षा मुक्तिको सादि और संसारको अनादि माना है।

संसारका मुख्य कारण कर्म है—संसार और मुक्त ये जीवकी दो दशाएँ हैं यह हम पहले ही बतला आये हैं। यों तो इन दोनों अवस्थाओंका कर्ता स्वयं जीव है। जीव ही स्वयं संसारी होता है और जीव ही मुक्त। राग द्वेष आदिरूप अशुद्ध और केवलज्ञान आदिरूप शुद्ध जितनी भी अवस्थाएँ होती हैं वे सब जीवकी ही होती हैं, क्योंकि जीवके सिवा ये अन्य द्रव्यमें नहीं पाई जातीं। तथापि इनमें जो शुद्धता और अशुद्धताका भेद किया जाता है वह निमित्त की अपेक्षासे ही किया जाता है। निमित्त दो प्रकारके माने गये हैं। एक वे जो साधारण कारणरूपसे स्वीकार किये गये हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्योंका सद्भाव इसी रूपसे स्वीकार किया गया है। और दूसरे वे जो प्रत्येक कार्यके अलग-अलग होते हैं। जैसे घट पर्यायकी उत्पत्तिमें कुम्हार निमित्त है और जीवकी अशुद्धताका निमित्त कर्म है आदि। जब तक जीवके साथ कर्मका सम्बन्ध है तभी तक ये राग, द्वेष और मोह आदि भाव होते हैं कर्मके अभावमें नहीं। इसीसे संसारका मुख्य कारण कर्म कहा गया है। घर, पुत्र, स्त्री, धन आदिका नाम संसार नहीं है। वह तो जीवकी अशुद्धता है जो कर्मके सद्भाव में ही पाई जाती है इसलिये संसार और कर्मका अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध है ऐसा यहाँ जानना चाहिये। जबतक यह सम्बन्ध बना रहता

है तबतक यह चक्र यों ही घूमा करता है। इसी बातको विस्तारसे स्पष्ट करते हुए पंचास्तिकायमें लिखा है—

'जो खलु ससारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्म कम्मादो होदि गदीसु गदी ॥१२८॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायते।
तेहिं दु विसयगहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥१२९॥
जायदि जीवस्सेव भावो ससारचक्कवालम्मि।

'जो जीव ससारमें स्थित है उसके राग द्वेषरूप परिणाम होते हैं। परिणामोंसे कर्म बँधते हैं। कर्मोंसे गतियोंमें जन्म लेना पड़ता है। इससे शरीर होता है। शरीरके प्राप्त होनेसे इन्द्रियाँ होती हैं। इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण होता है। विषय ग्रहणसे राग और द्वेषरूप परिणाम होते हैं। जो जीव ससार चक्रमें पड़ा है उसकी ऐसी अवस्था होती है।'

इस प्रकार ससारका मुख्य कारण कर्म है यह ज्ञात होता है।

कर्म का स्वरूप—कर्मका मुख्य अर्थ क्रिया है। क्रिया अनेक प्रकारकी होती है। हँसना, खेलना, कूदना, उठना, बैठना, रोना, गाना, जाना, आना आदि ये सब क्रियाएँ हैं। क्रिया जड़ और चेतन दोनोंमें पाई जाती है। कर्मका सम्बन्ध आत्मासे है अतः केवल जड़की क्रिया यहाँ विवक्षित नहीं है। और शुद्ध जीव निष्क्रिय है। वह सदा ही आकाशके समान निर्लेप और भित्तीमें उकीरे गये चित्रके समान निष्कम्प रहता है। यद्यपि जैन दर्शन में जड़ चेतन सभी पदार्थोंको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाववाला माना गया है। यह स्वभाव क्या शुद्ध और क्या अशुद्ध सब पदार्थोंका पाया जाता है। किन्तु यहाँ क्रियाका अर्थ परिस्पन्द लिया है। परिस्पन्दात्मक क्रिया सब पदार्थोंकी नहीं होती। यह पुद्गल और ससारी जीवके ही पाई जाती है। इसलिये प्रकृतमें

कर्मका अर्थ संसारी जीवको क्रिया किया गया है। आशय यह है कि संसारी जीवके प्रति समय परिस्पन्दात्मक जो भी क्रिया होती है वह कर्म कहलाता है।

यद्यपि कर्मका मुख्य अर्थ यही है तथापि इसके निमित्तसे जो पुद्गल परमाणु ज्ञानावरणादि भावको प्राप्त होते हैं वे भी कर्म कहलाते हैं। अमृतचन्द्र सूरिने प्रवचनसारकी टीकामें इसी भावको दिखलाते हुए लिखा है—

'क्रिया खल्वात्मना प्राप्यत्वात्कर्म तन्निमित्तप्राप्तपरिणामः पुद्गलोऽपि कर्म।' पृ० १६५।

जैनदर्शनमें कर्मके मुख्यतया दो भेद किये गये हैं द्रव्यकर्म और भावकर्म। ये भेद जातिकी अपेक्षासे नहीं किये जाकर कार्यकारणभावकी अपेक्षासे किये गये हैं। सदाकालसे जीव बद्ध और अशुद्ध इन्हींके कारण हो रहा है। जो पुद्गल परमाणु आत्मासे सम्बद्ध होकर ज्ञानादि भावोंका घात करते हैं और आत्मामें ऐसी योग्यता लानेमें निमित्त होते हैं जिससे वह विविध शरीर आदिको धारण कर सके वे हैं द्रव्यकर्म कहते हैं। तथा आत्माके जिन भावोंसे इन द्रव्य कर्मोंका उनसे सम्बन्ध होता है वे भावकर्म कहलाते हैं। द्रव्यकर्मकी चर्चा करते हुए अकलंक देवने राजवार्तिकमें लिखा है—

'यथा भाजनविशेषे प्रक्षिप्तानां विविधरसबीजपुष्पफलानां मदिराभावेन परिणामः तथा पुद्गलानामपि आत्मनि स्थितानां योगकषायवशात् कर्मभावेन परिणामो वेदितव्यः।

जैसे पात्र विशेषमें डाले गये अनेक रसवाले बीज, पुष्प और फलोंका मदिरारूपसे परिणमन होता है उसी प्रकार आत्मामें स्थित पुद्गलोंका भी योग तथा कषायके कारण कर्मरूपसे परिणमन होता है।'

योग और कषायके बिना पुद्गल परमाणु कर्मभावको नहीं प्राप्त

होते इसलिये, योग और कषाय तथा कर्मभावको प्राप्त हुए पुद्गल परमाणु ये दोनों कर्म कहलाते हैं यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

कर्मबन्धके हेतु—यह हम पहले ही बतला आये हैं कि आत्मा मिथ्यात्व (अतत्त्वश्रद्धा या तत्त्वरुचिका अभाव) अविरति (त्यागरूप परिणतिका अभाव) प्रमाद (अनवधानता) कषाय (क्रोधादिभाव) और योग (मन, वचन और कायका व्यापार) के कारण अन्य द्रव्यसे बन्धको प्राप्त होता है। पर इनमें बन्धमात्रके प्रति योग और कषायकी प्रधानता है। आगे बन्धके चार भेद बतलानेवाले हैं उनमेंसे प्रकृति बन्ध और प्रदेशबन्ध योगसे होता है तथा स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध कषायसे होता है। आगममें योगको गरम लोहेकी और कषायको गोंदकी उपमा दी गई है। जिस प्रकार गरम लोहेको पानीमें डालने पर वह चारों ओरसे पानीको खींचता है ठीक यही स्वभाव योगका है और जिस प्रकार गोंदके कारण एक कागज दूसरे कागजसे चिपक जाता है ठीक यही स्वभाव कषायका है। योगके कारण कर्म परमाणुओंका आस्रव होता है और कषायके कारण वे बँध जाते हैं। इसलिए कर्मबन्धके मुख्य कारण पांच होते हुए भी उनमें योग और कषायकी प्रधानता है। प्रकृति आदि चारों प्रकारके बन्धके लिये इन दो का सद्भाव अनिवार्य है।

जब कर्मके अवान्तर भेदोंमें कितने कर्म किस हेतुसे बँधते हैं इत्यादि रूपसे कर्मबन्धके सामान्य हेतुओंका वर्गीकरण किया जाता है तब वे पाँच प्राप्त होते हैं और जब प्रकृति आदि चार प्रकारके बन्धोंमें

(१) 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः।'
—त० सू० ८-१।

(२) 'जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागो कसायदो होदि।'
—द्रव्य० गा० ३३।

कौन बन्ध किस हेतुसे होता है इनका विचार किया जाता है तब ये दो प्राप्त होते हैं।

ये कर्मबन्धके सामान्य कारण हैं विशेष कारण जुदे-जुदे हैं। तत्त्वार्थसूत्रमें विशेष कारणोंका निर्देश आस्रवके स्थानमें किया गया है।

कर्मके भेद—जैनदर्शन प्रत्येक द्रव्यमें अनन्त शक्तियाँ मानता है। जीव भी एक द्रव्य है अत उसमें भी अनन्त शक्तियाँ हैं। जब यह ससार दशामें रहता है तब उसकी ये शक्तियाँ कर्मसे आवृत रहती हैं। फलत कर्मके अनन्त भेद हो जाते हैं। किन्तु जीवकी मुख्य शक्तियोंकी अपेक्षा कर्मके आठ भेद किये गये हैं। यथा, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।

ज्ञानावरण—जीवकी ज्ञान-शक्तिको आवरण करनेवाले कर्मकी ज्ञानावरण सज्ञा है। इसके पाँच भेद हैं।

दर्शनावरण—जीवकी दर्शन शक्तिको आवरण करनेवाले कर्मकी दर्शनावरण सज्ञा है। इसके नौ भेद हैं।

वेदनीय—सुख और दु खका वेदन करानेवाले कर्मकी वेदनीय सज्ञा है। इसके दो भेद हैं।

मोहनीय—राग, द्वेष और मोहको पैदा करनेवाले कर्मकी मोहनीय संज्ञा है। इसके दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय ये दो भेद हैं। दर्शनमोहनीयके तीन और चारित्रमोहनीयके पच्चीस भेद हैं।

आयु—नरकादि गतियोंमें अवस्थानके कारणभूत कर्मकी आयु संज्ञा है। इसके चार भेद हैं।

नाम—नाना प्रकारके शरीर, वचन और मन तथा जीवकी विविध अवस्थाओंके कारणभूत कर्मकी नाम सज्ञा है। इसके तेरानवे भेद हैं।

गोत्र—नीच, उच्च सन्तान (परम्परा) के कारणभूत कर्मकी गोत्र सज्ञा है। इसके दो भेद हैं। जैनधर्म जाति या आजीवका कृत नीच उच्च भेद न

मानकर इसे गुणकृत मानता है। अच्छे आचारवालोंकी परम्परामें जो जन्म लेते हैं या जो ऐसे लोगोंकी सत्संगति करते हैं या जो मानवोचित आचारको जीवनमें उतारते हैं वे उच्चगोत्री माने गये हैं और जिनकी स्थिति इनके विरुद्ध है वे नीचगोत्री माने गये हैं। नीचगोत्री बुरे आचारका त्याग करके इसी पर्यायमें उच्चगोत्री हो सकता है। जैन धर्मके अनुसार ऐसे जीवको श्रावक और मुनि होनेका पूरा अधिकार है।

अन्तराय—जीवके दानादि भाव प्रकट न होने के निमित्तभूत कर्मकी अन्तराय संज्ञा है। इसके पाँच भेद हैं।

ये सब कर्म मुख्यतः चार भागों में बटे हुए हैं जीवविपाकी, पुद्गलविपाकी, क्षेत्रविपाकी और भवविपाकी। जिनका विपाक जीवमें होता है वे जीवविपाकी हैं। जिनका विपाक जीवसे एक क्षेत्रावगाह सम्बन्धको प्राप्त हुए पुद्गलोंमें होता है वे पुद्गलविपाकी हैं। जिनका विपाक भवमें होता है वे भवविपाकी हैं और जिनका विपाक क्षेत्र विशेषमें होता है वे क्षेत्र विपाकी हैं।

ये सब कर्म पुण्य और पापके भेदसे दो प्रकारके हैं। ये भेद अनुभाग बन्धकी अपेक्षासे किये गये हैं। दान, पूजा, मन्दकषाय, साधुसेवा आदि शुभ परिणामोंसे जिन कर्मोंका उत्कट अनुभाग प्राप्त होता है वे पुण्यकर्म हैं। और मदिरापान, मांससेवन, परस्त्री गमन, शिकार करना, जुआ खेलना, रात्रि भोजन करना, बुरे भाव रखना, ठगी दगाबाजी करना आदि अशुभ परिणामोंसे जिन कर्मोंका उत्कट अनुभाग प्राप्त होता है वे पापकर्म हैं।

अनुभाग-फलदानशक्ति घाति और अघातिके भेदसे दो प्रकारकी है। घातिरूप अनुभागशक्तिके तारतम्यकी अपेक्षासे चार भेद हो जाते हैं। *लता, दारु (लकड़ी) अस्थि और शैल। यह पापरूप ही होती है।* किन्तु अघातिरूप अनुभागशक्ति पुण्य और पाप दोनों प्रकारकी होती है। इसमेंसे प्रत्येकके चार चार भेद हैं। गुड़, खाँड, शर्करा और अमृत ये

ण्यरूप अनुभाग शक्ति के चार भेद हैं और निम्ब, कजीर विष और लाहल ये पापरूप अनुभागशक्तिके चार भेद हैं। जिसका जैसा नाम वैसा उसका फल है।

जीवके गुण (शक्ति) दो भागोंमें बटे हुए हैं अनुजीवीगुण और तिजीवी गुण। जिन गुणोंका सद्भाव केवल जीव में पाया जाता है अनुजीवी गुण हैं और जिनका सद्भाव जीवमें पाया जाकर भी जीवके तथा अन्य द्रव्योंमें भी यथायोग्य पाया जाता है ये प्रतिजीवी गुण हैं। न गुणोंके कारण ही कर्मोंके घाति और अघाति ये भेद किये गये हैं। ान, दर्शन, सम्यक्त्व, चरित्र वीर्य, लाभ, दान भोग, उपभोग और ल ये अनुजीवी गुण हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और न्तराय ये कर्म उक्त गुणोंका घात करनेवाले होनेसे घातिकर्म हैं और र अघाति कर्म हैं।

कर्मकी विविध अवस्थाएँ—जीवकी प्रति समय जो अवस्था होती उसका चित्र कर्म है। यद्यपि जीवकी वह अवस्था उसी समय नष्ट हो ती है अन्य समयमें अन्य होती है पर संस्काररूपसे वह कर्ममें अंकित हती है। प्रति समयके कर्म जुदे जुदे हैं। और जब तक वे फल नहीं लेते नष्ट नहीं होते। बिना भोगे कर्मका क्षय नहीं।

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म।'

कर्मका भोग विविध प्रकारसे होता है। कभी जैसा कर्मका संचय या है उसी रूपमें उसे भोगना पडता है। कभी न्यून, अधिक या परीतरूपसे उसे भोगना पडता है। कभी दो कर्म मिलकर एक काम रते हैं। साता और असाता इनके काम जुदे जुदे हैं पर कभी ये नों मिलकर सुख या दुख किसी एक को जन्म देते हैं। कभी एक कर्म ात्मक होकर विभागानुसार काम करता है। उदाहरणार्थ मिथ्यात्वका थ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृतिरूपसे विभाग हो जानेपर

इनके कार्य भी जुदे जुदे हो जाते हैं। कभी नियत कालके पहले कर्म अपना कार्य करता है तो कभी नियत कालसे बहुत समय बाद उसका फल देखा जाता है। जिस कर्मका जैसा नाम, स्थिति और फलदान शक्ति है उसीके अनुसार उसका फल मिलता है यह साधारण नियम है। अपवाद इसके अनेक हैं। कुछ कर्म ऐसे अवश्य हैं जिनकी प्रकृति नहीं बदलती। उदाहरणार्थ चार आयुकर्म। आयु कर्मोंमें जिस आयुका बन्ध होता है उसीरूपमें उसे भोगना पड़ता है। उसके स्थिति अनुभागमें उलट फेर भले ही हो जाय पर भोग उनका अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार ही होता है। यह कभी सम्भव नहीं कि नरकायुको तिर्यंचायुरूपसे भोगा जा सके या तिर्यंचायुको नरकायुरूपसे भोगा जा सके। शेष कर्मोंके विषयमें ऐसा कोई नियम नहीं है। मोटा नियम इतना अवश्य है कि मूल कर्ममें बदल नहीं होता। इस नियमके अनुसार दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय ये मूल कर्म मान लिये गये हैं। कर्मकी ये विविध अवस्थाएँ हैं जो बन्ध समयसे लेकर उनकी निर्जरा होने तक यथासम्भव होती हैं। इनके नाम ये हैं—

बन्ध, सत्त्व उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदय, उदीरणा, उपशान्त, निधत्ति और निकाचना।

बन्ध—कर्मवर्गणाओंका आत्मप्रदेशोंसे सम्बद्ध होना बन्ध है। इसके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश ये चार भेद हैं। जिस कर्मका जो स्वभाव है वह उसकी प्रकृति है। यथा ज्ञानावरणका स्वभाव ज्ञानको आवृत करना है। स्थिति कालमर्यादाको कहते हैं। किस कर्मकी जघन्य और उत्कृष्ट कितनी स्थिति पड़ती है इस सम्बन्धमें अलग अलग नियम हैं। अनुभाग फलदान शक्तिको कहते हैं। प्रत्येक कर्ममें न्यूनाधिक फल देनेकी योग्यता होती है। प्रति समय बँधनेवाले कर्मके परमाणुओं की परिगणना प्रदेशबन्धमें की जाती है।

सत्त्व—बँधनेके बाद कर्म आत्मासे सम्बद्ध रहता है। तत्काल

तो वह अपना काम करता ही नहीं। किन्तु जब तक वह अपना काम नहीं करता है तब तक उसकी वह अवस्था सत्ता नामसे अभिहित होती है। अपकर्षण आदिके निमित्तसे होनेवाले अपवादको छोड़कर साधारणत प्रत्येक कर्मका नियम है कि वह बंधनेके बाद कबसे काम करने लगता है। बीचमें जितने काल तक काम नहीं करता है उसकी आबाधाकाल संज्ञा है। आबाधाकालके बाद प्रति समय एक एक निषेक काम करता है। यह क्रम विवक्षित कर्मके पूरे होने तक चालू रहता है। आगममें प्रथम निषेककी आबाधा दी गई है। शेष निषेकोंकी आबाधा क्रमसे एक एक समय बढ़ती जाती है। इस हिसाबसे अन्तिम निषेककी आबाधा एक समय कम कर्मस्थिति प्रमाण होती है। आयुकर्मके प्रथम निषेककी आबाधाका क्रम जुदा है। शेष क्रम समान है।

उत्कर्षण—स्थिति और अनुभागके बढ़ानेकी उत्कर्षण संज्ञा है। यह क्रिया बन्धके समय ही सम्भव है। अर्थात् जिस कर्मकी स्थिति और अनुभाग बढ़ाया जाता है उसका पुन बन्ध होने पर पिछले बधे हुए कर्मका नवीन बन्धके समय स्थिति अनुभाग बढ सकता है। यह साधारण नियम है। अपवाद भी इसके अनेक हैं।

अपकर्षण—स्थिति और अनुभागके घटानेकी अपकर्षण संज्ञा है। कुछ अपवादोंको छोड़कर किसी भी कर्मकी स्थिति और अनुभाग कम किया जा सकता है। इतनी विशेषता है कि शुभ परिणामोंसे अशुभ कर्मों का स्थिति और अनुभाग कम होता है। तथा अशुभ परिणामोंसे शुभ कर्मोंका स्थिति और अनुभाग कम होता है।

संक्रमण—एक कर्म प्रकृतिके परमाणुओंका सजातीय दूसरी प्रकृतिरूप हो जाना संक्रमण है यथा असाताके परमाणुओंका सातारूप हो जाना। मूल कर्मोंका परस्पर संक्रमण नहीं होता। यथा ज्ञानावरण दर्शनावरण नहीं हो सकता। आयुकर्मके अवान्तर भेदोंका परस्पर

निमित्त कारण माने गये हैं। ये निमित्त संस्कार रूपमें आत्मासे सम्बद्ध होते रहते हैं और तदनुकूल परिणतिके पैदा करनेमें सहायता प्रदान करते हैं। जीवकी अशुद्धता और शुद्धता इन निमित्तोंके सद्भाव और असद्भाव पर आधारित है। जब तक इन निमित्तोंका एक क्षेत्रावगाह संश्लेशरूप सम्बन्ध रहता है तब तक अशुद्धता बनी रहती है और इनका सम्बन्ध छूटते ही जीव शुद्ध दशाको प्राप्त हो जाता है। जैन दर्शनमें इन्हीं निमित्तोंको कर्म शब्दसे पुकारा गया है।

ऐसा भी होता है कि जिस समय जैसी बाह्य सामग्री मिलती है उस समय उसके अनुकूल अशुद्ध आत्माकी परिणति होती है। सुन्दर सुस्वरूप स्त्रीके मिलने पर राग होता है। जुगुप्साकी सामग्री मिलने पर ग्लानि होती है। धन सम्पित्तिको देखकर लोभ होता है और लोभवश उसके अर्जन करने, छीन लेने या चुरा लेनेकी भावना होती है। ठोकर लगने पर दुख होता है और और माला का संयोग होने पर सुख। इसलिये यह कहा जा सकता है कि केवल कर्म ही आत्माकी विविध परिणतिके होनेमें निमित्त नहीं हैं किन्तु अन्य सामग्री भी उसका निमित्त है अत कर्मका स्थान बाह्य सामग्रीको मिलना चाहिये।

परन्तु विचार करने पर यह युक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अन्तरग में वैसी योग्यताके अभावमें बाह्य सामग्री कुछ भी नहीं कर सकती है। जिस योगीके रागभाव नष्ट हो गया है उसके सामने प्रबल रागकी सामग्री उपस्थित होने पर भी राग पैदा नहीं होता। इससे मालूम पड़ता है कि अन्तरगमें योग्यताके बिना बाह्य सामग्रीका कोई मूल्य नहीं है। यद्यपि कर्मके विषयमें भी ऐसा ही कहा जा सकता है पर कर्म और बाह्य सामग्री इनमें मौलिक अन्तर है। कर्म वैसी योग्यताका सूचक है पर बाह्य सामग्रीका वैसी योग्यतासे कोई सम्बन्ध नहीं। कभी वैसी योग्यताके सद्भावमें भी बाह्य सामग्री नहीं मिलती और कभी उसके अभावमें भी बाह्य सामग्रीका संयोग

देखा जाता है। किन्तु कर्मके विषयमें ऐसी बात नहीं है। उसका सबंध तभी तक आत्मासे रहता है जब तक उसमें तदनुकूल योग्यता पाई जाती है। अत: कर्मका स्थान बाह्य सामग्री नहीं ले सकती। फिर भी अन्तरंगमें योग्यताके रहते हुए बाह्य सामग्रीके मिलने पर न्यूनाधिक प्रमाणमें कार्य तो होता ही है इसलिये निमित्तोंकी परिगणनामें बाह्य सामग्री की भी गिनती हो जाती है। पर यह परम्परा निमित्त है इसलिये इसकी परिगणना नोकर्मके स्थानमें की गई है।

इतने विवेचनसे कर्मकी कार्य मर्यादाका पता लग जाता है। कर्मके निमित्तसे जीवकी विविध प्रकारकी अवस्था होती है और जीवमें ऐसी योग्यता आती है जिससे वह योग द्वारा यथायोग्य शरीर, वचन और मनके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण कर उन्हें अपनी योग्यतानुसार परिणमाता है।

कर्मकी कार्यमर्यादा यद्यपि उक्त प्रकारकी है तथापि अधिकतर विद्वानों का विचार है कि बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति भी कर्मसे होती है। इन विचारोंकी पुष्टिमें वे मोक्षमार्ग प्रकाशके निम्न उल्लेखों को उपस्थित करते हैं—'तहाँ वेदनीय करि तौ शरीर विषै वा शरीर तैं बाह्य नाना प्रकार सुख दु:खनिको कारण पर द्रव्य का संयोग जुरै है।' पृ० ३५

उसीसे दूसरा प्रमाण वे यों देते हैं—

'बहुरि कर्मनि विषै वेदनीयके उदयकरि शरीर विषै बाह्य सुख दु:ख का कारण निपजै है। शरीर विषै आरोग्यपनो रोगीपनो शक्तिवानपनो दुर्बलपनो अर क्षुधा तृषा रोग खेद पीड़ा इत्यादि सुख दु:खनिके कारण हो हैं। बहुरि बाह्य विषै सुहावना ऋतु पवनादिक वा इष्ट स्त्री पुत्रादिक वा मित्र धनादिक सुख दु:खके कारक हो हैं।' पृ० ५९।

इन विचारोंकी परम्परा यहीं तक नहीं जाती है किन्तु इससे पूर्ववर्ती बहुतसे लेखकोंने भी ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं। पुराणोंमें पुण्य और पापकी महिमा इसी आधारसे गाई गई है। अमितगतिके सुभाषित रत्न सन्दोहमें दैवनिरूपण नामका एक अधिकार है। उसमें भी

सामग्रीकी प्राप्तिका निमित्त बतलाते हैं और कोई लाभान्तराय आदिके क्षय व क्षयोपशमको। इन विद्वानोंके ये मत उक्त प्रमाणोंके बलसे भले ही बने हों किन्तु इतने मात्रसे इनकी पुष्टि नहीं की जा सकती क्योंकि उक्त कथन मूल कर्मव्यवस्थाके प्रतिकूल पड़ता है।

यदि थोड़ा बहुत इन मतोंको प्रश्रय दिया जा सकता है तो उपचारसे ही दिया जा सकता है। वीरसेन स्वामीने तो स्वर्ग, भोगभूमि और नरकमें सुख दुखकी निमित्तभूत सामग्रीके साथ वहाँ उत्पन्न होनेवाले जीवोंके साता और असाताके उदयका सम्बन्ध देखकर उपचारसे इस नियमका निर्देश किया है कि बाह्य सामग्री साता और असाताका फल है। तथा पूज्यपादस्वामीने संसारी जीवमें बाह्य सामग्रीमें लाभादिरूप परिणाम लाभान्तराय आदिके क्षयोपशमका फल जानकर उपचारसे इस नियमका निर्देश किया है कि लाभान्तराय आदिके क्षय व क्षयोपशमसे बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति होती है। तत्वतः बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति न तो साता असाताका ही फल है और न लाभान्तराय आदि कर्मोंके क्षय व क्षयोपशमका ही फल है। बाह्य सामग्री इन कारणोंसे न प्राप्त होकर अपने अपने कारणोंसे ही प्राप्त होती है। उद्योग करना, व्यवसाय करना, मजदूरी करना, व्यापारके साधन जुटाना, राजा महाराजा या सेठ साहुकारकी चाटुकारी करना, उनसे दोस्ती जोड़ना, अर्जित धनकी रक्षा करना, उसे ब्याज पर लगाना, प्राप्त धनको विविध व्यवसायोंमें लगाना, खेती बाड़ी करना, झांसा देकर ठगी करना, जेब काटना, चोरी करना, जुआ खेलना, भीख मांगना, धर्मादयको संचित कर पचा जाना आदि बाह्य सामग्रीकी प्राप्तिके साधन हैं। इन व अन्य कारणोंसे बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति होती है उक्त कारणोंसे नहीं।

शंका—इन सब बातोंके या इनमेंसे किसी एकके करने पर भी हानि देखी जाती है सो इसका क्या कारण है?

समाधान—प्रयत्नकी कमी या बाह्य परिस्थिति या दोनों।

शंका—कदाचित् व्यवसाय आदिके नहीं करने पर भी धनप्राप्ति देखी जाती है सो इसका क्या कारण है?

समाधान—यहाँ यह देखना है कि वह प्राप्ति कैसे हुई है क्या किसीके देनेसे हुई या कहीं पड़ा हुआ धन मिलनेसे हुई है? यदि किसीके देनेसे हुई है तो इसमें जिसे मिला है उसके विद्या आदि गुण कारण हैं या देनेवालेकी स्वार्थसिद्धि प्रेम आदि कारण हैं। यदि कहीं पड़ा हुआ धन मिलनेसे हुई है तो ऐसी धनप्राप्ति पुण्योदयका फल कैसे कहा जा सकता है। यह तो चोरी है। अत चोरी के भाव इस धन प्राप्तिमें कारण हुए न कि साताका उदय।

शंका—दो आदमी एक साथ एकसा व्यवसाय करते हैं फिर क्या कारण है कि एक को लाभ होता है और दूसरेको हानि?

समाधान—व्यापार करनेमें अपनी अपनी योग्यता और उस समयकी परिस्थिति आदि इसका कारण है पाप पुण्य नहीं। संयुक्त व्यापारमें एक को हानि और दूसरे को लाभ हो तो कदाचित् हानि लाभ पाप पुण्यका फल माना भी जाय। पर ऐसा होता नहीं, अत हानि लाभको पाप पुण्यका फल मानना किसी भी हालतमें उचित नहीं है।

शंका—यदि बाह्य सामग्रीका लाभालाभ पुण्य पापका फल नहीं है तो फिर एक गरीब और दूसरा श्रीमान् क्यों होता है?

समाधान—एकका गरीब और दूसरेका श्रीमान् होना यह व्यवस्था का फल है पुण्य पापका नहीं। जिन देशोंमें पूँजीवादी व्यवस्था है और व्यक्तिगत संपतिके जोड़नेकी कोई मर्यादा नहीं वहाँ अपनी अपनी योग्यता व साधनों के अनुसार लोग उसका संचय करते हैं और इसी व्यवस्थाके अनुसार गरीब अमीर इन वर्गों की सृष्टि हुआ करती है। गरीब और अमीर इनको पाप पुण्यका फल मानना किसी भी हालतमें उचित नहीं है। रूसने बहुत कुछ अंशोंमें इस व्यवस्थाको तोड़

दिया है इसलिये वहाँ इस प्रकारका भेद नहीं दिखाई देता है फिर भी वहाँ पुण्य और पाप तो है ही। सचमुच में पुण्य और पाप तो वह है जो इन बाह्य व्यवस्थाओंके परे हैं और वह है आध्यात्मिक। जैन कर्मशास्त्र ऐसे ही पुण्य पापका निर्देश करता है।

शंका—यदि बाह्य सामग्रीका लाभालाभ पुण्य पापका फल नहीं है तो सिद्ध जीवों को इसकी प्राप्ति क्यों नहीं होती ?

समाधान—बाह्य सामग्रीका सद्भाव जहाँ है वहीं उसकी प्राप्ति सम्भव है। यों तो इसकी प्राप्ति जड़ चेतन दोनोंको होती है। क्योंकि तिजोड़ीमें भी धन रखा रहता है इसलिये उसे भी धनकी प्राप्ति कही जा सकती है। किन्तु जड़के रागादि भाव नहीं होता और चेतनके होता है इसलिये वही उसमें ममकार और अहंकार भाव करता है।

शंका—यदि बाह्य सामग्रीका लाभालाभ पुण्य पापका फल नहीं है तो न सही पर सरोगता और नीरोगता यह तो पाप पुण्यका फल मानना ही पड़ता है ?

समाधान—सरोगता और नीरोगता यह पाप पुण्यके उदयका निमित्त भले ही हो जाय पर स्वयं यह पाप पुण्यका फल नहीं है। जिस प्रकार बाह्य सामग्री अपने अपने कारणोंसे प्राप्त होती है उसी प्रकार सरोगता और नीरोगता भी अपने अपने कारणोंसे प्राप्त होती है। इसे पाप पुण्यका फल मानना किसी भी हालतमें उचित नहीं है।

शंका—सरोगता और नीरोगताके क्या कारण हैं?

समाधान—अस्वास्थ्यकर आहार, विहार व संगति करना आदि सरोगताके कारण हैं और स्वास्थ्यवर्धक आहार, विहार व संगति करना आदि नीरोगताके कारण हैं।

इस प्रकार कर्मोंकी कार्यमर्यादाका विचार करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म बाह्य सम्पत्तिके संयोग वियोगका कारण नहीं है। उसकी तो मर्यादा उतनी ही है जिसका निर्देश हम पहले कर आये

हैं। हाँ जीवके विविध भाव कर्मके निमित्तसे होते हैं और वे कहीं कहीं बाह्य सम्पत्तिके अर्जन आदिमें कारण पड़ते हैं इतनी बात अवश्य है।

नैयायिक दर्शन—यद्यपि स्थिति ऐसी है तो भी नैयायिक कार्यमात्रके प्रति कर्मको कारण मानते हैं। वे कर्मको जीवनिष्ठ मानते हैं। उनका मत है कि चेतनगत जितनी विषमताएँ हैं उनका कारण कर्म तो है ही। साथ ही वह अचेतनगत सब प्रकारकी विषमताओंका और उनके न्यूनाधिक संयोगोंका भी जनक है। उनके मतसे जगतमें द्व्यणुक आदि जितने भी कार्य होते हैं वे किसी न किसी के उपभोगके योग्य होनेसे उनका कर्ता कर्म ही है।

नैयायिकोंने तीन प्रकारके कारण माने हैं—समवायीकारण, असमवायीकारण और निमित्तकारण। जिस द्रव्यमें कार्य पैदा होता है वह द्रव्य उस कार्यके प्रति समवायीकारण है। संयोग असमवायीकारण है। तथा अन्य सहकारी सामग्री निमित्तकारण है। इनमें भी काल, दिशा, ईश्वर और कर्म ये कार्यमात्रके प्रति निमित्तकारण हैं। इनकी सहायता के बिना किसी भी कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती।

ईश्वर और कर्म कार्यमात्रके प्रति साधारण कारण क्यों है इसका खुलासा उन्होंने इस प्रकार किया है कि जितने कार्य होते हैं वे सब चेतनाधिष्ठित ही होते हैं इसलिये ईश्वर सबका साधारण कारण है।

इस पर यह प्रश्न होता है कि जब सबका कर्ता ईश्वर है तब फिर उसने सबको एक सा क्यों नहीं बनाया। वह सबको एकसे सुख, एकसे भोग और एक-सी बुद्धि दे सकता था। स्वर्ग मोक्षका अधिकारी भी सबको एकसा बना सकता था। दुखी, दरिद्र और निकृष्ट योनिवाले प्राणियोंकी उसे रचना ही नहीं करनी थी। उसने ऐसा क्यों नहीं किया? जगतमें तो विषमता ही विषमता दिखलाई देती है। इसका अनुभव सभीको होता है। क्या जीवधारी और क्या जड़ जितने भी पदार्थ हैं उन सबकी आकृति, स्वभाव और जाति जुदी-जुदी हैं। एकका

मेल दूसरेसे नहीं खाता। मनुष्यको ही लीजिए। एक मनुष्यसे दूसरे मनुष्यमें बड़ा अन्तर है। एक सुखी है तो दूसरा दुखी। एकके पास सम्पत्तिका विपुल भण्डार है तो दूसरा दाने दाने को भटकता फिरता है। एक सातिशय बुद्धिवाला है तो दूसरा निरा मूर्ख। मात्स्यन्यायका तो सर्वत्र ही बोलबाला है। बड़ी मछली छोटी मछलीको निगल जाना चाहती है। यह भेद यहीं तक सीमित नहीं है, धर्म और धर्मायतनोंमें भी इस भेदने अड्डा जमा लिया है। यदि ईश्वर ने मनुष्यको बनाया है और वह मन्दिरोंमें बैठा है तो उस तक सबको क्यों नहीं जाने दिया जाता है। क्या उन दलालोंका, जो दूसरोंको मन्दिरमें जानेसे रोकते हैं, उसीने निर्माण किया है? ऐसा क्यों है? जब ईश्वरने ही इस जगतको बनाया है और वह करुणामय तथा सर्व-शक्तिमान है तब फिर उसने जगतकी ऐसी विषम रचना क्यों की? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर नैयायिकोंने कर्मको स्वीकार करके दिया है। वे जगत की इस विषमताका कारण कर्म मानते हैं। उनका कहना है कि ईश्वर जगतका कर्ता है तो सही पर उसने इसकी रचना प्राणियोंके कर्मानुसार की है। इसमें उसका रत्ती भर भी दोष नहीं है। जीव जैसा कर्म करता है उसीके अनुसार उसे योनि और भोग मिलते हैं। यदि अच्छे कर्म करता है तो अच्छी योनि और अच्छे भोग मिलते हैं और बुरे कर्म करता है तो बुरी योनि और बुरे भोग मिलते हैं। इसीसे कविवर तुलसीदासजीने अपने रामचरितमानसमें कहा है—

करम प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करहिं सो तस फल चाखा॥

ईश्वरवादको मानकर जो प्रश्न उठ खड़ा होता है, तुलसीदासजीने उस प्रश्नका इस छन्दके उत्तरार्ध द्वारा समर्थन करनेका प्रयत्न किया है।

नैयायिक जन्यमात्रके प्रति कर्मको साधारण कारण मानते हैं।

उनके मतमें जीवात्मा व्यापक है इसलिये जहाँ भी उसके उपभोगके योग्य कार्यकी सृष्टि होती है वहाँ उसके कर्मका संयोग होकर ही वैसा होता है। अमेरिकामें बननेवाली जिन मोटरों तथा अन्य पदार्थोंका भारतीयों द्वारा उपभोग होता है वे उनके उपभोक्ताओंके कर्मानुसार ही निर्मित होते हैं। इसीसे वे अपने उपभोक्ताओंके पास खिंचे चले आते हैं। उपभोग योग्य वस्तुओंका इसी हिसाबसे विभागीकरण होता है। जिसके पास विपुल सम्पत्ति है वह उसके कर्मानुसार है और जो निर्धन है वह भी अपने कर्मानुसार है। कर्म बटवारेमें कभी भी पक्षपात नहीं होने देता। गरीब और अमीरका भेद तथा स्वामी और सेवकका भेद मानवकृत नहीं है। अपने-अपने कर्मानुसार ही ये भेद होते हैं।

जो जन्मसे ब्राह्मण है वह ब्राह्मण ही बना रहता है और जो शूद्र है वह शूद्र ही बना रहता है। उनके कर्म ही ऐसे हैं जिससे जो जाति प्राप्त होती है जीवन भर वही बनी रहती है।

कर्मवादके स्वीकार करनेमें यह नैयायिकोंकी युक्ति है। वैशेषिकोंकी युक्ति भी इससे मिलती जुलती है। वे भी नैयायिकोंके समान चेतन और अचेतन गत सब प्रकारकी विषमताका साधारण कारण कर्म मानते हैं। यद्यपि इन्होंने प्रारम्भमें ईश्वरवाद पर जोर नहीं दिया। पर परवर्ती कालमें इन्होंने भी उसका अस्तित्व स्वीकार कर लिया है।

जैन दर्शनका मन्तव्य—किन्तु जैनदर्शनमें बतलाये गये कर्मवादसे इस मतका समर्थन नहीं होता। वहाँ कर्मवादकी प्राणप्रतिष्ठा मुख्यतया आध्यात्मिक आधारों पर की गई है।

ईश्वरको तो जैनदर्शन मानता ही नहीं। वह निमित्तको स्वीकार करके भी कार्यके आध्यात्मिक विश्लेषण पर अधिक जोर देता है। नैयायिक वैशेषिकोंने कार्य कारण भावकी जो रेखा खींची है वह उसे मान्य नहीं। उसका मत है कि पर्यायक्रमसे उत्पन्न होना, नष्ट होना और ध्रुव

रहना यह प्रत्येक वस्तुका स्वभाव[1] है। जितने प्रकारके पदार्थ हैं उन सबमें वह क्रम चालू है। किसी वस्तुमें भी इसका व्यतिक्रम नहीं देखा जाता। अनादि कालसे यह क्रम चालू है और अनन्त कालतक चालू रहेगा। इसके मतसे जिस कालमें वस्तुकी जैसी योग्यता होती है उसीके अनुसार कार्य होता है। जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव जिस कार्यके अनुकूल होता है वह उसका निमित्त कहा जाता है। कार्य अपने उपादानसे होता है किन्तु कार्यनिष्पत्तिके समय अन्य वस्तुकी अनुकूलता ही निमित्तताकी प्रयोजक है। निमित्त उपकारी कहा जा सकता है कर्ता नहीं। इसलिये ईश्वरको स्वीकार करके कार्यमात्रके प्रति उसको निमित्त मानना उचित नहीं है। इसीसे जैन दर्शनने जगतको अकृत्रिम और अनादि बतलाया है। उक्त कारणसे वह यावत् कार्योंमें बुद्धिमानकी आवश्यकता स्वीकार नहीं करता। घटादि कार्यों में यदि बुद्धिमान् देखा भी जाता है तो इससे सर्वत्र बुद्धिमानको निमित्त मानना उचित नहीं है ऐसा इसका मत है।

यद्यपि जैन दर्शन कर्मको मानता है तो भी वह यावत् कार्योंके प्रति उसे निमित्त नहीं मानता। वह जीवकी विविध अवस्थाएँ शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास वचन और मन इन्हींके प्रति कर्मको निमित्त कारण मानता है। उसके मतसे अन्य कार्य अपने अपने कारणोंसे होते हैं। कर्म उनका कारण नहीं है। उदाहरणार्थ पुत्रका प्राप्त होना, उसका मर जाना, रोजगारमें नफा नुकसानका होना, दूसरेके द्वारा अपमान या सम्मानका किया जाना अकस्मात् मकानका गिर पड़ना, फसलका नष्ट हो जाना, ऋतुका अनुकूल प्रतिकूल होना, अकाल या सुकालका पड़ना, रास्ता चलते चलते अपघातका हो जाना, किसीके ऊपर बिजलीका गिरना, अनुकूल व प्रतिकूल विविध प्रकारके संयोगों व वियोगोंका मिलना आदि ऐसे कार्य हैं जिनका कारण कर्म नहीं है। भ्रमसे इन्हें कर्मोंका कार्य

(१) उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५ सूत्र ३०।

समझा जाता है। पुत्रकी प्राप्ति होने पर मनुष्य भ्रमवश उसे अपने शुभ कर्मका कार्य समझता है और उसके मर जानेपर भ्रमवश उसे अपने अशुभ कर्मका कार्य समझता है। पर क्या पिताके अशुभोदयसे पुत्रकी मृत्यु या पिताके शुभोदयसे पुत्रकी उत्पत्ति सम्भव है? कभी नहीं। सच तो यह है कि ये इष्टसंयोग या इष्टवियोग आदि जितने भी कार्य हैं वे अच्छे बुरे कर्मोंके कार्य नहीं। निमित्त और बात है और कार्य और बात। निमित्तको कार्य कहना उचित नहीं है।

गोम्मटसार कर्मकाण्डमें एक नोकर्म प्रकरण आया है। उससे भी उक्त कथनकी ही पुष्टि होती है। वहाँ मूल और उत्तर कर्मोंके नोकर्म बतलाते हुए इष्ट अन्न पान आदिको असाता वेदनीयका, विदूषक या बहुरूपियाको हास्यकर्मका, सुपुत्रको रतिकर्मका, इष्टवियोग और अनिष्ट संयोगको अरति कर्मका, पुत्रमरणको शोक कर्मका, सिंह आदिको भय कर्मका और ग्लानिकर पदार्थोंको जुगुप्सा कर्मका नोकर्म द्रव्यकर्म बतलाया है।

गोम्मटसार कर्मकाण्डका यह कथन तभी बनता है जब धन सम्पत्ति और दरिद्रता आदिको शुभ और अशुभ कर्मोंके उदयमें निमित्त माना जाता है।

कर्मोंके अवान्तर भेद करके उनके जो नाम गिनाये गये हैं उनको देखनेसे भी ज्ञात होता है कि बाह्य सामग्रियोंकी अनुकूलता और प्रतिकूलतामें कर्म कारण नहीं है। बाह्य सामग्रियोंकी अनुकूलता और प्रतिकूलता या तो प्रयत्नपूर्वक होती है या सहज ही हो जाती है। पहले साता वेदनीयका उदय होता है और तब जाकर इष्ट सामग्रीकी प्राप्ति होती है ऐसा नहीं है। किन्तु इष्ट सामग्रीका निमित्त पाकर साता वेदनीयका उदय होता है ऐसा है।

---

(१) गाथा ७२। (२) गाथा ७६। (३) गाथा ७७।

रेलगाड़ीसे सफर करने पर हमें कितने ही प्रकारके मनुष्योंका समागम होता है। कोई हँसता हुआ मिलता है तो कोई रोता हुआ। इनसे हमें सुख भी होता है और दुख भी। तो क्या ये हमारे शुभाशुभ कर्मों के कारण रेलगाड़ीमें सफर करने आये हैं ? कभी नहीं। जैसे हम अपने कामसे सफर कर रहे हैं वैसे वे भी अपने-अपने कामसे सफर कर रहे हैं। हमारे और उनके संयोग वियोगमें न हमारा कर्म कारण है और न उनका ही कर्म कारण है। यह संयोग या वियोग या तो प्रयत्नपूर्वक होता है या काकतालीय न्यायसे सहज होता है। इसमें किसीका कर्म कारण नहीं है। फिर भी यह अच्छे बुरे कर्मके उदयमें सहायक होता रहता है।

नैयायिक दर्शनकी आलोचना—इस व्यवस्थाको ध्यानमें रखकर नैयायिकोंके कर्मवादकी आलोचना करने पर उसमें अनेक दोष दिखाई देते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो आजकी सामाजिक व्यवस्था, आर्थिक व्यवस्था और एकतन्त्रके प्रति नैयायिकोंका ईश्वरवाद और कर्मवाद ही उत्तरदायी है। इसीने भारतवर्षको चालू व्यवस्थाका गुलाम बनाना सिखाया। जातीयताका पहाड़ लाद दिया। परिग्रहवादियोंको परिग्रहके अधिकाधिक संग्रह करनेमें मदद दी। गरीबीको कर्मका दुर्विपाक बताकर सिर न उठाने दिया। स्वामी सेवक भाव पैदा किया। ईश्वर और कर्मके नाम पर यह सब हमसे कराया गया। धर्मने भी इसमें मदद की। विधाता कर्म तो बदनाम हुआ ही, धर्मको भी बदनाम होना पड़ा। यह रोग भारतवर्षमें ही न रहा। भारतवर्षके बाहर भी फैल गया।

इस बुराईको दूर करना है—यद्यपि जैन कर्मवादकी शिक्षाओं द्वारा जनताको यह बतलाया गया कि जन्मसे न कोई छूत होता है और न अछूत। यह भेद मनुष्यकृत है। एकके पास अधिक पूँजीका होना और दूसरेके पास एक दमड़ीका न होना, एकका मोटरोंमें घूमना और दूसरेका भीख माँगते हुए डोलना यह भी कर्मका फल नहीं है,

क्योंकि यदि अधिक पूँजीको पुण्यका फल और पूँजीके न होनेको पापका फल माना जाता है तो अल्पसंतोषी और साधु दोनों ही पापी ठहरेंगे। किन्तु इन शिक्षाओंका जनता और साहित्य पर स्थायी असर नहीं हुआ।

अजैन लेखकोंने तो नैयायिकोंके कर्मवादका समर्थन किया ही, किन्तु उत्तरकालवर्ती जैन लेखकोंने जो कथा साहित्य लिखा है उससे भी प्रायः नैयायिक कर्मवादका ही समर्थन होता है। वे जैन कर्मवादके आध्यात्मिक रहस्यको एक प्रकारसे भूलते ही गये और उनके ऊपर नैयायिक कर्मवादका गहरा रंग चढ़ता गया। अजैन लेखकों द्वारा लिखे गये कथा साहित्यको पढ़ जाइये और जैन लेखकों द्वारा लिखे गये कथा साहित्यको पढ़ जाइये पुण्य पापके वर्णन करनेमें दोनोंने कमाल किया है। दोनों ही एक दृष्टिकोणसे विचार करते हैं। अजैन लेखकोंके समान जैन लेखक भी बाह्य आधारोंको लेकर चलते हैं। वे जैन मान्यताके अनुसार कर्मोंके वर्गीकरण और उनके अवान्तर भेदोंको सर्वथा भूलते गये। जैन दर्शनमें यद्यपि कर्मोंके पुण्य कर्म और पापकर्म ऐसे भेद मिलते हैं पर इससे गरीबी पापकर्मका फल है और सम्पत्ति पुण्य कर्मका फल है यह नहीं सिद्ध होता। गरीब होकर के भी मनुष्य सुखी देखा जाता है और सम्पत्तिवाला होकरके भी वह दुखी देखा जाता है। पुण्य और पापकी व्याप्ति सुख और दुखसे की जा सकती है गरीबी अमीरीसे नहीं। इसीसे जैनदर्शनमें सातावेदनीय और असातावेदनीयका फल सुख-दुख बतलाया है अमीरी गरीबी नहीं। जैन साहित्यमें यह दोष बराबर चालू है। इसी दोषके कारण जैन जनताको कर्मकी अप्राकृतिक और अवास्तविक उलझनमें फँसना पड़ा है। जब वे कथा ग्रन्थोंमें और सुभाषितोंमें यह पढ़ते हैं कि 'पुरुषका भाग्य जागने पर घर बैठे ही रत्न मिल जाते हैं और भाग्यके

(१) सुभाषितरत्नसन्दोह पृ० ४७ श्लोक ३५७।



सप्ततिका प्रकरण की विषयानुक्रमणिका



उदयप्रकृतिस्थान और सत्त्व प्रकृतिस्थानोंका संक्षेपसे कथन करेंगे, सुनो। जो संक्षेप कथन महान् अर्थवाला और दृष्टिवाद अगरूपी महार्णवकी एक बूंदके समान है।

विशेषार्थ—मलयगिरि आचार्यने इस गाथामें आये हुए 'सिद्धपद' के दो अर्थ किये हैं। जिन ग्रथोंके सब पद सर्वज्ञोक्त अर्थका अनुसरण करनेवाले होनेसे सुप्रतिष्ठित हैं, वे ग्रथ सिद्धपद कहे जाते हैं यह पहला अर्थ है। इस अर्थके अनुसार प्रकृतमें सिद्धपद शब्द कर्मप्रकृति आदि प्राभृतोंका वाचक है, क्योंकि इस सप्ततिका नामक प्रकरणको ग्रथकारने उन्हीं कर्मप्रकृति आदिके आधारसे संक्षेप रूपमें निबद्ध किया है। गाथाके चौथे चरणमें ग्रथकारने स्वय इसे दृष्टिवादरूपी महार्णवकी एक बूंदके समान बतलाया है। मालूम होता है इसी बातको ध्यानमें रखकर मलयगिरि आचार्यने भी सिद्धपदका उक्त अर्थ किया है। तात्पर्य यह है कि दृष्टिवाद नामक बारहवें अगके परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका ये पाँच भेद हैं। इनमें से पूर्वगतके उत्पाद-पूर्व आदि चौदह भेद हैं, जिनमें दूसरे भेदका नाम अग्रायणीय है। इसके मुख्य चौदह अधिकार हैं जिन्हें वस्तु कहते हैं। इनमेंसे पाँचवीं वस्तुके बीस उप अधिकार हैं जिन्हें प्राभृत कहते हैं। इनमें से चौथे प्राभृतका नाम कर्मप्रकृति है। मुख्यतया इसीके आधारसे इस सप्ततिका नामक प्रकरणकी रचना हुई है। इससे हम यह भी जान लेते हैं कि यह प्रकरण सर्वज्ञदेवके द्वारा कहे गये अर्थका अनुसरण करनेवाला होनेसे प्रमाणभूत है, क्योंकि जिस अर्थको सर्वज्ञदेवने कहा और जिसको गणधर देवने बारह अगोंमें निबद्ध किया उसीके अनुसार इसकी रचना हुई है।

तथा जिनागममें जीवस्थान और गुणस्थान सर्वत्र प्रसिद्ध हैं या आगे ग्रन्थकार स्वयं जीवस्थान और गुणस्थानोंका आश्रय लेकर

बन्धस्थान आदिका और उनके संवेध भंगोंका कथन करनेवाले हैं इसलिये मलयगिरि आचार्यने 'सिद्धपद' का दूसरा अर्थ जीवस्थान और गुणस्थान किया है। तात्पर्य यह है कि इस ग्रन्थमें या अन्यत्र बन्ध और उदयादिका कथन करनेके लिये जीवस्थान और गुणस्थानोंका आश्रय लिया गया है, अत इसी विवक्षासे टीकाकारने 'सिद्धपद'का यह दूसरा अर्थ किया है।

उपर्युक्त विवेचनसे यद्यपि हम यह जान लेते हैं कि इस सप्ततिका नामक प्रकरणमें कर्मप्रकृति प्राभृत आदिके विषयका संक्षेप किया गया है तो भी इसका यह अर्थ नहीं कि इसमें अर्थगौरव नहीं है। यद्यपि ऐसे बहुतसे आख्यान, आलापक और संग्रहणी आदि ग्रंथ हैं जो संक्षिप्त होकर भी अर्थगौरवसे रहित होते हैं पर यह ग्रंथ उनमेंसे नहीं है। ग्रंथकारने इसी बातका ज्ञान करानेके लिये गाथामें विशेषणरूपसे 'महार्थ' पद दिया है।

विषयका निर्देश करते हुए ग्रंथकारने इस गाथामें बन्ध, उदय और सत्त्वप्रकृतिस्थानोंके कहनेकी प्रतिज्ञा की है। जिस प्रकार लोहपिंडके प्रत्येक कणमें अग्नि प्रविष्ट हो जाती है, उसी प्रकार कर्मपरमाणुओंका आत्मप्रदेशोंके साथ परस्पर जो एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध होता है उसे बन्ध कहते हैं। विपाक अवस्थाको प्राप्त हुए कर्मपरमाणुओंके भोगको उदय कहते हैं। तथा बन्धसमयसे लेकर या संक्रमण समयसे लेकर जब तक उन कर्मपरमाणुओंका अन्य प्रकृति रूपसे संक्रमण नहीं होता या जब तक उनकी निर्जरा नहीं होती तब तक उनके आत्मासे लगे रहनेको सत्ता कहते हैं। प्रकृतमें स्थान शब्द समुदायवाची है, अत गाथामें आये हुए 'प्रकृतिस्थान' पदसे दो तीन आदि प्रकृतियोंके समुदायका ग्रहण होना है। ये प्रकृतिस्थान बन्ध, उदय और सत्त्वके भेदसे तीन प्रकारके हैं। इस ग्रन्थमें इन्हींका विस्तारसे विवेचन किया गया है।

गाथामें 'सुण' यह क्रियापद आया है। इससे ग्रंथकारने यह ध्वनित किया है कि आचार्य शिष्योंको सावधान करके शास्त्रका व्याख्यान करे। यदा कदाचित् शिष्योंके प्रमादित हो जाने पर भी आचार्य उद्विग्न न होवे किन्तु शिक्षायोग्य मधुर वचनोंके द्वारा शिष्योंके मनको प्रसन्न करके आगमका रहस्य समझावे। आचार्य की यह एक कला है जो शिष्यमें उत्कृष्ट योग्यता ला देती है। संसारमें रत्न शोधकगुणके द्वारा ही गुणोत्कर्षको प्राप्त होता है। आचार्यमें इस शोधक गुणका होना अत्यन्त आवश्यक है। विनीत घोड़ेको काबूमें रखना इसमें सारथिकी महत्ता नहीं है, किन्तु जो सारथि दुष्ट घोड़ेको शिक्षा आदिके द्वारा काबूमें कर लेता है, वही सच्चा सारथि समझा जाता है। यही बात आचार्यमें भी लागू होती है। आचार्यकी सच्ची सफलता इसमें है कि वह प्रमादसे स्खलित हुए शिष्योंको भी सुपथगामी बनावे और उन्हें आगमके अध्ययनमें लगावे। पर यह बात कठोरतासे नहीं प्राप्त की जा सकती है, किन्तु सरल व्यवहार द्वारा शिष्योंके मनको हरण करके ही प्राप्त की जा सकती है। आचार्यके इस कर्तव्यको द्योतित करने के लिये ही गाथामें 'सुण' यह क्रियापद दिया है।

अब बन्ध, उदय और सत्त्व प्रकृतिस्थानोके संवेधरूप संक्षेप के कहनेकी इच्छासे आचार्य शिष्य द्वारा प्रश्न कराके भंगोंके कहने की सूचना करते हैं—

कइ बंधतो वेयइ कइ कइ वा पयडिसंतठाणाणि।
मूलुत्तरपगईसु भंगवियप्पा उ बोधव्वा ॥२॥

अर्थ—कितनी प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवके कितनी प्रकृतियोंका वेदन होता है, तथा कितनी प्रकृतियोंका बन्ध और वेदन करनेवाले जीवके कितनी प्रकृतियोंका सत्त्व होता है? इस

प्रकार मूल और उत्तर प्रकृतियोंके विषयमें अनेक भंग जानना चाहिये।

विशेषार्थ—ग्रंथकारने गाथाके पूर्वार्धमें शिष्यद्वारा यह शंका उपस्थित कराई है कि कितनी प्रकृतियोंका बन्ध होते समय कितनी प्रकृतियोंका उदय होता है, आदि। तथा गाथाके उत्तरार्धमें शिष्य की उपर्युक्त शंकाका उत्तर देते हुए कहा है कि मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतियोंके विषयमें अनेक भंग जानना चाहिये। इस प्रकार इस गाथाके वाच्यार्थका विचार करने पर उससे हमें स्पष्टतः विषय विभागकी सूचना मिलती है। मुख्यतया इस प्रकरणमें मूल प्रकृतियों और उत्तर प्रकृतियोंके बन्ध प्रकृतिस्थान, उदय प्रकृतिस्थान और सत्त्व प्रकृतिस्थानोंका तथा उनके परस्पर संवेध[1] और उससे उत्पन्न हुए भंगोंका विचार किया गया है। अनन्तर उन्हें यथास्थान जीवस्थान और गुणस्थानोंमें घटित करके बतलाया गया है। इसी विषयविभागको ध्यानमें रखकर मलयगिरि आचार्य सबसे पहले आठ मूल प्रकृतियोंके बन्धप्रकृतिस्थान, उदय प्रकृतिस्थान और सत्त्वप्रकृति स्थानोंका कथन करते हैं, क्योंकि इनका कथन किये बिना आगे तीसरी गाथामें बतलाये गये इन स्थानोंके संवेधका सरलतासे ज्ञान नहीं हो सकता है। इसके साथ ही साथ उन्होंने प्रसंगानुसार इन स्थानोंके काल और स्वामी का भी निर्देश किया है।

बन्धस्थान—आठ प्रकृतिक, सात प्रकृतिक, छह प्रकृतिक और एक प्रकृतिक इस प्रकार मूल प्रकृतियोंके कुल बन्धस्थान चार

---

(१) 'संवेधः परस्परमेककालमागमाविरोधेन मीलनम्।'

— कमप्र० बन्धोद० पृ० ६५

होते हैं। इनमें से आठ प्रकृतिक बन्धस्थानमें सब मूल प्रकृतियोंका, सात प्रकृतिक बन्धस्थानमें आयुकर्मके विना सातका, छह प्रकृतिक बन्धस्थानमें आयु और मोहनीय कर्मके बिना छहका तथा एक प्रकृतिक बन्धस्थानमें एक वेदनीय कर्मका ग्रहण होता है। इससे यह भी तात्पर्य निकलता है कि आयु कर्मको बाँधनेवाले जीवके आठों कर्मोंका, मोहनीय कर्मको बाँधनेवाले जीवके आठोंका या आयु विना सातका, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, नाम, गोत्र और अन्तराय कर्मको बाँधनेवाले जीवके आठोंका, सातका या छहका तथा एक वेदनीय कर्मको बाँधनेवाले जीवके आठोंका, सातका, छहका या एक वेदनीय कर्मका बन्ध होता है।

स्वामी—आयु कर्मका बन्ध अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक होता है, किन्तु मिश्र गुणस्थानमें नहीं होता। अत मिश्र गुणस्थानके विना शेष छह गुणस्थान वाले जीव आयुबन्धके समय आठ प्रकृतिक बन्धस्थानके स्वामी होते हैं। मोहनीय कर्म का बन्ध नौवें गुणस्थान तक होता है, अत प्रारम्भके नौ गुणस्थानवाले जीव सात प्रकृतिक बन्धस्थानके स्वामी होते हैं। किन्तु जिनके आयु कर्मका बन्ध होता हो वे सात प्रकृतिक बन्धस्थानके स्वामी नहीं होते। आयु और मोहनीय कर्मके विना शेष छह कर्मोंका बन्ध केवल दसवें गुणस्थानमें होता है, अत सूक्ष्मसापरायिक

(१) 'आउम्मि अट्ठ मोहेट्ट सत्त एक्कं च छाइ वा तइए। वज्जंतयम्मि मउम्मति सेसएसुं [illegible] सत्तट्ठ ॥'—पञ्चसं० सप्तति० गा० २।

(२) 'छसु सगविहमट्ठविहं कम्मं बंधंति तिसु य सत्तविहं। छव्विहमेक्कट्ठाणे तिसु एक्कमबंधगो एक्को ॥'—गो० कर्म० गा० ४५२।

संयत जीव छह प्रकृतिक बन्धस्थानके स्वामी होते हैं। तथा केवल वेदनीयका बन्ध ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमें होता है, अतः उक्त तीन गुणस्थानवाले जीव एक प्रकृतिक बन्धस्थान के स्वामी होते हैं।

बन्धस्थानोंका काल - आयुकर्मका जघन्य और उत्कृष्ट बन्धकाल अन्तर्मुहूर्त है। तथा आठ प्रकृतिक बन्धस्थान आयुकर्म के बन्धके समय ही होता है, अतः आठ प्रकृतिक बन्धस्थानका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्तप्रमाण जानना चाहिये। सात प्रकृतिक बन्धस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि जो अप्रमत्तसंयत जीव आठ मूल प्रकृतियोंका बन्ध करके सात प्रकृतियोंके बन्धका प्रारम्भ करता है, वह यदि उपशम श्रेणी पर आरोहण करके अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थानको प्राप्त हो जाता है तो उसके सात प्रकृतिक बन्धस्थान का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होता है, कारण कि सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थानमें छह प्रकृतिक स्थानका बन्ध होने लगता है, इसी प्रकार लब्ध्यपर्याप्तक जीवकी अपेक्षा भी सात प्रकृतिक बन्धस्थान-का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त किया जा सकता है। तथा सात प्रकृतिक बन्धस्थानका उत्कृष्टकाल छह माह और अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि वर्षका त्रिभाग अधिक तेतीस सागर है। क्योंकि जब एक पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण आयुवाले किसी मनुष्य या तिर्यंचके आयुके एक त्रिभाग शेष रहने पर अन्तर्मुहूर्त कालतक पर भवसम्बन्धी आयुका बन्ध होता है। अनन्तर भुज्यमान आयुके समाप्त हो जानेपर वह जीव तेतीस सागरप्रमाण उत्कृष्ट आयुवाले देवोंमें या नारकियोंमें उत्पन्न होकर और वहाँ आयुके

छह माह शेष रहने पर पुन परभवसम्बन्धी आयुका बन्ध करता है तब उसके सात प्रकृतिक बन्धस्थानका उत्कृष्ट काल उक्त प्रमाण प्राप्त होता है। छह प्रकृतिक बन्धस्थानका जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त है। यह हम पहले ही बतला आये हैं कि छह प्रकृतिक बन्धस्थानका स्वामी सूक्ष्मसम्परायसयत जीव होता है, अत उक्त गुणस्थानवाला जो उपशामक जीव उपशमश्रेणी पर चढते समय या उतरते समय एक समयतक सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानमें रहता है और मरकर दूसरे समयमें अविरत सम्यग्दृष्टि देव हो जाता है उसके छह प्रकृतिक बन्धस्थानका जघन्यकाल एक समय प्राप्त होता है। तथा छह प्रकृतिक बन्धस्थानका अन्तर्मुहूर्तप्रमाण उत्कृष्टकाल सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान के उत्कृष्ट कालकी अपेक्षा कहा है, क्योंकि सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थानका उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त होता है। एक प्रकृतिक बन्धस्थान का जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्टकाल कुछ कम पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण है। जो उपशम श्रेणीवाला जीव उपशान्तमोह गुणस्थानमें एक समय तक रहता है और मरकर दूसरे समयमें देव हो जाता है, उस उपशान्त मोही जीवके एक प्रकृतिक बन्ध स्थान का जघन्यकाल एक समय प्राप्त होता है। तथा एक पूर्व कोटि वर्षकी आयुवाला जो मनुष्य सात माह गर्भमें रहकर और तदनन्तर जन्म लेकर आठ वर्ष प्रमाण कालके व्यतीत होने पर सयमको प्राप्त करके एक अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर क्षीणमोह हो जाता है, उसके एक प्रकृतिक बन्धस्थानका उत्कृष्ट काल आठ वर्ष सात मास और अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण प्राप्त होता है।

बन्धस्थनोंकी उक्त विशेषाओं का ज्ञापक कोष्ठक

[१]

बन्धस्था०	मूल प्र०	स्वामी	काल	
			जघन्य	उत्कृष्ट
८ प्रकृ०	सब	मिश्र बिना अप्रमत्त तक	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
७ प्रकृ०	आयु बिना	प्रारम्भ के ९ गुण०	अन्तर्मुहूर्त	एक अन्तर्मु० और छह माह कम तथा पूर्वकोटि का त्रिभाग अधिक तेतीस सागर
६ प्रकृ०	मोह व आयु बिना	सूक्ष्म सम्पराय	एक समय	अन्तमुहूर्त
१ प्रकृ०	वेदनीय	११वाँ, १२वाँ, व १३ वाँ गुण०	एक समय	देशोन पूर्वकोटि

उदयस्थान—आठ प्रकृतिक, सात प्रकृतिक और चार प्रकृतिक इस प्रकार मूल प्रकृतियोंकी अपेक्षा उदयस्थान तीन होते हैं। आठ प्रकृतिक उदयस्थानमें सब मूल प्रकृतियोंका, सात प्रकृतिक उदयस्थानमें मोहनीय कर्मके बिना सातका और चार प्रकृतिक उदयस्थानमें चार अघाति कर्मोंका ग्रहण होता है। इससे यह भी निष्कर्ष

निकल आता है कि मोहनीयकों उदय रहते हुए आठोंका उदय होता है। मोहनीय बिना शेष तीन घातिकर्मोंका उदय रहते हुए आठका या सातका उदय होता है। इनमेंसे आठका उदय सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान तक होता है और सातका उदय उपशान्तमोह या क्षीणमोह गुणस्थानमें होता है। तथा चार अघाति कर्मोंका उदय रहते हुए आठ, सात या चारका उदय होता है। इनमेंसे आठका उदय सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान तक सातका उदय उपशान्त मोह या क्षीणमोह गुणस्थानमें और चारका उदय सयोगिकेवली तथा अयोगिकेवली गुणस्थानमें होता है।

स्वामी—मोहनीयका उदय दसवें गुणस्थान तक होता है, अत आठ प्रकृतिक उदयस्थानके स्वामी प्रारम्भके दस गुणस्थानके जीव हैं। शेष तीन घाति कर्मोंका उदय बारहवें गुणस्थान तक होता है, अत सात प्रकृतिक उदयस्थानके स्वामी ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानके जीव हैं, तथा चार अघाति कर्मोंका उदय अयोगिकेवली गुणस्थान तक होता है, अत चार प्रकृतिक उदयस्थानके स्वामी सयोगिकेवली और अयोगिकेवली जीव हैं।

काल—आठ प्रकृतिक उदयस्थानका काल अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त इस तरह तीन प्रकारका है। अभव्योंके अनादि-अनन्त भव्योंके अनादि-सान्त और उपशान्त मोह गुणस्थानसे गिरे हुए जीवोंके सादि-सान्त काल होता है। प्रकृतमें सादि सान्त विकल्पकी अपेक्षा आठ प्रकृतिक उदयस्थानका

(१) 'मोहस्सुदए अट्ठ वि सत्त य लब्भन्ति सेसयाणुदए। सन्तोइण्णाणि अघाइयाण अड सत्त चउरो य ॥'—पंचस० सप्तति० गा० ३।

(२) 'अट्ठुदओ सुहुमो त्ति य मोहेण विणा हु संतखीणेसु। घादिदराण चउक्कस्सुदओ केवलिदुगे णियमा ॥'—गो० कर्म० गा० ४५४।

जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल कुछ कम अपार्धपुद्गल परावर्त प्रमाण है। जो जीव उपशम श्रेणीसे गिरकर पुन अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर उपशमश्रेणी पर चढकर उपशान्तमोही हो जाता है उस जीवके आठ प्रकृतिक उदयस्थानका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होता है। जो जीव अपार्ध पुद्गल परावर्त कालके प्रारम्भमें उपशान्तमोही और अन्तमें क्षीणमोही हुआ है, उसके आठ प्रकृतिक उदयस्थानका उत्कृष्ट काल कुछ कम अपार्धपुद्गल परावर्त प्रमाण पाया जाता है। सात प्रकृतिक उदयस्थानका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। यद्यपि सात मूल प्रकृतियोंका उदय उपशान्तमोह और क्षीणमोह गुणस्थान में होता है। पर क्षीणमोह गुणस्थानमें न तो मरण ही होता है और न उससे जीवका प्रतिपात ही होता है। ऐसा जीव तीन घाति कर्मोंका नाश करके नियमसे सयोगिकेवली हो जाता है। हाँ उपशान्तमोह गुणस्थानमें मरण भी होता है और उससे जीव का प्रतिपात भी होता है, अत जो जीव एक समय तक उपशान्त मोह गुणस्थानमें रहकर और मरकर दूसरे समयमें अविरत सम्यग्दृष्टि देव हो जाता है उसके सात प्रकृतिक उदयस्थानका जघन्य काल एक समय पाया जाता है। तथा उपशान्तमोह या क्षीणमोह गुणस्थानका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, अत सात प्रकृतिक उदयस्थानका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होता है। चार प्रकृतिक उदयस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल कुछ कम एक पूर्वकोटि प्रमाण है। जो जीव सयोगिकेवली होकर एक अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर निर्वाणको प्राप्त हो जाता है उसके चार प्रकृतिक उदयस्थानका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त पाया जाता है। तथा पहले हम जो एक प्रकृतिक बन्धस्थानका काल घटित करके बतला आये हैं, वही यहाँ चार प्रकृतिक उदयस्थानका काल

समझना चाहिये, किन्तु इतनी विशेषता है कि एक प्रकृतिक बन्धस्थानके उत्कृष्ट कालमेंसे क्षीणमोह गुणस्थानका काल घटा देने पर चार प्रकृतिक उदयस्थानका उत्कृष्ट काल प्राप्त होता है जिसका उल्लेख पहले किया ही है।

उदयस्थानों की उक्त विशेषताओं का ज्ञापक कोष्ठक

[२]

उदयस्था०	मूल प्र०	स्वामी	काल	
			जघन्य	उत्कृष्ट
८ प्रकृति०	सब	प्रारम्भके १० गुण०	अन्तर्मु०	कुछ कम अपार्ध०
७ प्रकृ०	मोह बिना	११वाँ व १२वाँ गुण	एक समय	अन्तर्मुहूर्त
४ प्रकृ०	चारअघाति	१३वाँ व १४ वाँ	अन्तर्मु०	देशोन पूर्वकोटि

सत्तास्थान—आठ प्रकृतिक, सात प्रकृतिक और चार प्रकृतिक इस प्रकार मूल प्रकृतियोंके सत्त्वस्थान तीन हैं। आठ प्रकृतिक सत्त्वस्थानमें सब मूल प्रकृतियों की सात प्रकृतिक सत्त्वस्थानमें मोहनीयके बिना सातकी और चार प्रकृतिक सत्त्वस्थानमें चार अघाति कर्मोंकी सत्ता पाई जाती है। इससे यह भी तात्पर्य निकलता है कि मोहनीयके रहते हुए आठोंकी, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायके रहते हुए आठोंकी या मोहनीय बिना सात

की तथा चार अघाति कर्मोंके रहते हुए आठोंकी, मोहनीय बिना सातकी या चार अघाति कर्मोंकी सत्ता पाई जाती है।

स्वामी—केवल चार अघाति कर्मोंकी सत्ता सयोगी और अयोगी जिनके होती है, अत चार प्रकृतिक सत्त्वस्थानके स्वामी सयोगी और अयोगी जिन होते है। मोहनीयके बिना शेष सात कर्मोंकी सत्ता क्षीणकषाय गुणस्थानमे पाई जाती है, अत सात प्रकृतिक सत्त्वस्थानके स्वामी क्षीणमोह जीव होते हैं, तथा आठों कर्मोंकी सत्ता उपशान्तमोह गुणस्थान तक पाई जाती है, अत आठ प्रकृतिक सत्त्वस्थानके स्वामी प्रारम्भके ग्यारह गुणस्थानवाले जीव होते हैं।

काल—अभव्योंकी अपेक्षा आठ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका काल अनादि अनन्त है, क्योंकि उनके एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही होता है और मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें किसी भी मूल प्रकृतिकी क्षपणा नहीं होती, तथा भव्योंकी अपेक्षा आठ प्रकृतिक सत्त्वस्थान का काल अनादि-सान्त है, क्योंकि क्षपक सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थानमें ही मोहनीय कर्मका समूल नाश होता है और तब जाकर क्षीणमोह गुणस्थानमें सात प्रकृतिक सत्त्वस्थानकी प्राप्ति होती है, ऐसे जीवका प्रतिपात नहीं होता, अत सिद्ध हुआ कि भव्योंकी अपेक्षा आठ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका काल अनादि-सान्त है। सात प्रकृतिक सत्त्वस्थान क्षीणमोह गुणस्थानमें होता है और क्षीणमोह गुणस्थानका जघन्य तथा उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, अत सात प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य और उत्कृष्ट काल भी अन्तर्मुहूर्त ही

---

(१) 'संतो त्ति अट्ठसत्ता खीणे सत्तेव होंति सत्ताणि। जोगिम्मि अजोगिम्मि य चत्तारि हवंति सत्ताणि॥'—गो० कर्म० गा० ४५७।

प्राप्त होता है। तथा सयोगिकेवली और अयोगिकेवली गुणस्थानोंका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल कुछ कम एक पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण है, अत चार प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल कुछ कम एक पूर्वकोटि वर्षप्रमाण प्राप्त होता है। यहाँ कुछ क्रमसे आठ वर्ष सातमास और अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कालका ग्रहण करना चाहिये।

सत्त्वस्थानों की उक्त विशेषताओं का ज्ञापक कोष्ठक

[३]

सत्त्वस्था०	मूल प्र०	स्वामी	काल	
			जघन्य	उत्कृष्ट
८ प्रकृतिक	सब	प्रारम्भ के ११ गु०	अनादि सान्त	अनादि-अनन्त
७ प्रकृतिक	मोहनीय बिना	क्षीणमोह गु०	अन्तर्मु०	अन्तर्मु०
४ प्रकृतिक	४ अघाति	सयोगी व अयोगी	अन्तर्मु०	देशोन पूर्वको०

१. आठ मूल कर्मोंके संवेध भंग

अब मूल प्रकृतियोंके बन्ध, उदय और सत्त्वस्थानोंके परस्पर संवेधका कथन करनेके लिये आगेकी गाथा कहते हैं—

अट्ठविहसत्तछब्बंधगेसु अट्ठेव उदयसताइं ।
एगविहे तिविगप्पो एगविगप्पो अबंधम्मि ॥ ३ ॥

अर्थ—आठ, सात और छह प्रकारके कर्मोंका बन्ध होते समय उदय और सत्ता आठों कर्मोंकी होती है। केवल वेदनीयका बन्ध होते समय उदय और सत्ताकी अपेक्षा तीन विकल्प होते हैं, तथा बन्धके न होने पर उदय और सत्ताकी अपेक्षा एक ही विकल्प होता है।

विशेषार्थ—मिश्र गुणस्थानके बिना अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तकके जीव आयुबन्धके समय आठों कर्मोंका बन्ध कर सकते हैं। [1]अनिवृत्तिबादरसम्पराय गुणस्थान तकके जीव आयु बिना सात कर्मोंका बन्ध करते हैं और सूक्ष्मसम्पराय संयत जीव आयु और मोहनीय कर्मके बिना छह कर्मोंका बन्ध करते हैं। ये सब उपर्युक्त जीव सराग होते हैं और सरागता मोहनीय कर्मके उदयसे प्राप्त होती है। तथा मोहनीय का उदय रहते हुए उसकी सत्ता अवश्य पाई जाती है, अतः आठ, सात और छह प्रकारके कर्मोंका बन्ध होते समय उदय व सत्ता आठों कर्मों की होती है, यह सिद्ध हुआ। इस प्रकार इस कथनसे तीन भंग प्राप्त होते हैं। जो निम्नप्रकार हैं—(१) आठ प्रकृतिक बन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व। (२) सात प्रकृतिक बन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व तथा (३) छह प्रकृतिक बन्ध आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व।

(१) सत्तट्ठछब्बंधेसु उदओ अट्ठण्ह होइ पयडीण। सत्तण्ह चउण्ह वो उदओ सायस्स बंधम्मि ॥—पञ्चसं० सप्तति० गा० ५।

'अट्ठविहसत्तछब्बंधगेसु अट्ठेव उदयकम्मंसा। एयविहे तिवियप्पो एयवियप्पो-अबंधम्मि ॥'—गो० कर्म० गा० ६२८।

इनमेंसे पहला भग आयु कर्मके वन्धके समय मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अप्रमत्तसयत गुणस्थान तक होता है शेपके नहीं, क्योंकि शेप गुणस्थानोंमें आयुकर्मका वन्ध नहीं होता, किन्तु मिश्र गुणस्थान इसका अपवाद है। तात्पर्य यह है कि मिश्र गुणस्थानमें आयु कर्मका वन्ध नहीं होता, अत वहाँ पहला भग सम्भव नहीं। दूसरा भग मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अनिवृत्ति वादरसम्पराय गुणस्थान तक होता है। यद्यपि मिश्र, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें आयुकर्मका वन्ध नहीं होता, अत वहाँ तो यह दूसरा भग ही होता है, किन्तु मिथ्यादृष्टि आदि जीवोंके भी सर्वदा आयु कर्मका वन्ध नहीं होता, अत वहाँ भी जव आयुकर्मका वन्ध नहीं होता तव यह दूसरा भग वन जाता है। तथा तीसरा भग सूक्ष्मसम्पराय सयत जीवोंके होता है, क्योंकि इनके आयु और मोहनीय कर्मके विना छह कर्मोंका ही वन्ध होता है। अब इन तीन भगों के कालका विचार करने पर आठ, सात और छह प्रकृतिक वन्धस्थानके जघन्य और उत्कृष्ट कालके समान क्रमश इन तीन भगोंका जघन्य और उत्कृष्ट काल जानना चाहिये, क्योंकि उक्त वन्धस्थानों की प्रधानतासे ही ये तीन भग प्राप्त होते हैं। इन कालों का खुलासा हम उक्त वन्धस्थानों का कथन करते समय कर आये हैं इसलिए यहा अलग से नहीं किया है।

एक वेदनीयका वन्ध उपशान्तमोह, क्षीणमोह और सयोगिकेवली गुणस्थानमें होता है किन्तु उपशान्त मोह गुणस्थानमें सातका उदय और आठका सत्त्व, क्षीणमोह गुणस्थानमें सातका उदय और सातका सत्त्व सयोगिकेवली गुणस्थानमें चारका उदय और चारका सत्त्व पाया जाता है, अत यहाँ उदय और सत्ताकी अपेक्षा तीन भग प्राप्त होते हैं जो निम्न प्रकार हैं—

सत्तट्ठगबंधट्ठुदयसंत तेरससु जीवठाणेसु ।
एगम्मि पंच भंगा दो भंगा हुंति केवलिणो ॥ ४ ॥

अर्थ—प्रारम्भ के तेरह जीवस्थानों में सात प्रकृतिक बन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व तथा आठ प्रकृतिक बन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व ये दो भंग होते हैं । सञ्ज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थानमें प्रारम्भके पाँच भंग होते हैं, तथा केवली जिनके अन्तके दो भंग होते हैं ।

विशेषार्थ—यद्यपि जीव अनन्त हैं और उनकी जातियाँ भी बहुत हैं। फिर भी जिन समान पर्यायरूप धर्मोंके द्वारा उनका संग्रह किया जाता है, उन्हें जीवस्थान या जीवसमास कहते हैं। ऐसे धर्म प्रकृतमें चौदह विवक्षित हैं अतः इनकी अपेक्षा जीवस्थानोंके भी चौदह भेद हो जाते हैं। यथा—अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, पर्याप्त द्वीन्द्रिय, अपर्याप्त तीन इन्द्रिय, पर्याप्त तीन इन्द्रिय, अपर्याप्त चार इन्द्रिय, पर्याप्त चार इन्द्रिय, अपर्याप्त असञ्ज्ञी पंचेन्द्रिय, पर्याप्त असञ्ज्ञी पंचेन्द्रिय, अपर्याप्त सञ्ज्ञी पंचेन्द्रिय और पर्याप्त सञ्ज्ञी पंचेन्द्रिय। इनमेंसे प्रारम्भके तेरह जीवस्थानोंमें दो भंग होते हैं, क्योंकि इन जीवोंके दर्शनमोहनीय और चारित्र मोहनीयकी उपशमना या क्षपणा करनेकी योग्यता नहीं पाई जाती, अतः इनके अधिकतर मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है। यद्यपि इनमेंसे कुछके सास्वादन गुणस्थान भी सम्भव है फिर भी उससे भंगोंमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इन जीवसमासों में जो दो भंग होते हैं, उनका उल्लेख गाथामें [illegible] है। [illegible] भंगोंमें से सात प्रकृतिक बन्ध, आठ [illegible] तिक सत्त्व यह

[४]

बन्धस्था०	उदयस्था०	सत्त्वस्था०	स्वामी	काल	
				जघन्य	उत्कृष्ट
८ प्रकृ०	८ प्रकृ०	८ प्रकृ०	मिश्र बिना अप्र० तक छह गुण०	अन्तर्मु०	अन्तर्मुहूर्त
७ प्रकृ०	८ प्रकृ०	८ प्रकृ०	प्रारम्भ के ९ गुण०	अन्तर्मु०	छैमाह और अन्त० कम पूर्वकोटिका त्रिभाग अधिक तेतीस सागर
६ प्रकृ०	८ प्रकृ०	८ प्रकृ०	सूक्ष्मसम्प०	एक समय	अन्तर्मुहूर्त
१ प्रकृ०	७ प्रकृ०	८ प्रकृ०	उपशान्तमोह	एक समय	अन्तर्मुहूर्त
१ प्रकृ०	७ प्रकृ०	७ प्रकृ०	क्षीणमोह	अन्तर्मु०	अन्तर्मुहूर्त
१ प्रकृ०	४ प्रकृ०	४ प्रकृ०	सयोगी जिन	अन्तर्मु०	देशोन पूर्वको०
०	४ प्रकृ०	४ प्रकृ०	अयोगी जिन	अन्तर्मु०	अन्तर्मुहूर्त

२. मूलकर्मोंके जीवस्थानोंमें संवेध भंग

अब मूल प्रकृतियों की अपेक्षा बन्ध, उदय और सत्प्रकृति-स्थानोंके परस्पर संवेध से प्राप्त हुए इन विकल्पोंको जीवस्थानोंमें बतलाते हैं—

पृथक् जीवस्थान नहीं गिनाया है, अतः इसका उपचारसे संज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त नामक जीवस्थानमें अन्तर्भाव किया जा सकता है। किन्तु केवली जीव संज्ञी नहीं होते हैं, क्योंकि उनके क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं रहते अतः केवलीके संज्ञित्वका निषेध करनेके लिये गाथामें उनके भंगोका पृथक् निर्देश किया है। कोष्ठक निम्न प्रकार है—

[५]

बन्ध प्र०	उदय प्र०	सत्त्व प्र०	जीवस्थान	काल	
				जघन्य	उत्कृष्ट
८	८	८	१४	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
७	८	८	१४	अन्तर्मुहूर्त	यथायोग्य
६	८	८	संज्ञी प०	एक समय	अन्तर्मुहूर्त
१	७	८	संज्ञी प०	एक समय	अन्तर्मु०
१	७	७	संज्ञी प०	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
१	४	४	सयोगि के०	अन्तर्मुहूर्त	देशोन पूर्वकोटि
०	४	४	अयोगि०	पाँच ह्रस्व स्वरों के उ० क्रा० प्र०	पाँच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण काल प्र०

पहला भग जब आयुकर्मका बन्ध नहीं होता तब होता है। तथा आठ प्रकृतिक बन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व यह दूसरा भग आयुकर्मके बन्धके समय होता है। इनमेंसे पहले भगका काल प्रत्येक जीवस्थानके आयुके कालका विचार करके यथायोग्य घटित कर लेना चाहिये। किन्तु दूसरे भगका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि आयुकर्मके बन्धका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रियके उक्त दो भग तो होते ही हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त (१) छ प्रकृतिक बन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व (२) एक प्रकृतिक बन्ध, सात प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व तथा (३) एक प्रकृतिक बन्ध, सात प्रकृतिक उदय और सात प्रकृतिक सत्त्व ये तीन,भग और होते हैं। इस प्रकार पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रियके कुल पाँच भग होते हैं। इनमेंसे पहला भग अनिवृत्तकरण गुणस्थान तक होता है। दूसरा भग अप्रमत्तसयत गुणस्थान तक होता है। तीसरा भग उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणी में विद्यमान सूक्ष्म सम्पराय सयत जीवोके होता है। चौथा भग उपशान्तमोह गुणस्थानमें होता है और पाँचवाँ भग क्षीणमोह गुणस्थानमें होता है। केवलीके दो भग होते हैं, यह जो गाथामें बतलाया है सो इसका यह तात्पर्य है कि केवली जिनके एक प्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय, और चार प्रकृतिक सत्त्व तथा चार,प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्त्व ये दो भग होते हैं। इनमेंसे पहला भग सयोगिकेवलीके होता है, क्योंकि एक,प्रकृतिक बन्धस्थान उन्हींके पाया जाता है। तथा दूसरा भग अयोगिकेवलीके होता है, क्योंकि इनके किसी भी कर्मका बन्ध न होकर केवल चार अघाति कर्मोंका उदय और सत्त्व पाया जाता है। यद्यपि चौदह जीवस्थानोंमें केवली नामका

विशेषार्थ—मोह और योगके निमित्तसे जो दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप आत्माके गुणोंकी तारतम्यरूप अवस्थाविशेष होती है उसे गुणस्थान कहते हैं। यहाँ गुणसे दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप जीवके स्वभाव लिये गये हैं और स्थानसे उनकी तारतम्यरूप अवस्थाओंका ग्रहण किया है। तात्पर्य यह है कि मोहनीय कर्मके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके तथा योगके रहते हुए जिन मिथ्यात्व आदि परिणामोंके द्वारा जीवोंका विभाग किया जाता है, उन परिणामोंको गुणस्थान कहते हैं। वे गुणस्थान चौदह हैं-मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिबादर, सूक्ष्मसम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली। इनमें से प्रारम्भके बारह गुणस्थान मुख्यतया मोहनीय कर्मके निमित्तसे होते हैं, क्योंकि इन गुणस्थानों का विभाग इसी अपेक्षासे किया गया है। तथा सयोगिकेवली और अयोगिकेवली ये दो गुणस्थान योगके निमित्तसे होते हैं, क्योंकि सयोगिकेवली गुणस्थानमें योगका सद्भाव और अयोगिकेवली गुणस्थानमें योगका अभाव लिया गया है। इनमेंसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानको छोड़कर प्रारम्भके अप्रमत्तसंयत तक के छः गुणस्थानोंमें आठ प्रकृतिकबन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व तथा सात प्रकृतिकबन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व ये दो भंग होते हैं। यहाँ पहला भंग आयुकर्मके बन्धके समय होता है और दूसरा भंग आयुकर्मके बन्धकालके सिवा सर्वदा

सूचना—चौदह जीवस्थानोंकी अपेक्षा सात प्रकृतिक बन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्वका उत्कृष्ट काल एक साथ नहीं बतलाया जा सकता है इसलिये हमने इस भंगके उत्कृष्ट कालके खानेमें 'यथायोग्य' ऐसा लिख दिया है। इसका यह तात्पर्य है कि एकेन्द्रियके चार, द्वीन्द्रियके दो, त्रीन्द्रियके दो, चतुरिन्द्रियके दो और पचेन्द्रियके चार इन चौदह जीवस्थानोंमें से प्रत्येक जीवस्थानकी आयुका अलग अलग विचार करके उक्त भंगके कालका कथन करना चाहिये। फिर भी इस भंगका काल विवक्षित किसी भी जीवस्थानकी एक पर्यायकी अपेक्षा नहीं प्राप्त होता किन्तु दो पर्यायोंकी अपेक्षा प्राप्त होता है क्योंकि पहली पर्यायमें आयुबन्धके उपरत होनेके कालसे लेकर दूसरी पर्यायमें आयुबन्धके प्रारम्भ होने तकका काल यहाँ विवक्षित है अन्यथा इस भंगका उत्कृष्ट काल नहीं प्राप्त किया जा सकता है।

३. मूल कर्मोंके गुणस्थानोंमें संवेध भंग

अट्ठसु एगविगप्पो छस्सु वि गुणसन्निएसु दुविगप्पो।
पत्तेयं पत्तेयं बंधोदयसंतकम्माणं ॥ ५ ॥

अर्थ—आठ गुणस्थानोंमें बन्ध, उदय और सत्तारूप कर्मोंका अलग अलग एक एक भंग होता है और छह गुणस्थानोंमें दो दो भंग होते हैं।

(१) 'मिस्से अपुव्वजुगले बिदियं अपमत्तओ त्ति पढमदुगं।
छस्सुवासु तदियादी बंधोदयसत्तभंगेसु ॥'—गो० कर्म० गा० ६२६

चौदह गुणस्थानोंमें मूल प्रकृतियोंके भंगोंका ज्ञापक कोष्ठक

[६]

भंग क्रम	बन्ध प्र०	उदय प्र०	सत्त्व प्र०	गुणस्थान
१	८ प्रकृ०	८ प्र०	८ प्रकृतिक	१, २, ४, ५, ६ व
२	७ प्रकृ०	८ प्र०	८ प्रकृतिक	१, २, ३, ४, ५ ६, ७, ८ व ९
३	६ प्रकृ०	८ प्र०	८ प्रकृतिक	१० वाँ
४	१ प्रकृ०	७ प्र०	८ प्रकृतिक	११ वाँ
५	१ प्रकृ०	७ प्र०	७ प्रकृतिक	१२ वाँ
६	१ प्रकृ०	४ प्र०	४ प्रकृतिक	१३ वाँ
७	०	४ प्र०	४ प्रकृतिक	१४ वाँ

४. उत्तर प्रकृतियोंके संवेध भंग।

(ज्ञानावरण व दर्शनावरणकर्म)

इस प्रकार मूल प्रकृतियोंकी अपेक्षा बन्ध, उदय और सत्

पाया जाता है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अपूर्वकरण और अनिवृत्ति बादरसम्पराय इन तीन गुणस्थानोंमें सात प्रकृतिकबन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व यह एक भग होता है, क्योंकि इन गुणस्थानोंमें आयुकर्मका बन्ध नहीं होता ऐसा नियम है, अत इनमें एक सात प्रकृतिक बन्धस्थान ही पाया जाता है। सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानमें छ प्रकृतिक बन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व यह एक भग होता है, क्योंकि इस गुणस्थानमें बादर कषायका उदय न होनेसे आयु और मोहनीय कर्मका बन्ध नहीं होता किन्तु शेष छ कर्मोंका ही बन्ध होता है। उपशान्तमोह गुणस्थानमें एक प्रकृतिक बन्ध, सात प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व यह एक भग होता है, क्योंकि इस गुणस्थानमें मोहनीय कर्म उपशान्त होनेसे सात कर्मोंका ही उदय होता है। क्षीणमोह गुणस्थानमें एक प्रकृतिकबन्ध, सात प्रकृतिक उदय और सात प्रकृतिक सत्त्व यह एक भग होता है, क्योंकि सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थानमें मोहनीय कर्मका समूल नाश हो जानेसे यहाँ उसका उदय और सत्त्व नहीं है। सयोगिकेवली गुणस्थानमें एक प्रकृतिकबन्ध, चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्त्व यह एक भग है, क्योंकि यह गुणस्थान चार घाति कर्मोंके क्षयसे प्राप्त होता है अत इसमें चार घाति कर्मोंका उदय और सत्त्व नहीं होता। अयोगिकेवली गुणस्थानमें चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्त्व यह एक भग है, क्योंकि इसमें योगका अभाव हो जानेसे एक भी कर्मका बन्ध नहीं होता है।

अर्थ—दर्शनावरण कर्मके नौ प्रकृतिक, छहप्रकृतिक और चार प्रकृतिक ये तीन बन्धस्थान और ये ही तीन सत्त्वस्थान होते हैं। किन्तु उदयस्थान चारप्रकृतिक और पाँच प्रकृतिक ये दो होते हैं।

विशेषार्थ—दर्शनावरण कर्मके बन्धस्थान तीन हैं–नौप्रकृतिक, छहप्रकृतिक और चार प्रकृतिक। नौप्रकृतिक बन्धस्थानमें दर्शनावरण कर्मकी सब उत्तर प्रकृतियोंका बन्ध होता है। छह प्रकृतिक बन्धस्थान में स्त्यानर्धि तीनको छोड कर छह प्रकृतियो का बन्ध होता है और चार प्रकृतिक बन्धस्थानमे निद्रा आदि पाँच प्रकृतियोंको छोडकर शेष चार प्रकृतियोका बन्ध होता है। नौ प्रकृतिक बन्धस्थान मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानमें होता है। छह प्रकृतिक बन्धस्थान सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अपूर्वकरण गुणस्थानके पहले भाग तक होता है और चार प्रकृतिक बन्धस्थान अपूर्वकरण गुणस्थानके दूसरे भागसे लेकर सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान तक होता है। नौ प्रकृतिक बन्धस्थानके कालकी अपेक्षा तीन भग हैं–अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त। इनमें से अनादि-अनन्त विकल्प अभव्योंके होता हैं, क्योंकि अभव्योंके नौ प्रकृतिक बन्धस्थानका कभी भी विच्छेद नहीं होता। अनादि सान्त विकल्प भव्योंके होता है, क्योंकि इनके नौ प्रकृतिक बन्धस्थानका कालान्तरमे विच्छेद पाया जाता हैं।

णाणि। ॥ ४५९ ॥ णव सासणो त्ति बधो छच्चेव अपुव्वपढमभागो त्ति। चत्तारि होंति तत्तो सुहुमकसायस्स चरिमो त्ति ॥ ४६० ॥ खीणो त्ति चारि उदया पचसु णिद्दासु दोसु णिद्दासु। एक्के उदय पत्ते खीणदुचरिमो त्ति पचुदया ॥ ४६१ ॥ मिच्छादुवसंतो त्ति य अणियट्टीखवगपढमभागो त्ति। णवसत्ता खीणस्स दुचरिमो त्ति य छच्चदुचरिमे ॥ ४६२ ॥'—गो० कर्म०।

क्योंकि जो जीव उपशान्तमोह गुणस्थानसे च्युत होकर अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर पुन उपशान्तमोही या क्षीणमोही हो जाता है उसके उक्त भगका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होता है। तथा जो जीव अपार्ध पुद्गल परावर्त कालके प्रारम्भमे सम्यग्दृष्टि होकर और उपशमश्रेणी पर चढकर उपशान्तमोह हो जाता है। अनन्तर जब ससारमे रहनेका काल अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है, तब क्षपकश्रेणी पर चढकर क्षीणमोह हो जाता है उसके उक्त भगका उत्कृष्ट काल देशोन अपार्ध पुद्गल परावर्त प्रमाण प्राप्त होता है। तथा पाँच प्रकृतिक उदय और पाँच प्रकृतिक सत्व इस दूसरे भगका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि यह भग उपशान्त मोह गुणस्थानमे भी होता है और उपशान्तमोह गुणस्थानका जघन्य काल एक समय है, अत इस भगका जघन्य काल एक समय बन जाता है। तथा उपशान्तमोह या क्षीणमोह गुणस्थानका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, अत इस भगका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त बन जाता है।

५. दर्शनावरण कर्मके सवेध भंग

अब दर्शनावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियो की अपेक्षा बन्धादि स्थानो का कथन करने के लिये आगेकी गाथा कहते हैं -

बंधस्स य संतस्स य पगइट्ठाणाइँ तिन्नि तुल्लाइँ।
उदयट्ठाणाइँ दुवे चउ पणगं दंसणावरणे ॥ ७ ॥

---

(१) 'नव छच्चउहा वज्झइ दुगट्ठदसमेण दसणावरणं । नव बायरम्मि सत्त छक्क चउरो य खीणंमि ॥ दसणनिद्ददंसणउदओ समयं [illegible] होइ जा खीणो । जाव पमत्तो नवण्ह उदओ छसु चउसु आ खीणो ।'— पञ्चस० सप्तति० गा० १० १२ । 'णव छक्क चदुक्कं च य विदियावरणस्स बंधठा

द्वितीय भागमें प्रविष्ट होकर एक समय तक चार प्रकृतियों का बन्ध किया और मर कर दूसरे समय में देव हो गया उसके चार प्रकृतिक बन्धस्थानका जघन्य काल एक समय देखा जाता है। तथा चार प्रकृतिक बन्धस्थानका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि उपशम श्रेणी या क्षपकश्रेणी के पूरे कालका योग अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं होता। तिस पर इस स्थानका बन्ध तो अपूर्वकरणके द्वितीय भागसे लेकर सूक्ष्मसम्परायके अन्तिम समय तक ही होता है।

दर्शनावरण कर्मके सत्त्वस्थान भी तीन ही हैं–नौप्रकृतिक, छ प्रकृतिक और चार प्रकृतिक। नौ प्रकृतिक सत्त्वस्थानमें दर्शनावरण कर्मकी सब उत्तर प्रकृतियोंका सत्त्व होता है। छ प्रकृतिक सत्त्वस्थानमें स्त्यानर्द्धि तीनको छोडकर शेष छ प्रकृतियोंका सत्त्व होता है और चार प्रकृतिक सत्त्वस्थानमें निद्रादि पाँचको छोड़कर शेष चार का सत्त्व होता है। नौ प्रकृतिक सत्त्वस्थान उपशान्तमोह गुण स्थान तक होता है। छह प्रकृतिक सत्त्वस्थान क्षपक अनिवृत्ति बादरसम्परायके दूसरे भागसे लेकर क्षीणमोह गुणस्थानके उपान्त्य समयतक होता है और चार प्रकृति सत्त्वस्थान क्षीणमोह गुणस्थान के अन्तिम समयमें होता है। नौ प्रकृतिक सत्त्वस्थानके कालकी अपेक्षा दो भंग हैं–अनादि अनत और अनादि-सांत। इनमेंसे पहला विकल्प अभव्यों के होता है, क्योंकि इनके नौ प्रकृतिक सत्त्वस्थान का कभी विच्छेद नहीं पाया जाता। दूसरा विकल्प भव्योंके होता है, क्योंकि इनके कालान्तर में इस स्थानका विच्छेद देखा जाता है। यहाँ सादि सान्त यह विकल्प सम्भव नहीं, क्योंकि नौ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका विच्छेद क्षपकश्रेणी में होता है परन्तु क्षपक श्रेणीसे जीवका प्रतिपात नहीं होता। छह प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि यह स्थान क्षपक अनिवृत्तिके दूसरे भागसे लेकर क्षीणमोहके उपान्त्य समय तक

तथा सादि-सान्त विकल्प सम्यक्त्वसे च्युत होकर मिथ्यात्वको प्राप्त हुए जीवों के पाया जाता है। इनमेंसे सादि-सान्त नौ प्रकृतिक बंधस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल देशोन अपार्ध-पुद्गलपरावर्त प्रमाण है। सम्यक्त्वसे च्युत होकर मिथ्यात्वको प्राप्त हुआ जो जीव अन्तर्मुहूर्त कालके पश्चात् सम्यग्दृष्टि हो जाता है उसके नौ प्रकृतिक बन्धस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त देखा जाता है। तथा जो जीव अपार्ध पुद्गलपरावर्त कालके प्रारम्भमें सम्यग्दृष्टि होकर और अन्तर्मुहूर्तकाल तक सम्यक्त्वके साथ रह कर मिथ्यात्वको प्राप्त हो जाता है। अनन्तर अपार्ध पुद्गल परावर्त कालमें अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर जो पुनः सम्यग्दृष्टि हो जाता है उसके नौ प्रकृतिक बन्धस्थानका उत्कृष्ट काल देशोन अपार्ध पुद्गल परावर्त प्रमाण प्राप्त होता है। छह प्रकृतिक बन्धस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि जो जीव सकल संयमके साथ सम्यक्त्व को प्राप्त करके अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणी पर चढ़कर अपूर्वकरणके प्रथम भागको व्यतीत करके चार प्रकृतियोंका बन्ध करने लगता है उसके छह प्रकृतिक बन्धस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त देखा जाता है। या जो उपशम सम्यग्दृष्टि अति स्वल्प काल तक उपशम सम्यक्त्वके साथ रहकर पीछे मिथ्यात्वमें चला जाता है उसके भी छह प्रकृतिक बन्धस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त देखा जाता है। तथा छह प्रकृतिक बंधस्थानका उत्कृष्ट काल एकसौ बत्तीस सागर है, क्योंकि मध्यमें सम्यग्मिथ्यात्वसे अन्तरित होकर सम्यक्त्वके साथ रहनेका उत्कृष्ट काल इतना ही है। अनन्तर यह जीव या तो मिथ्यात्वको प्राप्त हो जाता है या क्षपकश्रेणी पर चढ़कर और सयोगिकेवली होकर क्रम से सिद्ध हो जाता है। चार प्रकृतिक बन्धस्थानका जघन्य काल एक समय है, क्यों कि जिस जीवने अपूर्वकरणके

अर्थ—दर्शनावरणकी नौ प्रकृतियोंका बन्ध होते समय चार या पाँच प्रकृतियोंका उदय और सत्ता नौ प्रकृतियोंकी होती है। छह और चार प्रकृतियों का बन्ध होते समय उदय और सत्ता पहलेके समान होती है। चार प्रकृतियोंका बन्ध और चार प्रकृतियोंका उदय रहते हुए सत्ता छह प्रकृतियोंकी होती है। तथा बन्धका विच्छेद हो जाने पर चार या पाँच प्रकृतियोंका उदय रहते हुए सत्ता नौकी होती है और चार प्रकृतियों का उदय रहते हुए सत्ता छह और चार की होती है॥

विशेषार्थ—पहले और दूसरे गुणस्थानमें दर्शनावरण कर्म की नौ प्रकृतियोंका बन्ध, चार या पाँच प्रकृतियोंका उदय और नौ प्रकृतियोंकी सत्ता होती है। यहाँ चार प्रकृतिक उदयस्थान में चक्षुदर्शनावरण आदि चार ध्रुवोदय प्रकृतियाँ ली गई हैं। तथा इनमें निद्रादिक पाँच प्रकृतियोंमें से किसी एक प्रकृतिके मिला देने पर पाँच प्रकृतिक उदयस्थान प्राप्त होता है। इस प्रकार नौ प्रकृतिक बन्ध और नौ प्रकृतिक सत्त्वके रहते हुए उदयकी अपेक्षा दो भंग होते हैं—(१) नौप्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व तथा (२) नौ प्रकृतिक बन्ध, पाँच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व। इनमें से पहला भंग निद्रादिमेंसे किसी एकके उदयके बिना होता है और दूसरा भंग निद्रादिकमेंसे किसी एकके उदयके सद्भाव में होता है।

'छह प्रकृतिक बन्ध और चार प्रकृतिक बन्धके होते हुए उदय और सत्ता पहलेके समान होती है।' इसका यह तात्पर्य है कि सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर उपशामक अपूर्वकरण गुणस्थान के पहले भाग तक जीवोंके छह प्रकृतियोंका बन्ध चार या पाँच प्रकृतियोंका उदय और नौ प्रकृतियोंका सत्त्व होता है। तथा

होता है जिसका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। तथा चार प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य और उत्कृष्ट काल एक समय है, क्योंकि यह स्थान क्षीणमोह गुणस्थानके अन्तिम समयमें ही पाया जाता है।

दर्शनावरण कर्मके उदयस्थान दो हैं—चार प्रकृतिक और पाँच प्रकृतिक। चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण इन चारका उदय क्षीणमोह गुणस्थान तक निरन्तर पाया जाता है अतः इन चारोंका समुदायरूप एक उदयस्थान है। इन चार प्रकृतियों में निद्रादि पाँचमेंसे किसी एक प्रकृतिके मिला देने पर पाँच प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ छह प्रकृतिक आदि उदय स्थान सम्भव नहीं, क्योंकि निद्रादिकमेंसे दो या दोसे अधिक प्रकृतियोंका एक साथ उदय नहीं होता किन्तु एक कालमें एक प्रकृतिका ही उदय होता है। दूसरे निद्रादिक ध्रुवोदय प्रकृतियाँ नहीं हैं, क्योंकि उदय योग्य कालके प्राप्त होने पर ही इनका उदय होता है, अतः यह पाँच प्रकृतिक उदयस्थान कदाचित् प्राप्त होता है।

अब दर्शनावरण कर्मके बन्ध, उदय और सत्त्वस्थानों के परस्पर संवेधसे उत्पन्न हुए भंगों का कथन करते हैं—

बीयावरणे नवबंधगेसु चउ पंच उदय नव संता।
छच्चउबंधे चेव चउ बंधुदए छलंसा य ॥ ८ ॥
उवरयबंधे चउ पण नवंस चउरुदय छच्च चउसंता।[1]

(१) 'चउपणउदओ बंधेसु तिसु वि अबंधगे वि उवसंते। नव सत्त अट्ठेव उइण्णसताइ चउखीणे ॥ खवगे सुहुमंमि चउबंधमि अबंधगमि खीणम्मि। छस्संतं चउरुदओ पंचण्ह वि केइ इच्छंति ॥'—पंचसं० सप्तति० गा० १३, १४। 'विदियावरणे णवबंधगेसु चदुपंचउदय णव सत्ता। छब्बंधगेसु (छच्चउबंधे) एवं तह चदुबंधे छडंसा य ॥ उवरदबंधे चदुपंचउदय णव छच्च सत्त चदु जुगलं।'—गो० कर्म० गा० ६३१, ६३२।

अर्थ—दर्शनावरणकी नौ प्रकृतियोंका बन्ध होते समय चार या पाँच प्रकृतियोंका उदय और सत्ता नौ प्रकृतियोंकी होती है। छः और चार प्रकृतियों का बन्ध होते समय उदय और सत्ता पहलेके समान होती है। चार प्रकृतियोंका बन्ध और चार प्रकृतियोंका उदय रहते हुए सत्ता छः प्रकृतियोंकी होती है। तथा बन्धका विच्छेद हो जाने पर चार या पाँच प्रकृतियोंका उदय रहते हुए सत्ता नौकी होती है और चार प्रकृतियों का उदय रहते हुए सत्ता छह और चार की होती है॥

विशेषार्थ—पहले और दूसरे गुणस्थानमें दर्शनावरण कर्म की नौ प्रकृतियोंका बन्ध, चार या पाँच प्रकृतियोंका उदय और नौ प्रकृतियोंकी सत्ता होती है। यहाँ चार प्रकृतिक उदयस्थान में चक्षुदर्शनावरण आदि चार ध्रुवोदय प्रकृतियाँ ली गई हैं। तथा इनमें निद्रादिक पाँच प्रकृतियोंमें से किसी एक प्रकृतिके मिला देने पर पाँच प्रकृतिक उदयस्थान प्राप्त होता है। इस प्रकार नौ प्रकृतिक बन्ध और नौ प्रकृतिक सत्त्वके रहते हुए उदयकी अपेक्षा दो भंग होते हैं—(१) नौप्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व तथा (२) नौ प्रकृतिक बन्ध, पाँच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व। इनमें से पहला भंग निद्रादिमेंसे किसी एकके उदयके बिना होता है और दूसरा भंग निद्रादिकमेंसे किसी एकके उदयके सद्भाव में होता है।

'छः प्रकृतिक बन्ध और चार प्रकृतिक बन्धके होते हुए उदय और सत्ता पहलेके समान होती है।' इसका यह तात्पर्य है कि सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर उपशामक अपूर्वकरण गुणस्थान के पहले भाग तक जीवोंके छः प्रकृतियोंका बन्ध चार या पाँच प्रकृतियोंका उदय और नौ प्रकृतियोंका सत्त्व होता है। तथा

उपशामक अपूर्वकरण गुणस्थानके दूसरे भागसे लेकर सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान तकके जीवोंके चार प्रकृतियोंका वन्ध, चार या पॉच प्रकृतियोका उदय और नौ प्रकृतियोका सत्त्व होता है। यहाँ इन दोनो स्थानोंकी अपेक्षा कुल भग चार होते हैं—(१) छ प्रकृतिक वन्ध, चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व। (२) छ प्रकृतिक वन्ध, पॉच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व। (३) चार प्रकृतिक वन्ध, चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व तथा (४) चार प्रकृतिक वन्ध, पॉच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व। यहाँ इतनी विशेषता है कि स्त्यानर्द्धि तीनका उदय प्रमत्तसयत गुणस्थानके अन्तिम समय तक ही होता है, अत इस गुणस्थान तक निद्रादि पाँचमें से किसी एकका उदय और अप्रमत्तसयत आदि गुणस्थानोंमें निद्रा और प्रचला इन दोमें से किसी एकका उदय कहना चाहिये। किन्तु क्षपकश्रेणीमें कुछ विशेषता है। बात यह है कि क्षपक जीव अत्यन्त विशुद्ध होता है, अत उसके निद्रा और प्रचला प्रकृतिका उदय नहीं होता और यही सबब है कि क्षपकश्रेणी में पूर्वोक्त चार भग न प्राप्त होकर पहला और तीसरा ये दो भङ्ग ही प्राप्त होते हैं। इनमेंसे छह प्रकृतिक वन्ध, चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व यह पहला भग क्षपक जीवों के भी अपूर्वकरणके प्रथम भाग तक होता है। तथा चार प्रकृतिक वन्ध, चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व यह भग क्षपक जीवों के अनिवृत्ति वादरसम्परायके सख्यात भागों तक होता है। यहाँ स्त्यानर्द्धित्रिक का क्षय हो जानेसे क्षपक जीवोंके आगे नौ प्रकृतियों का सत्त्व नहीं रहता, अत इन क्षपक जीवोंके अनिवृत्तिवादरसम्परायके सख्यात भागोंसे लेकर सूक्ष्मसम्पराय

गुणस्थानके अन्तिम समय तक चार प्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग और होता है जो उपर्युक्त चार भंगोंसे पृथक् है। इस प्रकार दर्शनावरणकी उत्तर प्रकृतियोंका यथासम्भव बन्ध रहते हुए कहाँ कितने भंग सम्भव हैं इसका विचार किया।

अब उदय और सत्ताकी अपेक्षा दर्शनावरण कर्मके जहाँ जितने भंग सम्भव हैं इसका विचार करते हैं। बात यह है कि उपशान्तमोह गुणस्थानमें दर्शनावरणकी सभी उत्तर प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है और उदय विकल्पसे चार या पाँच का पाया जाता है, अतः यहाँ (१) चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व या (२) पाँच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व ये दो भंग होते हैं। किन्तु क्षीणमोह गुणस्थानमें स्त्यानर्द्धित्रिकका अभाव है, क्योंकि इनका क्षय क्षपक अनिवृत्तिकरणमें हो जाता है। दूसरे इसके उपान्त्य समयमें निद्रा और प्रचला का भी क्षय हो जाता है जिससे अन्तिम समयमें चार प्रकृतियोंका ही सत्त्व रहता है। तथा क्षपकश्रेणीमें निद्रादिकका उदय नहीं होता इसका उल्लेख पहले ही कर आये हैं, अतः यहाँ (१) चार प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्त्व तथा (२) चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्त्व ये दो भंग होते हैं। इनमेंसे पहला भंग क्षीणमोहके उपान्त्य समय तक और दूसरा भंग क्षीणमोहके अन्तिम समयमें होता है।

अब सरलता से ज्ञान होनेके लिये इन सब भंगोंका कोष्ठक देते हैं—

आचार्य केवल इतना ही संकेत करते हैं कि 'क्षपकश्रेणी पर चढने वाला जीव आयु और वेदनीय कर्मको छोडकर उदय प्राप्त शेष सब कर्मों की उदीरणा करता है।' पर इसपर टीका करते हुए वीरसेन स्वामी लिखते हैं कि क्षपकश्रेणिवाला जीव पाँच ज्ञानावरण और चार दर्शनावरणका नियमसे वेदक है किन्तु निद्रा और प्रचलाका कदाचित् वेदक है, क्योंकि इनका कदाचित् अव्यक्त उदय होनेमें कोई विरोध नहीं आता। अमितिगति आचार्यने भी अपने पञ्चसंग्रहमें यही मत स्वीकार किया है कि क्षपकश्रेणीमें और क्षीणमोहमें दर्शनावरणकी चार या पाच प्रकृतियोंका उदय होता है। और इसलिये उन्होंने तेरह भगोंका उल्लेख भी किया है। नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीका भी यही मत है। दिगम्बर परम्पराकी मान्यतानुसार चार प्रकृतिक बन्ध, पाच प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्त्व यह एक भग तो नौवें और दसवें गुणस्थानमें बढ जाता है। तथा पाच प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्त्व यह एक भग क्षीणमोह गुणस्थानमें बढ जाता है। इस प्रकार दर्शनावरण कर्मके सवेध भगोंका कथन करते समय जो ग्यारह भग बतलाये हैं उनमें इन दो भगोंके मिला देने पर दिगम्बर मान्यतानुसार कुल तेरह भग होते हैं।

---

(१) 'आउगवेदणीयवज्जाणं वेदिज्जमाणाणं कम्माणं पवेसगो।' —क० पा० चु० (क्षपणाधिकार)। (२) 'पंचण्हं णाणावरणीयाणं चदुण्हं दंसणावरणीयाणं णियमा वेदगो, णिद्दापयलाणं सिया, तासिमवत्तोदयस्स कदाइं संभवे विरोहाभावादो।' जयध० (क्षपणाधिकार) (३) 'द्वयोनव द्वयो षट्क चतुर्षु च चतुष्टयम्। पञ्च पञ्चसु शून्यानि भङ्गा सन्ति त्रयोदश॥' पञ्च० अमि० श्लो० ३८८। (४) देखो ३२ पृष्ठ की टिप्पणी।

ऐसा नियम है कि जो प्रकृतियाँ स्वोदयसे क्षयको प्राप्त नहीं होती हैं उनका प्रत्येक निषेक अपने उपान्त्य समयमें स्तिबुक संक्रमणके द्वारा उदयगत अन्य सजातीय प्रकृतिरूपसे संक्रमित होता जाता है। इस हिसाबसे निद्रा और प्रचलाका क्षीणमोह गुणस्थानके उपान्त्य समयमें सत्त्वनाश मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है पर जिन आचार्योंके मतसे क्षपकश्रेणीमें और क्षीणमोह गुणस्थानमें निद्रा और प्रचलाका उदय सम्भव है उनके अभिप्रायानुसार इन दोनोंका क्षीणमोह गुणस्थानके अन्त समयमें सत्त्वनाश स्वीकार न करके उपान्त्य समयमें ही क्यों स्वीकार किया गया है यह बात विचारणीय अवश्य है।

अब वेदनीय, आयु और गोत्र कर्ममें संवेध भंग बतलाते हैं—

वेयणियाउयगोए विभज्ज मोहं परं वोच्छं ॥ ९ ॥

अर्थ—वेदनीय, आयु और गोत्र कर्ममें बन्धादिस्थान और संवेध भंगोंका विभाग करके पश्चात् मोहनीयके बन्धादिस्थानोंका कथन करेंगे ॥

विशेषार्थ—ग्रन्थकर्ताने मूलमें वेदनीय, आयु और गोत्र कर्ममें विभाग करनेकी सूचनामात्र की है। किन्तु किस कर्ममें अपनी अपनी उत्तर प्रकृतियोंकी अपेक्षा कितने बन्धादिस्थान और उनके कितने संवेध भंग होते हैं यह नहीं बतलाया है। किन्तु मलयगिरि आचार्यने अपनी टीकामें इसका विस्तृत विचार किया है अतः उसीके अनुसार यहां इन सब बातोंको लिखते हैं—

(1) 'दो संतट्ठाणाई बन्धे उदए य ठाणयं एक्कं। वेयणियाउयगोए ॥'—पञ्चसं० सप्तति० गा० ६। 'तदियं गोदं आउं विभज्ज मोहं परं वोच्छं।'—गो० कर्म० गा० ६३२ ॥

६. वेदनीय कर्मके संवेध भंग

वेदनीय कर्मके दो भेद हैं–साता और असाता। इनमें से एक कालमें किसी एकका बन्ध और किसी एकका ही उदय होता है, क्योंकि ये दोनो परस्पर विरोधिनी प्रकृतियॉं हैं, अत इनका एक साथ बन्ध और उदय सम्भव नहीं। किन्तु किसी एक प्रकृतिकी सत्त्व-व्युच्छित्ति होने तक सत्ता दोनों प्रकृतियोंकी पाई जाती है। पर किसी एककी सत्त्वव्युच्छित्ति हो जाने पर किसी एककी ही सत्ता पाई जाती है। इतने कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदनीयकी उत्तर प्रकृतियोंकी अपेक्षा बन्धस्थान और उदयस्थान सर्वत्र एक प्रकृतिक ही होता है किन्तु सत्त्वस्थान दो प्रकृतिक और एक-प्रकृतिक इस प्रकार दो होते हैं।

अब इनके सवेधभंग बतलाते है–(१) असाताका बन्ध, असाताका उदय और दोनोंका सत्त्व (२) असाताका बन्ध, साताका उदय और दोनोंका सत्त्व (३) साताका बन्ध, साताका उदय और दोनोंका सत्त्व (४) साताका बन्ध, असाताका उदय

(१) 'तेरसमछट्ठएसु सायासायाण बंधवोच्छेओ। संतउइण्णाइ पुणो सायासायाइ सव्वेसु॥'—पञ्चसं० सप्तति० गा० १७। 'सादासादेक्कदर बंधुदया होंति संभवट्ठाणे। दो सत्तं जोगि त्ति य चरमे उदयागदं सत्तं॥' —गो० कर्म० गा० ६३३। (२) 'बंधइ उइण्णयं चि य इयरं वा दो वि संत चउभंगो। संतमुइण्णमबंधे दो दोण्णि दुसंत [illegible] अट्ठ॥'—पञ्चसं० सप्तति० गा० १८। 'छट्ठो त्ति चार भंगा दो भंगा होंति जाव जोगिजिणे। चउभंगाऽजोगिजिणे ठाणं पडि वेयणीयस्स॥'—गो० कर्म० गा० ६३४।

और दोनोंका सत्त्व इस प्रकार वन्धके रहते हुए चार भग होते हैं। इनमे से प्रारम्भके दो भग मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर प्रमत्तसयत गुणस्थान तक होते हैं, क्योंकि प्रमत्तसयतमें असाताकी वन्धव्युच्छित्ति हो जानेसे आगे इसका वन्ध नहीं होता। अत अप्रमत्तसयत आदि गुणस्थानोंमें ये दो भग नहीं प्राप्त होते। किन्तु अन्तके दो भग मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक होते हैं, क्योंकि साताका वन्ध सयोगिकेवली गुणस्थान तक ही होता है। तथा वन्धके अभावमें (१) असाताका उदय और दोनोंका सत्त्व, (२) साताका उदय और दोनोंका सत्त्व (३) असाताका उदय और असाताका सत्त्व तथा (४) साता का उदय और साताका सत्त्व ये चार भङ्ग होते हैं। इनमें से प्रारम्भके दो भङ्ग अयोगिकेवली गुणस्थानमे द्विचरम समय तक होते हैं, क्योंकि अयोगिकेवलीके द्विचरम समय तक सत्ता दोनोंकी पाई जाती है। तथा तीसरा और चौथा भङ्ग चरम समयमें होता है। जिसके द्विचरम समयमे साताका क्षय हो गया है उसके अन्तिम समयमे तीसरा भङ्ग पाया जाता है और जिसके द्विचरम समयमें असाताका क्षय हो गया है उसके अन्तिम समयमें चौथा भङ्ग पाया जाता है। इस प्रकार वेदनीय कर्मके कुल भङ्ग आठ होते हैं।

अब उपर्युक्त विशेषताओंके साथ इन भङ्गोंका ज्ञापक कोष्ठक देते हैं—

(१) 'वेयणिये अट्ठ भगा ॥'—गो० कर्म० गा० ६५१।

[९]

क्रम न०	बन्धप्र०	उदयप्र०	सत्त्वप्र०	गुणस्थान
१	अ०	अ०	२	१, २, ३, ४ ५, ६
२	अ०	सा०	२	१, २, ३, ४, ५ ६
३	सा०	अ०	२	१ से १३ तक
४	सा०	सा०	२	१ से १३ तक
५	०	अ०	२	१४ द्विचरम समयतक
६	०	सा०	२	१४ द्विचरम समयतक
७	०	अ०	अ०	१४ चरम समयमें
८	०	सा०	सा०	१४ चरम समयमें

७. आयुकर्मके संवेध भंग

गाथामे की गई प्रतिज्ञाके अनुसार वेदनीय कर्म और उसके संवेध भगोका विचार किया। अब आयु कर्मके बन्धादि स्थान और उनके संवेध भङ्गोका विचार करते हैं—एक पर्यायमें किसी एक आयुका उदय और उसके उदयमें बघने योग्य किसी एक आयुका ही बन्ध होता है, दो या दोसे अधिकका नहीं, अत

बन्ध और उदयकी अपेक्षा आयुका एक प्रकृतिक बन्धस्थान और एक प्रकृतिक उदयस्थान होता है। किन्तु दो प्रकृतिक और एक प्रकृतिक इस प्रकार सत्त्व स्थान दो होते हैं। जिसने परभव-सम्बन्धी आयुका बन्ध कर लिया है उसके दो प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है और जिसने परभवसम्बन्धी आयुका बन्ध नहीं किया है उसके एक प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है।

आयु कर्मकी अपेक्षा तीन अवस्थाएं होती हैं-(१) परभव-सम्बन्धी आयु कर्मके बन्धकालसे पहलेकी अवस्था (२) परभव-सम्बन्धी आयुके बन्धकालकी अवस्था और (३) परभवसम्बन्धी आयुबन्धसे उत्तर कालकी अवस्था। इन्हीं तीनों अवस्थाओंको क्रमसे अबन्धकाल, बन्धकाल और उपरतबन्धकाल कहते हैं। इनमें से नारकियोंके अबन्धकालमें नरकायुका उदय और नरकायु-का सत्त्व यह एक भङ्ग होता है जो प्रारम्भके चार गुणस्थानोंमें सम्भव है, क्योंकि नरकमें शेष गुणस्थान नहीं होते। बन्धकालमें (१) तिर्यंचायुका बन्ध, नरकायुका उदय और तिर्यंच-नरकायुका सत्त्व तथा (२) मनुष्यायुका बन्ध, नरकायुका उदय और मनुष्य-नरकायुका सत्त्व ये दो भङ्ग होते हैं। इनमें से पहला भङ्ग मिथ्यात्व और सास्वादन गुणस्थानमें होता है, क्योंकि तिर्यंचायुका बन्ध दूसरे गुणस्थान तक ही होता है। तथा दूसरा भङ्ग मिथ्यात्व,

---

(१) 'एवमबधे बधे उवरदबधे वि होंति भंगा दु। एक्कस्सेकम्मि भवे एक्काउ पडि तये णियमा ॥'—गो० कर्म० गा० ६४४।

देवगतिमें आयुकर्मकी उक्त विशेषताओंका कोष्ठक—

[११]

क्रम	काल	बन्ध	उदयस्था०	सत्त्वस्था०	गुणस्थान
१	अबन्धकाल	०	दे०	दे०	१, २, ३, ४
२	बन्धकाल	ति०	दे०	दे० ति०	१, २
३	बन्धकाल	म०	दे०	दे० म०	१, २, ४
४	उप० बन्धका०	०	दे०	दे० ति०	१, २, ३, ४
५	उप० बन्धका०	०	दे०	दे० म०	१, २, ३, ४

तिर्यंच गतिमें अबन्धकालमें तिर्यंचायुका उदय और तिर्यंचायुका सत्त्व यह एक भंग होता है जो प्रारम्भके पांच गुणस्थानों में पाया जाता है, क्योंकि तिर्यंचगतिमें शेष गुणस्थान नहीं होते। बन्धकालमें (१) नरकायुका बन्ध तिर्यंचायुका उदय और नरक-तिर्यंचायुका सत्त्व (२) तिर्यंचायुका बन्ध तिर्यंचायुका उदय और तिर्यंच-तिर्यंचायुका सत्त्व (३) मनुष्यायुका बन्ध,

तिर्यंचायुका उदय और मनुष्य-तिर्यंचायुका सत्त्व तथा (४) देवायुका बन्ध, तिर्यंचायुका उदय और देव-तिर्यंचायुका सत्त्व ये चार भग होते हैं। इनमें से पहला भग मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें होता है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि गुणस्थानको छोडकर अन्यत्र नरकायुका बन्ध नहीं होता। दूसरा भग मिथ्यादृष्टि और सास्वादन गुणस्थानमें होता है, क्योंकि तिर्यंचायुका बन्ध सास्वादन गुणस्थान तक ही होता है। तीसरा भग भी मिथ्यादृष्टि और सास्वादन गुणस्थान तक ही होता है, क्योकि तिर्यंच जीव मनुष्यायुका बन्ध मिथ्यादृष्टि और सास्वादन गुणस्थानमें ही करते हैं, अविरतसम्यग्दृष्टि और देशविरत गुणस्थानमे नहीं। तथा चौथा भग सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानको छोडकर देशविरत गुणस्थान तक चार गुणस्थानोंमें होता है, क्योंकि सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें आयु कर्मका बन्ध ही नहीं होता। तथा उपरतबन्धकालमें (१) तिर्यंचायुका उदय और नरक-तिर्यंचायुका सत्त्व (२) तिर्यंचायुका उदय और तिर्यंच-तिर्यंचायुका सत्त्व (३) तिर्यंचायुका उदय और मनुष्य तिर्यंचायुका सत्त्व तथा (४) तिर्यंचायुका उदय और देव तिर्यंचायुका सत्त्व ये चार भग होते हैं। ये चारों भग प्रारम्भके पाच गुणस्थानोंमें होते हैं, क्योंकि जिस तिर्यंचने नरकायु, तिर्यंचायु या मनुष्यायुका बन्ध कर लिया है उसके द्वितीयादि गुणस्थानोंका पाया जाना सम्भव है। इस प्रकार तिर्यंचगतिमें अबन्ध, बन्ध और उपरतबन्धकी अपेक्षा आयुके कुल नौ भग होते हैं।

तिर्यंचगतिमें आयुकर्मकी उक्त विशेषताओंका कोष्ठक—

[१२]

क्रम न०	काल	बन्ध	उदय	सत्त्व	गुणस्थान
१	अ० का०	०	ति०	ति०	१, २, ३, ४, ५,
२	बन्धकाल	न०	ति०	न० ति०	१
३	बन्धकाल	ति०	ति०	ति० ति०	१, २,
४	बन्धकाल	म०	ति०	म० ति०	१, २
५	बन्धकाल	दे०	ति०	दे० ति०	१, २, ४, ५,
६	उ० ०ब का०	०	ति०	ति० न०	१, २, ३ ४, ५
७	उ० ब० का०	०	ति०	ति० ति०	१, २, ३, ४, ५
८	उ० ब० काल	०	ति०	ति० म०	१, २, ३, ४, ५
९	उ० ब० काल	०	ति०	ति० दे०	१, २, ३, ४, ५

तथा मनुष्यगतिमें अबन्धकालमें मनुष्यायुका उदय और मनुष्यायुका सत्त्व यह एक ही भंग होता है जो चौदहों गुणस्थानों में सम्भव है, क्योंकि मनुष्योंके यथासम्भव चौदहों गुणस्थान होते हैं। बन्धकालमें (१) नरकायुका बन्ध, मनुष्यायुका उदय

और नरक-मनुष्यायुका सत्त्व (२) तिर्यंचायुका बन्ध, मनुष्यायुका उदय और तिर्यंच-मनुष्यायुका सत्त्व (३) मनुष्यायुका बन्ध, मनुष्यायुका उदय और मनुष्य-मनुष्यायुका सत्त्व तथा (४) देवायुका बन्ध, मनुष्यायुका उदय और देव-मनुष्यायुका सत्त्व ये चार भंग होते हैं। इनमें से पहला भंग मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें होता है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि गुणस्थानको छोड़कर अन्यत्र नरकायुका बन्ध सम्भव नहीं। दूसरा भंग मिथ्यादृष्टि और सास्वादन गुणस्थानमें होता है, क्योंकि तिर्यंचायुका बन्ध दूसरे गुणस्थान तक ही होता है। तीसरा भंग भी मिथ्यादृष्टि और सास्वादन गुणस्थानमें ही पाया जाता है, क्योंकि मनुष्य जीव तिर्यंचायुके समान मनुष्यायुका बन्ध भी दूसरे गुणस्थान तक ही करते हैं। तथा चौथा भंग सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानको छोड़कर अप्रमत्तसंयत तक छह गुणस्थानोंमें होता है, क्योंकि मनुष्य गतिमें देवायुका बन्ध अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक पाया जाता है। तथा उपरतबन्धकालमें (१) मनुष्यायुका उदय और नरक-मनुष्यायुका सत्त्व (२) मनुष्यायुका उदय और तिर्यंच-मनुष्यायुका सत्त्व (३) मनुष्यायुका उदय और मनुष्य-मनुष्यायुका सत्त्व तथा (४) मनुष्यायुका उदय और देव-मनुष्यायुका सत्त्व ये चार भंग होते हैं। इनमें से प्रारम्भके तीन भंग अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक पाये जाते हैं, क्योंकि जिस मनुष्य ने नरकायु, तिर्यंचायु या मनुष्यायुका अपने योग्य स्थानमें बन्ध कर लिया है वह बन्ध करने के पश्चात् संयमको प्राप्त करके अप्रमत्तसंयत भी हो सकता

है। आशय यह है कि यद्यपि मनुष्य गतिमे नरकायुका बन्ध प्रथम गुणस्थान में, तिर्यंचायुका बन्ध दूसरे गुणस्थान तक और इसी प्रकार मनुष्यायुका बन्ध भी दूसरे गुणस्थान तक ही होता है तथापि बन्ध करने के बाद ऐसे जीव सयम को तो धारण कर सकते हैं, किन्तु श्रेणीपर नही चढ सकते, इस लिये उपरतबन्धकी अपेक्षा इन तीन आयुओका सत्त्व अप्रमत्त गुणस्थान तक बतलाया है। तथा चौथे भगका प्रारम्भके ग्यारह गुणस्थानो तक पाया

१—यद्यपि यहां हमने तिर्यंचगतिके कोष्ठक में उपरतबन्धकी अपेक्षा नरकायु, तिर्यंचायु और मनुष्यायुका सत्त्व पाचवें गुणस्थान तक बतलाया है। इसी प्रकार मनुष्यगतिके कोष्ठकमें उपरतबन्धकी अपेक्षा नरकायु, तिर्यंचायु और मनुष्यायुका सत्त्व सातवें गुणस्थान तक बतलाया है। पर इस विषय में अनेक मत पाये जाते हें। देवेन्द्रसूरिने कर्मस्तव नामक दूसरे कर्म ग्रन्थके सत्ताधिकारमें लिखा है कि दूसरे और तीसरे गुणस्थानके सिवा प्रथमादि ग्यारह गुणस्थानोंमें १४८ प्रकृतियोंकी सत्ता सम्भव है। तथा आगे चलकर इसी ग्रन्थमें यह भी लिखा है कि चौथे से सातवें गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानोंमें अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना और तीन दर्शनमोहनीयका क्षय हो जाने पर १४१ की सत्ता होती है। तथा अपूर्वकरण आदि चार गुणस्थानोंमें अनन्तानुबन्धी चतुष्क, नरकायु और तिर्यंचायु इन छह प्रकृतियों के बिना १४२ प्रकृतियों की सत्ता होती है। इससे दो मत फलित होते हैं। प्रथमके अनुसार तो उपरतबन्धकी अपेक्षा चारों आयुओंकी सत्ता ग्यारहवें गुणस्थान तक सम्भव है। तथा दूसरे के अनुसार उपरत बन्धकी अपेक्षा नरकायु, तिर्यंचायु और मनुष्यायुकी सत्ता सातवें गुणस्थान तक पाई जाती है।

जाना सम्भव है, क्योंकि जिस मनुष्यने देवायुका बन्ध कर लि
है उसका उपशमश्रेणी पर आरोहण करना सम्भव है।
प्रकार मनुष्यगतिमें अबन्ध, बन्ध और उपरतबन्धकी अ
आयुकर्म के कुल नौ भंग होते हैं। तथा चारों गतियोंमें सब
का योग अट्ठाईस होता है।

पंचसंग्रहके सप्ततिका संग्रह नामक प्रकरणकी गाथा १०६ से इस दूसरे म
ही पुष्टि होती है। बृहत्कर्मस्तवभाष्यमें भी इसी मतकी पुष्टि होती है। कि
पंचसंग्रहके इसी प्रकरणकी छठी गाथामें इन दोनोंसे भिन्न एक अन्य मत
दिया है। वहां बतलाया है कि नरकायुकी सत्ता चौथे गुणस्थानतक,
चायुकी सत्ता पांचवें गुणस्थानतक देवायुकी सत्ता ग्यारहवें गुणस्थानतक
मनुष्यायुकी सत्ता चौदहवें गुणस्थानतक पाई जाती है। यह मत गोम
कर्मकाण्डके अभिप्रायसे मिलता जुलता है। वहां उपरतबन्धकी अपेक्षा
कायु तिर्यंचायु और मनुष्यायुकी सत्ता चौथे गुणस्थानतक तथा देव
सत्ता ग्यारहवें गुणस्थानतक बतलाई है। पंचसंग्रहके उक्त मतसे भी यही
फलित होती है। दिगम्बर परम्परा के अन्य ग्रन्थोंमें यही एक मत
जाता है। यहां पर हमने दूसरे मतकी ही प्रधानता दी है क्योंकि श्वेत
परम्परा में अधिकतर इसी मतकी मुख्यता देखी जाती है। मलय
आचार्य ने भी इसी मतके आश्रयसे सवत्र वर्णन किया है।

(१) नारयसुराउउदओ चउ पंचम तिरि मणुस्स चाद्दसम। आ
देसजोगी उवसंता संतयाऊणं॥ अव्वंधे इगि संत दो दो बद्धाउ ब
माणाण। चउसु वि एक्कस्सुदओ पण नव नव पंच इइ भेया॥'–पंच
सप्तति० गा० ८, ९। 'पण नव नव पण भंगा आउच
विसरिसा–॥' गो० कर्म० गा० ६५१।

मनुष्यगतिमें संवेधभंगोंका ज्ञापक कोष्ठक—

[१३]

क्रमन०	काल	बन्ध	उदय	सत्त्व	गुणस्थान
१	अबन्ध काल	०	म०	म०	चौदह गुणस्थान
२	बन्ध काल	न०	म०	म० न०	१
३	बन्ध काल	ति०	म०	म० ति०	१, २
४	बन्ध काल	म०	म०	म० म०	१, २
५	बन्धकाल	दे०	म०	म० दे०	१, २, ४, ५, ६, ७
६	उपरतब० का०	०	म०	म० न०	१, २, ३, ४, ५, ६, ७
७	उपरत० काल	०	म०	म० ति०	१, २, ३, ४, ५, ६, ७
८	उपरत० काल	०	म०	म० म०	१, २, ३, ४, ५ ६, ७
९	उपरत० काल	०	म०	म० दे०	१ से ११ तक

यहा प्रत्येक गतिमें आयुके भग लानेके लिए यह नियम है कि जिस गतिमें जितनी आयुओंका बन्ध होता हो उस संख्याको

(१) 'एक्काउस्स तिभगा संभवआउहिं ताडिदे णाणा। जीवे इगिभवभगा रूऊणगुणमसरित्थे ॥'—गो० कर्म० गा० ६४५।

तीनसे गुणा कर दे और जहा जो लब्ध प्राप्त हो उसमें से एक कम वधनेवाली आयुओकी सख्या घटा दे तो प्रत्येक गतिमे आयुके अबन्ध, बन्ध और उपरतबन्धकी अपेक्षा कुल भग प्राप्त हो जाते हैं। यथा—नरक गतिमे दो आयुओंका बन्ध होता है अत दो को तीनसे गुणित कर देने पर छह प्राप्त होते हैं। अब इसमें से एक कम वधनेवाली आयुओकी सख्या एकको कम कर दिया तो नरकगतिमे पाच भग आ जाते हैं। तिर्यंच गतिमे चार आयुओका बन्ध होता है अत चारको तीनसे गुणा कर देने पर बारह प्राप्त होते हैं। अब इनमे से एक कम वधनेवाली आयुओकी सख्या तीनको घटा दिया तो तिर्यंचगतिमे नौ भग आ जाते हैं[1] इसीप्रकार मनुष्यगतिमे नौ और देवगतिमें पाच भग ले आना चाहिये।

८ गोत्रकर्मके सवेध भग

अब गोत्र कर्मके बन्धादि स्थान और उनके सवेध भगोका विचार करते हैं—गोत्र कर्मके दो भेद हैं, उच्चगोत्र और नीचगोत्र। इनमें से एक जीवके एक कालमे किसी एकका बन्ध और किसी एकका उदय होता है। जो उच्च गोत्रका बन्ध करता है उसके उस समय नीच गोत्रका बन्ध नहीं होता और जो नीच गोत्रका बन्ध करता है उसके उस समय उच्च गोत्रका बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार उदयके विषयमे भी समझना चाहिये। क्योंकि ये दोनो बन्ध और उदय इन दोनो की अपेक्षा परस्पर विरोधिनी प्रकृतिया हैं, अत इनका एक साथ बन्ध व उदय सम्भव नहीं। किन्तु सत्ताके विषयमें यह बात नहीं है, क्योंकि दोनो प्रकृतियों की एक साथ सत्ता पाई जाने मे कोई विरोध नहीं आता है। फिर भी इस

(१) 'णीचुच्चाणेगदरं बधुदया होंति संभवट्ठाणे। दो सत्ता जोगि त्ति य चरिमे उच्च हवे सत्त॥' गो० कर्म० गा० ६३५।

नियमके कुछ अपवाद है। बात यह है कि अग्निकायिक और वायुकायिक जीव उच्च गोत्रकी उद्वलना भी करते हैं। अत ऐसे जीवोंमे से जिन्होंने उच्च गोत्रकी उद्वलना कर दी है उनके या जब ये जीव अन्य एकेन्द्रियादिमे उत्पन्न हो जाते हैं तब उनके भी कुछ कालतक केवल एक नीच गोत्रकी ही सत्ता पाई जाती है। इसी प्रकार अयोगिकेवली जीव भी अपने उपान्त्य समयमे नीच गोत्रकी क्षपणा कर देते हैं अत उनके अन्तिम समयमे केवल उच्च गोत्रकी ही सत्ता पाई जाती है। इतने विवेचनसे यह निश्चित हुआ कि गोत्रकर्म की अपेक्षा बन्धस्थान भी एक प्रकृतिक होता है और उदयस्थान भी एक प्रकृतिक ही होता है किन्तु सत्त्वस्थान कहीं दो प्रकृतिक होता है और कहीं एक प्रकृतिक होता है।

अब इन स्थानोंके संवेधभग बतलाते हैं—गोत्रकर्मकी अपेक्षा (१) नीच गोत्रका बन्ध, नीच गोत्रका उदय और नीच गोत्रका सत्त्व (२) नीच गोत्रका बन्ध, नीचगोत्रका उदय और नीच-उच्चगोत्रका सत्त्व (३) नीचगोत्रका बन्ध, उच्चगोत्रका उदय और उच्च-नीचगोत्रका सत्त्व (४) उच्चगोत्रका बन्ध, नीचगोत्रका उदय और उच्च नीचगोत्रका सत्त्व (५) उच्चगोत्रका बन्ध, उच्चगोत्रका उदय और उच्च-नीचगोत्रका सत्त्व (६) उच्चगोत्रका उदय और

(१) 'उच्चुव्वेलिदतेउ वाउम्मि य णीचमेव सत्त तु। सेसिगिवियले सयले णीचं च दुगं च सत्त तु ॥ उच्चुव्वेलिदतेऊ वाऊ सेसे य वियलसयलेसु। उप्पण्णपढमकाले णीचं एयं हवे सत्त ॥'-गो० कर्म० गा० ६३६, ६३७।

(२) 'बंधइ ऊइण्णयं चि य इयरं वा दो वि सत्त चउ भंगा। नीएसु तिसु वि पढमो अबंधगे दोण्णि उच्चुदए ॥'-पञ्चसं० सप्तति० गा० १६। 'मिच्छादि गोदभंगा पण चदु तिसु दोण्णि अट्ठठाणेसु। एक्केक्का जोगिजिणे दो भंगा होंति णियमेण ॥' गो० कर्म० गा० ६३८।

उच्च-नीचगोत्रका सत्त्व तथा (७) उच्चगोत्रका उदय और उच्चगोत्रका सत्त्व ये सात संवेध भंग होते हैं। इनमें से पहला भंग जिन अग्निकायिक व वायुकायिक जीवोंने उच्चगोत्रकी उद्वलना कर दी है उनके होता है और ऐसे जीव जिन एकेन्द्रिय, विकलत्रय और पंचेन्द्रियतिर्यंचोंमें उत्पन्न होते हैं उनके भी अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है, क्योंकि अन्तर्मुहूर्त कालके पश्चात् इन एकेन्द्रियादि शेष जीवोंके उच्च गोत्रका बन्ध नियमसे हो जाता है। दूसरा और तीसरा भंग मिथ्यादृष्टि और सास्वादनसम्यग्दृष्टि इन दो गुणस्थानोंमें पाया जाता है, क्योंकि नीचगोत्रका बन्धविच्छेद दूसरे गुणस्थानमें हो जाता है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंमें नीचगोत्रका बन्ध नहीं होता, परन्तु इन दोनों भंगोंका सम्बन्ध नीचगोत्रके बन्धसे है अत इनका सद्भाव मिथ्यादृष्टि और सास्वादनसम्यग्दृष्टि इन दो गुणस्थानोंमें बतलाया है। चौथा भंग प्रारम्भके पाच गुणस्थानोंमें सम्भव है, क्योंकि नीचगोत्रका उदय पाचवें गुणस्थान तक ही होता है यत इस भंगका सम्बन्ध नीचगोत्रके उदयसे है अत प्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानोंमें इसका अभाव बतलाया है। पाचवा भंग प्रारम्भके दस गुणस्थानोंमें सम्भव है, क्योंकि उच्चगोत्रका बन्ध सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान तक ही होता है। यत इस भंगमें उच्चगोत्रका बन्ध विवक्षित है, अत आगेके गुणस्थानोंमें इसका निषेध किया। छठा भंग उपशान्तमोह गुणस्थानसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थानके द्विचरम समय तक होता है, क्योंकि नीचगोत्रका सत्त्व यहीं तक पाया जाता है। यत इस भंगमें नीचगोत्रका सत्त्व

(१) 'बंधो आदुगदसमं उदओ पण चोद्दसं तु जा ठाणं। निच्चुच्चगोत्तकम्माण संतया होंति सव्वेसु ॥'—पञ्चसं० सप्तति० गा० १५।

सकलित है अत अयोगिकेवली गुणस्थानके अन्तिम समयमें इसका निषेध किया। तथा सातवा भग अयोगिकेवली गुणस्थान के अन्तिम समयमे होता है, क्याकि केवल उच्चगोत्रका उदय और उच्चगोत्रका सत्त्व अयोगिकेवली गुणस्थानके अन्तिम समयमें ही पाया जाता है, अन्यत्र नहीं। इस प्रकार गोत्रकर्मकी अपेक्षा कुल सवेधभग सात होते हैं।

गोत्रकर्मके सवेधभगों का ज्ञापक कोष्ठक—

[१४]

भग	बन्ध	उदय	सत्त्व	गुणस्थान
१	नी०	नी०	नी०	१
२	नी०	नी०	नी० उ०	१ २,
३	नी०	उ०	नी० उ०	१ २,
४	उ०	नी०	नी० उ०	१, २, ३, ४, ५
५	उ०	उ०	नी० उ०	१ से १० तक
६	०	उ०	नी० उ०	११, १२, १३ व १४ उ० स०
७	०	उ०	उ०	१४ का अन्तिम समय

(१) 'गोदे सत्तेव होंति भंगा हु।'—गो० कर्म० गा० ६५१।

९. मोहनीय कर्म

अब पूर्व सूचनानुसार मोहनीय कर्मके बन्धस्थानों का कथन करते हैं—

बावीस एक्कवीसा सत्तरसा तेरसेव नव पंच ।
चउ तिग दुगं च एक्कं बंधट्ठाणाणि मोहस्स ॥ १० ॥

अर्थ—बाईस प्रकृतिक, इक्कीस प्रकृतिक सत्रह प्रकृतिक, तेरह प्रकृतिक, नौ प्रकृतिक, पांच प्रकृतिक, चार प्रकृतिक, तीन प्रकृतिक, दो प्रकृतिक और एक प्रकृतिक इस प्रकार मोहनीय कर्मके कुल दस बन्धस्थान हैं ॥

विशेषार्थ—मोहनीय कर्मकी उत्तर प्रकृतियां अट्ठाईस हैं। इनमेंसे सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन दोनोंका बन्ध नहीं होता अतः बन्धयोग्य कुल छब्बीस प्रकृतियां रहती हैं। इनमें भी तीन वेदोंका एक साथ बंध नहीं होता, किन्तु एक कालमें एक वेदका ही बन्ध होता है। तथा हास्य-रतियुगल और अरति-शोकयुगल ये दोनों युगल भी एक साथ बन्धको नहीं प्राप्त होते किन्तु एक काल में किसी एक युगलका ही बन्ध होता है। इस प्रकार छब्बीस प्रकृतियोंमें से दो वेद और किसी एक युगलके कम हो जाने पर बाईस प्रकृतियां शेष रहती हैं जिनका बन्ध मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें

(१) दुगइगवीसा सत्तर तेरस नव पंच चउर ति दु एगो । बंधो इगि दुग चउत्थय पणउणवमेसु मोहस्स ॥'—पंच स० सप्तति० गा० १६ । 'बावीसमेक्कवीसं सत्तारस तेरसेव णव पंच । चदुतियदुगं च एक्कं बंधट्ठाणाणि मोहस्स ॥'—गो० कर्म० गा० ४६३ । 'मोहणीयस्स कम्मस्स दस ट्ठाणाणि बावीसाए एक्कवीसाए सत्तारसण्हं तेरसण्हं णवण्हं पंचण्हं चदुण्हं तिण्हं दोण्हं एक्किस्से ट्ठाणं चेदि ।'—जीव० चू० ठा० सू० २० ।

नौ प्रकृतिक बन्धस्थान प्राप्त होता है। यद्यपि अरति और शोक का बन्ध छठे गुणस्थान तक ही होता है तो भी सातवें और आठवें गुणस्थानमें इनकी पूर्ति हास्य और रतिसे हो जाती है, अत सातवें और आठवें गुणस्थानमें भी नौ प्रकृतिक बन्धस्थान बन जाता है। इस बन्धस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल देशोन पूर्वकोटि वर्षप्रमाण है। यद्यपि छठे, सातवें और आठवें गुणस्थानका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं है फिर भी परिवर्तन क्रमसे छठे और सातवें गुणस्थानमें एक जीव देशोन पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण कालतक रह सकता है, अत नौ प्रकृतिक बन्धस्थान का उत्कृष्ट काल उक्त प्रमाण प्राप्त हो जाता है। हास्य, रति, भय और जुगुप्साका बन्ध आठवें गुणस्थानके अन्तिम समय तक ही होता है, अत पूर्वोक्त नौ प्रकृतियोंमें से इन चार प्रकृतियोंके घटा देने पर अनिवृत्ति बादरसम्पराय गुणस्थानके प्रथम भागमें पाँच प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। दूसरे भागमें पुरुष वेदका बध नहीं होता, अत वहाँ चार प्रकृतिक बधस्थान होता है। तीसरे भागमें क्रोधसज्वलनका बन्ध नहीं होता, अत वहाँ तीन प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। चौथे भागमें मानसज्वलनका बन्ध नहीं होता, अत वहाँ दो प्रकृतिक बन्धस्थान होता है और पाँचवें भागमें मायासज्वलनका बन्ध नहीं होता, अत वहाँ एक प्रकृतिक बधस्थान होता है। इस प्रकार अनिवृत्ति बादरसपराय गुणस्थानके पाँच भागोंमें पाँच प्रकृतिक, चार प्रकृतिक, तीन प्रकृतिक, दो प्रकृतिक और एक प्रकृतिक ये पाँच बन्धस्थान होते हैं। इन सभी बन्धस्थानोंका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि प्रत्येक भागका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। इसके आगे सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानमें एक प्रकृतिक बन्धस्थानका भी अभाव है, क्योंकि वहाँ मोहनीय कर्मके

बन्धका कारणभूत बादर कषाय नहीं पाया जाता है। इस प्रकार मोहनीय कर्मकी उत्तर प्रकृतियोंके कुल बन्धस्थान दस हैं, यह सिद्ध हुआ।

मोहनीय कर्मके बन्धस्थानों की उक्त विशेषताओं का ज्ञापक कोष्ठक—

[१५]

बन्धस्थान	गुणस्थान	भंग	काल	
			जघन्य	उत्कृष्ट
२२ प्र०	१ला	६	अन्तर्मु०	देशोन अपा०
२१ प्र०	२रा	४	एक समय	छह आवलि
१७ प्र०	३रा, ४था	२	अन्तर्मुहू०	साधिक तेतीस सागर
१३ प्र०	५वा	२	,,	देशोन पूर्वकोटि
९ प्र०	६ठा, ७वा, ८वां	२	,,	,,
५ प्र०	९वां, प्रथम भा०	१	एक समय	अन्तर्मु०
४ प्र०	,, दूसरा ,,	१	,,	,,
३ प्र०	,, तीसरा ,,	१	,,	,,
२ प्र०	,, चौथा ,,	१	,,	,,
१ प्र०	,, पांचवां ,,	१	,,	,,

नौ प्रकृतिक बन्धस्थान प्राप्त होता है। यद्यपि अरति और शोक का बन्ध छठे गुणस्थान तक ही होता है तो भी सातवें और आठवें गुणस्थानमें इनकी पूर्ति हास्य और रतिसे हो जाती है, अत सातवें और आठवें गुणस्थानमें भी नौ प्रकृतिक बन्धस्थान बन जाता है। इस बन्धस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल देशोन पूर्वकोटि वर्षप्रमाण है। यद्यपि छठे, सातवें और आठवें गुणस्थानका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं है फिर भी परिवर्तन क्रमसे छठे और सातवें गुणस्थानमें एक जीव देशोन पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण कालतक रह सकता है, अत नौ प्रकृतिक बन्धस्थान का उत्कृष्ट काल उक्त प्रमाण प्राप्त हो जाता है। हास्य, रति, भय और जुगुप्साका बन्ध आठवें गुणस्थानके अन्तिम समय तक ही होता है, अत पूर्वोक्त नौ प्रकृतियोंमें से इन चार प्रकृतियोंके घटा देने पर अनिवृत्ति बादरसम्पराय गुणस्थानके प्रथम भागमें पॉच प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। दूसरे भागमें पुरुष वेदका बध नहीं होता, अत वहॉ चार प्रकृतिक बधस्थान होता है। तीसरे भागमें क्रोधसञ्ज्वलनका बन्ध नहीं होता, अत वहाँ तीन प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। चौथे भागमें मानसञ्ज्वलनका बन्ध नहीं होता, अत वहॉ दो प्रकृतिक बन्धस्थान होता है और पॉचवें भागमें मायासञ्ज्वलनका बन्ध नहीं होता, अत वहॉ एक प्रकृतिक बधस्थान होता है। इस प्रकार अनिवृत्ति बादरसपराय गुणस्थानके पॉच भागोंमें पॉच प्रकृतिक, चार प्रकृतिक, तीन प्रकृतिक, दो प्रकृतिक और एक प्रकृतिक ये पाँच बन्धस्थान होते हैं। इन सभी बन्धस्थानोंका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि प्रत्येक भागका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। इसके आगे सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानमें एक प्रकृतिक बन्धस्थानका भी अभाव है, क्योंकि वहाँ मोहनीय कर्मके

बन्धका कारणभूत बादर कषाय नहीं पाया जाता है। इस प्रकार मोहनीय कर्मकी उत्तर प्रकृतियोंके कुल बन्धस्थान दस हैं, यह सिद्ध हुआ।

मोहनीय कर्मके बन्धस्थानों की उक्त विशेषताओं का ज्ञापक कोष्टक—

[१५]

बन्धस्थान	गुणस्थान	भंग	काल	
			जघन्य	उत्कृष्ट
२२ प्र०	१ला	६	अन्तर्मु०	देशोन अपा०
२१ प्र०	२रा	४	एक समय	छह आवलि
१७ प्र०	३रा, ४था	२	अन्तर्मुहू०	साधिक तेतीस सागर
१३ प्र०	५वा	२	,,	देशोन पूर्वकोटि
९ प्र०	६ठा, ७वा, ८वाँ	२	,	,,
५ प्र०	९वाँ, प्रथम भा०	१	एक समय	अन्तर्मु०
४ प्र०	,, दूसरा ,,	१	,,	,
३ प्र०	,, तीसरा ,	१	,,	,,
२ प्र०	, चौथा ,,	१	,,	,,
१ प्र०	,, पाँचवाँ ,,	१	,,	,

वेदक सम्यक्त्वपूर्वक अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसयोजना करके चौबीस प्रकृतियोंकी सत्तावाला हो जाता है तब अट्ठाईस प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होता है। तथा इसका उत्कृष्ट काल साधिक एक सौ बत्तीस सागर है। यहाँ साधिकसे पल्यके असंख्यातवे भाग प्रमाण कालका ग्रहण किया है। खुलासा इस प्रकार है—कोई एक मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करके अट्ठाईस प्रकृतियोंकी सत्तावाला हुआ। तदनन्तर वेदक सम्यक्त्वको प्राप्त करके प्रथम छयासठ सागर काल तक सम्यक्त्वके साथ परिभ्रमण किया। फिर अन्तर्मुहूर्त काल तक सम्यग्मिथ्यात्वमें रहकर वेदक सम्यक्त्वको प्राप्त करके दूसरी बार छयासठ सागर काल तक सम्यक्त्वके साथ परिभ्रमण किया। फिर अन्तमें मिथ्यात्वको प्राप्त होकर सम्यक्त्व प्रकृतिके सबसे उत्कृष्ट पल्यके असंख्यातवे भाग प्रमाण कालके द्वारा सम्यक् प्रकृतिकी उद्वलना

---

(१) वेदकसम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना करता है इस मान्यताके विषयमें सब दिगम्बर व श्वेताम्बर आचार्य एकमत हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त जयधवला टीकामें एक मतका उल्लेख और किया है। वहां बतलाया है कि उपशमसम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसयोजना करते हैं इस विषयमें दो मत हैं। एक मत तो यह है कि उपशम सम्यक्त्वका काल थोड़ा है और अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसयोजनाका काल बड़ा है इसलिये उपशम सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसयोजना नहीं करता है। तथा दूसरा मत यह है कि अनन्तानुबन्धी चतुष्कके विसयोजना कालसे उपशमसम्यक्त्वका काल बड़ा है इस लिये उपशम सम्यग्दृष्टि जीव भी अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसयोजना करता है। जिन उच्चारणावृत्तियोंके आधारसे जयधवला टीका लिखी गई है उनमें इस दूसरे मतको प्रधानता दी गई है, यह जयधवला टीकाके अवलोकन से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है।

करके सत्ताईस प्रकृतियोंकी सत्तावाला हुआ। इस प्रकार अट्ठाईस प्रकृतिक सत्त्वस्थानका उत्कृष्ट काल पल्यके असंख्यातवें भागसे अधिक एक सौ बत्तीस सागर होता है। ऐसा जीव यद्यपि मिथ्यात्वमें न जाकर क्षपकश्रेणी पर भी चढ़ता है और सत्तास्थानोंको प्राप्त करता है पर इससे उक्त उत्कृष्ट काल नहीं प्राप्त होता, अत यहाँ उसका उल्लेख नहीं किया। इसमें से सम्यक्त्व प्रकृतिकी

---

(१) पंचसंग्रह के सप्ततिकासंग्रहकी गाथा ४५ व उसकी टीकामें २८ प्रकृतिक सत्तास्थानका उत्कृष्ट काल पल्यका असंख्यातवां भाग अधिक १३२ सागर बतलाया है। किन्तु दिगम्बर परम्परामें इसका उत्कृष्ट काल पल्यके तीन असंख्यातवें भाग अधिक १३२ सागर बतलाया है। इस मत भेदका कारण यह है कि—

श्वेताम्बर परम्परामें २६ प्रकृतियोंकी सत्तावाला मिथ्यादृष्टि ही मिथ्यात्वका उपशम करके उपशम सम्यग्दृष्टि होता है ऐसी मान्यता है तद्नुसार केवल सम्यक्त्वकी उद्वलनाके अन्तिम कालमें जीव उपशमसम्यक्त्वको नहीं प्राप्त कर सकता है। अत यहां २८ प्रकृतिक सत्तास्थानका उत्कृष्ट काल पल्यका असंख्यातवां भाग अधिक १३२ सागर ही प्राप्त होता है क्योंकि जो २८ प्रकृतियोंकी सत्तावाला ६६ सागर तक वेदक सम्यक्त्वके साथ रहा। पश्चात् सम्यग्मिथ्यादृष्टि हुआ। तत्पश्चात् पुन ६६ सागर तक वेदक सम्यक्त्वके साथ रहा। और अन्तमें जिसने मिथ्यादृष्टि होकर पल्यके असंख्यातवें भाग काल तक सम्यक्त्वकी उद्वलना की। उसके २८ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका इससे अधिक काल नहीं पाया जाता, क्योंकि इसके बाद वह नियमसे २७ प्रकृतिक सत्तास्थानवाला हो जाता है।

किन्तु दिगम्बर परम्परामें यह मान्यता है कि २६ और २७ प्रकृतियों की सत्तावाला मिथ्यादृष्टि तो नियमसे उपशम सम्यक्त्वको ही उत्पन्न करता है किन्तु २८ प्रकृतियोंकी सत्तावाला वह जीव भी उपशम सम्यक्त्वको ही

उद्वलना हो जाने पर सत्ताईस प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। यह स्थान मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिके होता है। इसका काल पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण है, क्योंकि सम्यक्त्व प्रकृतिकी उद्वलना हो जाने के पश्चात् सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिकी उद्वलनामें पल्यका असंख्यातवाँ भाग काल लगता है और जब तक सम्यग्मिथ्यात्वकी उद्वलना होती रहती है तब तक यह जीव सत्ताईस

उत्पन्न करता है जिसके वेदकसम्यक्त्वके योग्य काल समाप्त हो गया है। तदनुसार यहाँ २८ प्रकृतिक सत्तास्थानका उत्कृष्ट काल पल्यके तीन असंख्यातवें भाग अधिक १३२ सागर बन जाता है। यथा—कोई एक मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करके २८ प्रकृतियोंकी सत्तावाला हुआ। तदनन्तर मिथ्यात्वको प्राप्त होकर सम्यक्त्वके सबसे उत्कृष्ट उद्वलना काल पल्यके असंख्यातवें भागके व्यतीत होने पर वह २७ प्रकृतियोंकी सत्तावाला होता पर ऐसा न होकर वह उद्वलनाके अन्तिम समयमें पुन उपशम-सम्यक्त्वको प्राप्त हुआ। तदनन्तर प्रथम छ्यासठ सागर काल तक सम्यक्त्वके साथ परिभ्रमण करके और मिथ्यात्वको प्राप्त होकर पुन सम्यक्त्वके सबसे उत्कृष्ट पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण उद्वलना कालके अन्तिम समयमें उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त हुआ। तदनन्तर दूसरी बार छ्यासठ सागर काल तक सम्यक्त्वके साथ परिभ्रमण करके और अन्तमें मिथ्यात्वको प्राप्त होकर पल्यके असंख्यातवें भाग कालके द्वारा सम्यक्त्वकी उद्वलना करके २७ प्रकृतियोंकी सत्तावाला हुआ। इस प्रकार २८ प्रकृतिक सत्तास्थानका उत्कृष्ट काल पल्यके तीन असंख्यातवें भाग अधिक १३२ सागर प्राप्त होता है। कालका यह उल्लेख जयधवला टीकामें मिलता है।

(१) दिगम्बर परम्पराके अनुसार कषायप्राभृत की चूर्णिमें इस स्थानका स्वामी मिथ्यादृष्टि जीव ही बतलाया है। यथा—'सत्तावीसाए विहत्तिओ को होदि ? मिच्छाइट्ठी।'

प्रकृतियोंकी सत्तास्थान ही रहता है, अतः सत्ताईसमें प्रकृतिक सत्त्वस्थानका काल पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण कहा। इसीसे उद्वेलना द्वारा सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके क्षय होने पर छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। तात्पर्य यह है कि छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानमें सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वका सत्त्व नहीं होता। यह स्थान या मिथ्यादृष्टि जीवके ही होता है। कालकी अपेक्षा इस स्थानके तीन भंग हैं—अनादि अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त। इनमें से अनादि-अनन्त विकल्प अभव्योंके होता है, क्योंकि इनके छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानका आदि और अन्त नहीं पाया जाता। अनादि-सान्त विकल्प भव्योंके होता है, क्योंकि अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीवके छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान अनादि होता है पर जब वह सम्यक्त्वको प्राप्त कर लेता है, तब उसके इस स्थानका अन्त देखा जाता है। तथा सादि-सान्त विकल्प सादि मिथ्यादृष्टि जीवके होता है क्योंकि अट्ठाईस प्रकृ-

(१) [illegible]

उद्वलना हो जाने पर सत्ताईस प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। यह स्थान मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिके होता है। इसका काल पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण है, क्योंकि सम्यक्त्व प्रकृतिकी उद्वलना हो जाने के पश्चात् सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिकी उद्वलनामें पल्यका असंख्यातवाँ भाग काल लगता है और जब तक सम्यग्मिथ्यात्वकी उद्वलना होती रहती है तब तक यह जीव सत्ताईस

उत्पन्न करता है जिसके वेदकसम्यक्त्वके योग्य काल समाप्त हो गया है। तदनुसार यहाँ २८ प्रकृतिक सत्तास्थानका उत्कृष्ट काल पल्यके तीन असंख्यातवें भाग अधिक १३२ सागर बन जाता है। यथा—कोई एक मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करके २८ प्रकृतियोंकी सत्तावाला हुआ। तदनन्तर मिथ्यात्वको प्राप्त होकर सम्यक्त्वके सबसे उत्कृष्ट उद्वलना काल पल्यके असंख्यातवें भागके व्यतीत होने पर वह २७ प्रकृतियोंकी सत्तावाला होता पर ऐसा न होकर वह उद्वलनाके अन्तिम समयमें पुन उपशमसम्यक्त्वको प्राप्त हुआ। तदनन्तर प्रथम छ्यासठ सागर काल तक सम्यक्त्वके साथ परिभ्रमण करके और मिथ्यात्वको प्राप्त होकर पुन सम्यक्त्वके सबसे उत्कृष्ट पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण उद्वलना कालके अन्तिम समयमें उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त हुआ। तदनन्तर दूसरी बार छ्यासठ सागर काल तक सम्यक्त्वके साथ परिभ्रमण करके और अन्तमें मिथ्यात्वको प्राप्त होकर पल्यके असंख्यातवें भाग कालके द्वारा सम्यक्त्वकी उद्वलना करके २७ प्रकृतियोंकी सत्तावाला हुआ। इस प्रकार २८ प्रकृतिक सत्तास्थानका उत्कृष्ट काल पल्यके तीन असंख्यातव भाग अधिक १३२ सागर प्राप्त होता है। कालका यह उल्लेख जयधवला टीकामें मिलता है।

(१) दिगम्बर परम्पराके अनुसार कषायप्राभृत की चूर्णिमें इस स्थानका स्वामी मिथ्यादृष्टि जीव ही बतलाया है। यथा—'सत्तावीसाए विहत्तिओ को होदि ? मिच्छाइट्ठी।'

अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसयोजना हो जाने पर चौवीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान प्राप्त होता है। यह स्थान तीसरे गुणस्थानसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। इसका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि जिस जीवने अनन्तानुबन्धीकी विसयोजना करके चौबीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानको प्राप्त किया है वह यदि सबसे जघन्य अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर मिथ्यात्वका क्षय कर देता है तो उसके चौबीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त देखा जाता है। तथा इसका उत्कृष्ट काल एकसौ बत्तीस सागर है, क्योंकि अनन्तानुबन्धीकी विसयोजना करने के बाद जो वेदक सम्यग्दृष्टि छयासठ सागर तक वेदक सम्यक्त्वके साथ रहा, फिर अन्तर्मुहूर्तके लिये सम्यग्मिथ्यादृष्टि हुआ। इसके बाद पुन छयासठ सागर काल तक वेदक सम्यग्दृष्टि रहा। अनन्तर मिथ्यात्वकी क्षपणा की। इस प्रकार अनन्तानुबन्धीकी विसयोजना होनेके समयसे लेकर मिथ्यात्वकी क्षपणा होने तकके कालका योग

---

(१) कषायप्राभृतकी चूर्णिमें २४ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका उत्कृष्ट काल साधिक एक सौ बत्तीस सागर बतलाया है। यथा—

'चउवीसविहत्ती केवचिर कालादो? जहण्णेण अंतोमुहुत्त, उक्कस्सेण बे छावट्ठिसागरोवमाणि सादिरेयाणि।

इसका खुलासा करते हुए जयधवला टीकामें लिखा है कि उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करके जिसने अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना की। अनन्तर छयासठ सागर काल तक वेदक सम्यक्त्वके साथ रहा। फिर अन्तर्मुहूर्त तक सम्यग्मिथ्यादृष्टि रहा। पुन छयासठ सागर काल तक वेदक सम्यग्दृष्टि रहा। अनन्तर मिथ्यात्वकी क्षपणा की। इस प्रकार अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना हो चुकनेके समयसे लेकर मिथ्यात्वकी क्षपणा होने तकके कालका योग साधिक एक सौ बत्तीस सागर होता है।

तियोंकी सत्तावाले जिस सादि मिथ्यादृष्टि जीवने सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वकी उद्वलना करके छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानको प्राप्त किया है, उसके छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानका पुन विनाश देखा जाता है। इनमेंसे सादि सान्त विकल्पकी अपेक्षा छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानको प्राप्त करनेके बाद जो त्रिकरणद्वारा अन्तर्मुहूर्त में सम्यक्त्वको प्राप्त करके पुन अट्ठाईस प्रकृतियोंकी सत्तावाला हो गया है उसके उक्त स्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होता है। तथा उत्कृष्ट काल देशोन अपार्धपुद्गल परावर्त प्रमाण है, क्योंकि कोई एक अनादि मिथ्यादृष्टि जीव उपसम सम्यक्त्वको प्राप्त हुआ और मिथ्यात्वमें जाकर उसने पल्यके असख्यातवें भागप्रमाण कालके द्वारा सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वकी उद्वलना करके छब्बीस प्रकृतियोंके सत्त्वको प्राप्त किया। पुन वह शेष अपार्ध पुद्गल परावर्त काल तक मिथ्यादृष्टि ही रहा किन्तु जब ससारमें रहनेका काल अन्तर्मुहूर्त शेष रहा तब वह पुन सम्यग्दृष्टि हो गया तो इस प्रकार छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानका उत्कृष्ट काल पल्यका असख्यातवाँ भाग कम अपार्ध पुद्गल परावर्त प्रमाण प्राप्त होता है। मोहनीयकी अट्ठाईस प्रकृतियोंकी सत्तावाले जीवके

---

(१) कषायप्राभृतकी चूर्णिमें सादि सान्त २६ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य काल एक समय बतलाया है। यथा—

'छब्बीसविहत्ती केवचिरं कालादो ? जहण्णेण एयसमओ।'

सम्यक्त्वकी उद्वलनामें अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहने पर जो त्रिकरण क्रियाका प्रारम्भ कर देता है और उद्वलना होनेके बाद एक समयका अन्तराल देकर जो उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त हो जाता है उसके २६ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य काल एक समय प्राप्त होता है, यह उक्त कथनका अभिप्राय है।

अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसयोजना हो जाने पर चौबीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान प्राप्त होता है। यह स्थान तीसरे गुणस्थानसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। इसका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि जिस जीवने अनन्तानुबन्धीकी विसयोजना करके चौबीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानको प्राप्त किया है वह यदि सबसे जघन्य अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर मिथ्यात्वका क्षय कर देता है तो उसके चौबीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त देखा जाता है। तथा इसका उत्कृष्ट काल एकसौ बत्तीस सागर है, क्योंकि अनन्तानुबन्धीकी विसयोजना करने के बाद जो वेदक सम्यग्दृष्टि छ्यासठ सागर तक वेदक सम्यक्त्वके साथ रहा, फिर अन्तर्मुहूर्तके लिये सम्यग्मिथ्यादृष्टि हुआ। इसके बाद पुन छ्यासठ सागर काल तक वेदक सम्यग्दृष्टि रहा। अनन्तर मिथ्यात्वकी क्षपणा की। इस प्रकार अनन्तानुबन्धीकी विसयोजना होनेके समयसे लेकर मिथ्यात्वकी क्षपणा होने तकके कालका योग

---

(१) कषायप्राभृतकी चूर्णिमें २४ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका उत्कृष्ट काल साधिक एक सौ बत्तीस सागर बतलाया है। यथा—

'चउवीसविहत्ती केवचिर कालादो? जहण्णेण अंतोमुहुत्त, उक्कस्सेण बे छावट्ठिसागरोवमाणि सादिरेयाणि।

इसका खुलासा करते हुए जयधवला टीकामें लिखा है कि उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करके जिसने अनन्तानुबन्धीकी विसयोजना की। अनन्तर छ्यासठ सागर काल तक वेदक सम्यक्त्वके साथ रहा। फिर अन्तर्मुहूर्त तक सम्यग्मिथ्यादृष्टि रहा। पुन छ्यासठ सागर काल तक वेदक सम्यग्दृष्टि रहा। अनन्तर मिथ्यात्वकी क्षपणा की। इस प्रकार अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना हो चुकनेके समयसे लेकर मिथ्यात्वकी क्षपणा होने तकके कालका योग साधिक एक सौ बत्तीस सागर होता है।

पूरा एक सौ बत्तीस सागर होता है, अत चौवीस प्रकृतिक सत्त्व स्थानका उत्कृष्ट काल उक्त प्रमाण कहा। इस चौबीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानवाले जीवके मिथ्यात्वका क्षय हो जाने पर तेईस प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। यह स्थान चौथे गुणस्थानसे लेकर सातवें गुण स्थान तक पाया जाता है। इसका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्वकी क्षपणाका जितना काल है वही तेईस प्रकृतिक सत्त्वस्थानका काल है। इसके सम्यग्मिथ्यात्वका क्षय हो जाने पर बाईस प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। यह स्थान भी चौथे गुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थान तक ही पाया जाता है। इसका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि सम्यक्त्व की क्षपणामें जितना काल लगता है वही बाईस प्रकृतिक सत्त्वस्थानका काल है। इसके सम्यक्त्व प्रकृतिका क्षय हो जाने पर इक्कीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। यह चौथे गुणस्थानसे, लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। इसका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि क्षायिक सम्यग्दर्शनको प्राप्त करके अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर क्षपकश्रेणी पर चढकर मध्यकी आठ कषायोंका क्षय होना सम्भव है। तथा इसका उत्कृष्ट काल साधिक तेतीस सागर है, क्योंकि साधिक तेतीस सागर प्रमाण काल तक जीव

(१) कषायप्राभृतकी चूर्णिमें २१ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल साधिक तेतीस सागर बतलाया है। यथा—

'एक्कवीसाए विहत्ती केवचिरं कालादो ? जहण्णेण अंतोमुहुत्तं। उक्कस्सेण तेत्तीस सागरोवमाणि सादिरेयाणि।'

जयधवला टीकामें इस उत्कृष्ट कालका खुलासा करते हुए लिखा है कि कोई एक सम्यग्दृष्टि देव या नारकी मरकर एक पूर्वकोटिकी आयुवाले मनुष्यों में

इक्कीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानके साथ रह सकता है। इसके अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क और प्रत्याख्यानावरण चतुष्क इन आठ प्रकृतियों का क्षय हो जाने पर तेरह प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। यह स्थान क्षपकश्रेणीके नौवें गुणस्थानमें प्राप्त होता है। इसका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि तेरह प्रकृतिक सत्त्वस्थानसे बारह प्रकृतिक सत्त्वस्थानके प्राप्त होनेमें अन्तर्मुहूर्त काल लगता है। इसके नपुंसक वेदका क्षय हो जाने पर बारह प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इसका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि बारह प्रकृतिक सत्त्वस्थानसे ग्यारह प्रकृतिक

उत्पन्न हुआ। अनन्तर आठ वर्षके बाद अन्तर्मुहूर्तमें उसने क्षायिक सम्यग्दर्शनको उत्पन्न किया। फिर आयुके अन्तमें मरकर वह तेतीस सागरकी आयुवाले देवोंमें उत्पन्न हुआ। इसके बाद तेतीस सागर आयुको पूरा करके एक पूर्वकोटिकी आयुवाले मनुष्योंमें उत्पन्न हुआ और वहाँ जीवन भर २१ प्रकृतियोंकी सत्ताके साथ रहकर जब जीवनमें अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहा तब क्षपकश्रेणी पर चढ़कर १३ आदि सत्त्वस्थानोंको प्राप्त हुआ। उसके आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त कम दो पूर्वकोटि वर्ष अधिक तेतीस सागर काल तक इक्कीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान पाया जाता है।

(१) कषायप्राभृतकी चूर्णिमें १२ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य काल एक समय बतलाया है। यथा—

'णवरि बारसण्हं विहत्ती केवचिरं कालादो ? जहण्णेण एगसमओ।'

इसकी व्याख्या करते हुए जयधवला टीकामें वीरसेन स्वामीने लिखा है कि नपुंसक वेदके उदयसे क्षपकश्रेणी पर चढ़ा हुआ जीव उपान्त्य समयमें स्त्रीवेद और नपुंसकवेदके सब सत्कर्मका पुरुष वेदरूपसे संक्रमण कर देता है और तदनन्तर एक समयके लिये १२ प्रकृतिक सत्त्वस्थानवाला हो जाता है, क्योंकि इस समय नपुंसकवेदकी उदयस्थितिका विनाश नहीं होता है।

सत्त्वस्थानके प्राप्त होनेमे अन्तर्मुहूर्त काल लगता है, किन्तु जो जीव नपुसक वेदके उदयके साथ क्षपकश्रेणी पर चढता है, उसके नपुसक वेदकी क्षपणाके साथ ही स्त्री वेदका क्षय होता है, अत ऐसे जीवके वारह प्रकृतिक सत्त्वस्थान नहीं पाया जाता है। जिसने नपुसक वेदके क्षयसे बारह प्रकृतिक सत्त्वस्थान प्राप्त किया है, उसके स्त्री वेदका क्षय हो जाने पर ग्यारह प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इसका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि छह नोकपायोके क्षय होनेमें अन्तर्मुहूर्त काल लगता है। इसके छह नोकपायोका क्षय हो जाने पर पाँच प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इसका जघन्य और उत्कृष्ट काल दो समय कम दो आवलि प्रमाण है, क्योकि छह नोकपायोके क्षय होने पर पुरुप वेदका दो समय कम दो आवलि काल तक सत्त्व देखा जाता है। इसके पुरुप वेदका क्षय हो जाने पर चार प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इसका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। इसके क्रोधसज्वलनका क्षय हो जाने पर तीन प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इसका भी जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। इसी प्रकार आगेके सत्त्वस्थानोंका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त होता है। इसके मान सज्वलनका क्षय हो जाने पर दो प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इसके माया सज्वलनका क्षय हो जाने पर एक प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इस प्रकार मोहनीय कर्मके कुल सत्त्वस्थान पन्द्रह होते हैं यह सिद्ध हुआ। इस प्रकार यद्यपि क्रमसे वन्धस्थान, उदयस्थान और सत्त्वस्थानोका निर्देश कर आये हैं पर उनमें जो भग और उनके अवान्तर विकल्प प्राप्त होते हैं उनका निर्देश नहीं किया जो कि आगे किया जाने वाला है। यहाँ ग्रन्थकर्त्ताने इस गाथामें 'जाण' क्रियाका प्रयोग किया है, जिससे विदित होता है कि आचार्य इससे यह ध्वनित करते हैं कि यह सब कथन गहन है, अत प्रमादरहित होकर उसको समझो।

उक्त विशेषताओंका ज्ञापक कोष्ठक

[१७]

सत्तास्थान	गुणस्थान	काल	
		जघन्य	उत्कृष्ट
२८	१ से ११	अन्तर्मु०	साधिक १३२ सागर
२७	१ ला व ३ रा	पल्यका असं० भाग	पल्यका असं० भाग
२६	१ ला	अन्तर्मु०	देशोन अपार्ध०
२४	३ से ११	,,	१३२ सागर
२३	४ से ७	,,	अन्तर्मु०
२२	४ से ७	,,	,,
२१	४ से ११	,,	साधिक ३३ सागर
१३	९ वाँ	,,	अन्तर्मु०
१२	,,	,,	,,
११	,,	,,	,,
५	,,	दो समय कम दो आ०	दो समय कम दो आ०
४	,,	अन्तर्मु०	अन्तर्मु०
३	,,	,,	,,
२	,,	,,	,,
१	९ वाँ व १० वाँ	,,	,,

इनमें हास्य-रतिरूप एक एक भग ही पाया जाता है। इस स्थानमें से हास्य, रति, भय और जुगुप्साके कम कर देने पर पाँच प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। यहाँ एक ही भग है, क्योंकि इसमें बधनेवाली प्रकृतियोंमें विकल्प नहीं है। इसी प्रकार चार, तीन, दो और एक प्रकृतिक बन्धस्थानोमे भी एक एक ही भग होता है। इस प्रकार मोहनीय कर्मके दस बन्धस्थानोके कुल भग ६+४+२+२+२+१+१+१+१+१=२१ होते हैं, यह उक्त गाथाका तात्पर्य है।

अब इन बन्धस्थानोमे से किसमें कितने उदयस्थान होते हैं, यह बतलाते हैं—

दस बावीसे नव इक्कीस सत्ताइ उदयठाणाइ।
छाई नव सत्तरसे तेरे पंचाइ अठेव॥ १५ ॥

अर्थ—बाईस प्रकृतिक बन्धस्थानमे सातसे लेकर दस तक, इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थानमे सातसे लेकर नौ तक, सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थानमें छ से लेकर नौ तक और तेरह प्रकृतिक बन्धस्थानमें पॉचसे लेकर आठ तक प्रकृतियोका उदय जानना चाहिये।

विशेषार्थ—बाईस प्रकृतिक बन्धस्थानके रहते हुए सात प्रकृतिक, आठ प्रकृतिक, नौ प्रकृतिक और दस प्रकृतिक ये चार उदय स्थान होते हैं। इनमे से पहले सात प्रकृतिक उदयस्थान को दिखलाते हैं—एक मिथ्यात्व, दूसरी हास्य, तीसरी रति, अथवा हास्य और रतिके स्थानमे अरति और शोक, चौथी तीन वेदोमेसे कोई एक वेद, पॉचवीं अप्रत्याख्यानावरण क्रोध आदिमें से कोई एक, छठी प्रत्याख्यानावरण क्रोध आदिमें से कोई एक और सातवीं सज्वलन क्रोध आदिमे से कोई एक इन सात प्रकृतियोका उदय बाईस प्रकृतियोका बन्ध करनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवके नियम

से होता है। यहाँ भंग चौबीस होते हैं। यथा—क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारोंका उदय एक साथ नहीं होता, क्योंकि उदयकी अपेक्षा ये चारों परस्पर विरोधिनी प्रकृतियाँ हैं, अत क्रोधादिकके उदयके रहते हुए मानादिकका उदय नहीं होता। परंतु क्रोधका उदय रहते हुए उससे नीचे के सब क्रोधों का उदय अवश्य होता है। जैसे, अनन्तानुबन्धी क्रोधका उदय रहते हुए चारों क्रोधोंका उदय एकसाथ होता है। अप्रत्याख्यानावरण क्रोधका उदय रहते हुए तीन क्रोधोंका उदय एकसाथ होता है। प्रत्याख्यानावरण क्रोधका उदय रहते हुए दो क्रोधोंका उदय एकसाथ होता है तथा सञ्ज्वलन क्रोधका उदय रहते हुए एक ही क्रोधका उदय होता है। इस हिसाब से प्रकृत सात प्रकृतिक उदयस्थान में अप्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि तीन क्रोधों का उदय होता है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण मानके उदय के रहते हुए तीन मानका उदय होता है। अप्रत्याख्यानावरण माया का उदय रहते हुए तीन माया का उदय होता है और अप्रत्याख्यानावरण लोभका उदय रहते हुए तीन लोभका उदय होता है। जैसा कि हम ऊपर बतला आये हैं तदनुसार ये क्रोध, मान, माया और लोभके चार भंग स्त्री वेदके उदयके साथ होते हैं। और यदि स्त्री वेदके उदयके स्थानमें पुरुष वेदका उदय हुआ तो पुरुषवेदके उदयके साथ होते हैं। इसी प्रकार नपुसक वेदके उदयके साथ भी ये चार भंग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार ये सब मिलकर बारह भंग हुए। जो हास्य और रतिके उदयके साथ भी होते हैं। और यदि हास्य तथा रतिके स्थानमें शोक और अरति का उदय हुआ तो इनके साथ भी प्राप्त होते हैं। इस प्रकार बारह को दोसे गुणित करने पर चौबीस भंग हुए। इन्हीं भंगों को दूसरे प्रकारसे यों भी गिन सकते हैं कि हास्य-रति युगल के साथ स्त्री वेदका एक भंग तथा शोक अरति युगल के साथ स्त्री वेदका

एक भग इस प्रकार स्त्री वेदके साथ दो भग हुए। तथा पुरुषवेद और नपुसकवेदके साथ भी इसी प्रकार दो दो भग होंगे। ये कुल भग छह हुए। जो छहो भग क्रोधके साथ भी होंगे। क्रोधके स्थानमें मानका उदय होने पर मानके साथ भी होंगे। तथा इसी प्रकार माया और लोभके साथ भी होंगे, अत पूर्वोक्त छह भगोको चारसे गुणित कर देने पर कुल भग चौबीस हुए। यह एक चौबीसी हुई।

इन सात प्रकृतियोके उदय में भय, जुगुप्सा और अनन्तानुबन्धी चतुष्कमेंसे कोई एक कषाय इस प्रकार इन तीन प्रकृतियोंमें से क्रमश एक एक प्रकृतिके उदयके मिलाने पर आठ प्रकृतियोका उदय तीन प्रकारसे प्राप्त होता है और इसीलिये यहाँ भगोकी तीन चौबीसी प्राप्त होती है, क्योकि सात प्रकृतियोके उदयमें भयका उदय मिलानेपर आठके उदयके साथ भगोकी पहली चौबीसी प्राप्त हुई। तथा पूर्वोक्त सात प्रकृतियोके उदयमे जुगुप्साका उदय मिलाने पर आठके उदयके साथ भगोंकी दूसरी चौबीसी प्राप्त हुई। इसी प्रकार पूर्वोक्त सात प्रकृतियोंके उदयमें अनन्तानुबन्धी क्रोधादिकमे से किसी एक प्रकृतिके उदयके मिलाने पर आठके उदयके साथ भगो की तीसरी चौबीसी प्राप्त हुई। इस प्रकार आठ प्रकृतिक उदयस्थान के रहते हुए भगो की तीन चौबीसी प्राप्त हुई।

शका—जब कि मिथ्यादृष्टि जीवके अनान्तानुबन्धी चतुष्कका उदय नियमसे होता है तब यहाँ सात प्रकृतिक उदयस्थान में और भय या जुगुप्सामें से किसी एकके उदयसे प्राप्त होनेवाले पूर्वोक्त दो प्रकारके आठ प्रकृतिक उदयस्थानोंमें उसे अनन्तानुबन्धी के उदयसे रहित क्यों बतलाया ?

समाधान—जो सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी चतुष्की

विसयोजना करके रह गया। क्षपणाके योग्य सामग्रीके न मिलने से उसने मिथ्यात्व आदिका क्षय नहीं किया। अनन्तर कालान्तर में वह मिथ्यात्वको प्राप्त हुआ अत वहाँ उसने मिथ्यात्वके निमित्त से पुन अनन्तानुबन्धी चतुष्कका बन्ध किया। ऐसे जीवके एक आवलिका प्रमाण कालतक अनन्तानुबन्धी का उदय नहीं होता किन्तु आवलिकाके व्यतीत हो जाने पर नियमसे होता है। अत मिथ्या दृष्टि जीवके अनन्तानुबन्धीके उदयसे रहित स्थान बन जाते हैं। यही सबब है कि सात प्रकृतिक उदयस्थानमें और भय या जुगुप्साके उदयसे प्राप्त होनेवाले आठ प्रकृतिक उदयस्थानमें अनन्तानुबन्धीका उदय नहीं बतलाया।

शका—किसी भी कर्मका उदय अबाधाकालके क्षय होने पर होता है और अनन्तानुबन्धी चतुष्कका जघन्य अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट अबाधाकाल चार हजार वर्ष है, अत बन्धावलिके बाद ही अनन्तानुबन्धीका उदय कैसे हो सकता है?

समाधान—बात यह है कि बन्धसमयसे ही अनन्तानुबन्धीकी सत्ता हो जाती है और सत्ताके हो जाने पर प्रवर्तमान बन्धमें पतद्ग्रहता आ जाती है, और पतद्ग्रहपनेके प्राप्त हो जाने पर शेष समान जातीय प्रकृतिदलिकका सक्रमण होता है जो पतद्ग्रहप्रकृतिरूपसे परिणम जाता है, जिसका सक्रमावलिके बाद उदय होता है, अत आवलिकाके बाद अनन्तानुबन्धी का उदय होने लगता है यह कहना विरोधको नहीं प्राप्त होता है।

इस शका समाधानका यह तात्पर्य है कि अनन्तानुबन्धी चतुष्क विसयोजनाप्रकृति है। विसयोजना वैसे तो है क्षय ही, किन्तु विसयोजना और क्षय में यह अन्तर है कि विसयोजना के हो जाने पर कालान्तरमें योग्य सामग्री के मिलने पर विसयोजित

णिगत सास्वादनसम्यग्दृष्टि जीवकी अपेक्षा ये सात प्रकृतिक आदि तीन उदयस्थान कहे हैं।

किन्तु जो श्रेणिगत सासादन सम्यग्दृष्टि जीव है उसके विषय में दो उपदेश पाये जाते हैं। कुछ आचार्योंका कहना है कि जिसके अनन्तानुबन्धीकी सत्ता है ऐसा जीव भी उपशमश्रेणिको प्राप्त होता है। इन आचार्यों के मतसे अनन्तानुबन्धीकी भी उपशमना होती है। इस मतकी पुष्टि निम्न गाथासे होती है।

'अणदंसणपुंसित्थीवेयछक्कं च पुरिसवेयं च।'

अर्थात्—'पहले अनन्तानुबन्धी कषायका उपशम करता है। उसके बाद दर्शनमोहनीयका उपशम करता है। फिर क्रमशः नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, छह नोकषाय और पुरुषवेदका उपशम करता है।'

और ऐसा जीव श्रेणिसे गिरकर सासादन भावको भी प्राप्त होता है। अतः इसके भी पूर्वोक्त तीन उदयस्थान होते हैं।

किन्तु अन्य आचार्योंका मत है कि जिसने अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना कर दी है ऐसा जीव ही उपशमश्रेणिको प्राप्त होता है, अनन्तानुबन्धीकी सत्तावाला जीव नहीं। इनके मतसे ऐसा

(१) दिगम्बर परम्परामें अनन्तानुबन्धीकी उपशमनावाले मतका षट्खण्डागम, कषायप्राभृत व उनकी टीकाओंमें उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने अपने गोम्मटसार कर्मकाण्डमें इस मतका अवश्य उल्लेख किया है। वहाँ उपशमश्रेणिमें २८, २४ और २१ प्रकृतिक तीन सत्त्वस्थान बतलाये हैं। यथा—

'अडचउरेक्कावीसं उवसमसेढिम्मि।'—गो० क० गा० ५११।

(२) आ० नि० गा० ११६। प० क० प्र० गा० ६८।

जीव उपशम श्रेणिसे गिर कर सास्वादनभावको नहीं प्राप्त होता है क्योंकि उसके अनन्तानुबन्धीका उदय सम्भव नहीं। और सास्वादनसम्यक्त्वकी प्राप्ति तो अनन्तानुबन्धीके उदयसे होती है, अन्यथा नहीं। कहा भी है—

---

(१) यद्यपि यहाँ हमने आचार्य मलयगिरिकी टीकाके अनुसार यह बतलाया है कि अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करके जो जीव उपशमश्रेणि पर चढ़ता है वह गिरकर सास्वादन गुणस्थानको नहीं प्राप्त होता है। तथापि कर्मप्रकृतिक आदिके निम्न प्रमाणोंसे ऐसा ज्ञात होता है कि ऐसा जीव भी सास्वादन गुणस्थानको प्राप्त होता है। यथा—

कर्मप्रकृतिकी चूर्णिमें लिखा है—

'चरित्तुवसमणं काउकामो जति वेयगसम्मदिट्ठी तो पुव्वं अणंताणुबंधिणो नियमा विसंजोएति। एएण कारणेण विरयाणं अणंताणुबंधिविसंजोयणा भन्नति।—' कर्मप्र० चु० उपश० गा० ३०।

अर्थात् जो वेदकसम्यग्दृष्टि जीव चारित्रमोहनीयकी उपशमना करता है वह नियमसे अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना करता है। और इसी कारणसे विरत जीवोंके अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना कही गई है।

फिर आगे चलकर उसीके मूलमें लिखा है—

'आसाणं वा वि गच्छेज्जा।'—कर्मप्र० उपश० गा० ६२।

अर्थात् ऐसा जीव उपशमश्रेणिसे उतरकर सास्वादन गुणस्थानको भी प्राप्त होता है।

इन उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि कर्मप्रकृतिके कर्ताका यही एक मत रहा है कि अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना किये बिना उपशमश्रेणि पर आरोहण करना सम्भव नहीं, और वहाँसे उतरनेवाला यह जीव सास्वादन गुणस्थानको भी प्राप्त होता है। यद्यपि पंचसंग्रहके उपशमना प्रकरणसे कर्मप्रकृतिके मतकी ही पुष्टि होती है किन्तु उसके संक्रमप्रकरणने इसका

'अणंताणुबंधुदयरहियस्स सासणभावो न संभवइ।'

अर्थात् अनन्तानुबन्धीके उदयके बिना सास्वादन सम्यक्त्वका प्राप्त होना सम्भव नहीं है।

शंका—जिस समय कोई एक जीव मिथ्यात्वके अभिमुख तो होता है किन्तु मिथ्यात्वको प्राप्त नहीं होता उस समय उन आचार्योंके मतानुसार उसके अनन्तानुबन्धीके उदयके बिना भी सास्वादन गुणस्थानकी प्राप्ति हो जायगी, यदि ऐसा मान लिया जाय तो इसमें क्या आपत्ति है?

समाधान—यह मानना ठीक नहीं, क्यों कि ऐसा मानने पर उसके छह प्रकृतिक, सात प्रकृतिक, आठ प्रकृतिक और नौ प्रकृतिक ये चार उदयस्थान प्राप्त होते हैं। पर आगममें ऐसा बतलाया नहीं, और वे आचार्य भी ऐसा मानते नहीं। इससे

समर्थन नहीं होता, क्योंकि वहाँ सास्वादन गुणस्थानमें २१ से २५ का ही संक्रमण बतलाया गया है।

दिगम्बर परम्परामें एक षट्खण्डागमकी और दूसरी कषायप्राभृतकी ये दो परम्पराएँ मुख्य हैं। इनमेंसे षट्खण्डागमकी परम्पराके अनुसार उपशमश्रेणिसे च्युत हुआ जीव सास्वादन गुणस्थानको नहीं प्राप्त होता है। वीरसेन स्वामीने अपनी धवला टीकामें भगवान पुष्पदन्त भूतबलिके उपदेश का इसी रूपसे उल्लेख किया है। यथा—

'भूदबलिभयवंतस्सुवएसेण उवसमसेढीदो ओदिण्णो ण सासणत्तं पडिवज्जदि।'—जीव० चू० पृ० ३३१।

किन्तु कषायप्राभृतकी परम्पराके अनुसार तो जो जीव उपशमश्रेणि पर चढ़ा है, वह उससे च्युत होकर सास्वादन गुणस्थानको भी प्राप्त हो सकता है। तथापि कषायप्राभृतकी चूर्णिमें अनन्तानुबन्धी उपशमना प्रकृति है इसका स्पष्टरूपसे निषेध किया है और साथ ही यह भी लिखा है कि

सिद्ध है कि अनन्तानुबन्धीके उदयके बिना सास्वादनसम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती।

सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थानके रहते हुए छह प्रकृतिक, सात प्रकृतिक, आठप्रकृतिक और नौ प्रकृतिक ये चार उदयस्थान होते हैं। सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थान तीसरे और चौथे गुणस्थानमें होता है। उनमेंसे मिश्र गुणस्थानमें सत्रह प्रकृतियोंका बन्ध होते हुए सात प्रकृतिक, आठ प्रकृतिक और नौ प्रकृतिक ये तीन उदयस्थान होते हैं। पहले सास्वादन गुणस्थानमें जो सात प्रकृतिक उदयस्थान बतला आये हैं उसमें से अनन्तानुबन्धीके एक भेदको घटाकर मिश्रमोहनीयके मिला देनेपर मिश्र गुणस्थानमें सात प्रकृतिक उदयस्थान प्राप्त होता है क्यो कि मिश्र गुणस्थानमें अनतानुबन्धीका उदय न होकर मिश्र मोहनीयका उदय होता है, अत यहाँ अनन्तानुबन्धीका एक भेद घटाया गया है और मिश्रमोहनीय प्रकृति मिलाई गई है। यहाँ भी पहलेके समान भगोंकी एक चौबीसी प्राप्त होती है। इस सात प्रकृतिक उदयस्थानमें भय या जुगुप्साके

'वेदकसम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना किये बिना कषायोंको नहीं उपशमाता है।' यह केवल कषायप्राभृतके चूर्णिकारका ही मत नहीं है, किन्तु मूल कषायप्राभृतसे भी इस मतकी पुष्टि होती है। कषायप्राभृतके प्रकृतिस्थान सक्रम अनुयोगद्वारमें जो ३२ गाथाएँ आई हैं उनमेंसे सातवीं गाथामें बतलाया है कि '१३, ९, ७, १७, ५ और २१ इन छह पतद्ग्रहस्थानोंमें २१ प्रकृतियोंका सक्रमण होता है।' यहाँ जो इक्कीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थानमें इक्कीस प्रकृतियोंका सक्रमण बतलाया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कषायप्राभृतकी चूर्णिमें जो यह मत बतलाया है कि जिसने अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसयोजना की है ऐसा जीव भी सास्वादन गुणस्थानको प्राप्त हो सकता है सो यह मत कषायप्राभृत मूलसे समर्थित है।

मिलाने पर आठ प्रकृतिक उदयस्थान दो प्रकारसे प्राप्त होता है। यहाँ भी भगोंकी दो चौबीसी प्राप्त होती हैं। फिर इस सातप्रकृतिक उदयस्थानमें भय और जुगुप्साके मिलाने पर नौ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। पूर्वोक्त प्रकारसे यहाँ भी भगोंकी एक चौबीसी प्राप्त होती है। इस प्रकार मिश्र गुणस्थान में सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थानके रहते हुए भगोंकी कुल चार चौबीसी प्राप्त हुईं।

चौथे गुणस्थानमें सत्रह प्रकृतियोंका बन्ध होते हुए छह-प्रकृतिक, सात प्रकृतिक आठ प्रकृतिक और नौ प्रकृतिक ये चार उदयस्थान होते हैं। पहले मिश्र गुणस्थानमें जो सात प्रकृतिक उदयस्थान बतला आये हैं उसमें से मिश्रमोहनीय के घटा देनेपर चौथे गुणस्थानमें छह प्रकृतिक उदयस्थान होता है जिसमें भगोंकी एक चौबीसी होती है। इसमें भय, जुगुप्सा या सम्यक्त्वमोहनीय इन तीन प्रकृतियोंमें से किसी एक प्रकृतिके मिलाने पर तीन प्रकार से सात प्रकृतिक उदयस्थान प्राप्त होता है। यहाँ एक एक भेदमें भगोंकी एक एक चौबीसी होती है अत सात प्रकृतिक उदयस्थानमें भगोंकी तीन चौबीसी प्राप्त हुईं। फिर छह प्रकृतिक उदयस्थानमें भय और जुगुप्सा, अथवा भय और सम्यक्त्व मोहनीय या जुगुप्सा और सम्यक्त्व मोहनीय इन दो प्रकृतियोंके मिलाने पर आठ प्रकृतिक उदयस्थान भी तीन प्रकार से प्राप्त होता है। यहाँ एक एक भेदमें भङ्गोंकी एक एक चौबीसी होती है, अत आठ प्रकृतिक उदयस्थान में भङ्गोंकी तीन चौबीसी प्राप्त हुईं। अनन्तर छह प्रकृतिक उदयस्थानमें भय, जुगुप्सा और सम्यक्त्वमोहनीय इन तीनों प्रकृतियोंके एक साथ मिला देने पर नौ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भगोंकी एक चौबीसी प्राप्त होती। इस प्रकार चौथे गुणस्थानमें सत्रह प्रकृतियोंका बन्ध

रहते हुए भंगोंकी कुल आठ चौबीसी प्राप्त हुईं। जिनमें से चार चौबीसी सम्यक्त्वमोहनीयके उदयके बिना होती हैं और चार चौबीसी सम्यक्त्वमोहनीयके उदय सहित होती हैं जो सम्यक्त्व-मोहनीयके उदयके बिना होती हैं वे उपशमसम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवोंके जानना चाहिये। और जो सम्यक्त्वमोहनीयके उदयसहित होती हैं वे वेदक सम्यग्दृष्टि जीवोंके जानना चाहिये।

तेरह प्रकृतिक बन्धस्थानके रहते हुए पाँच प्रकृतिक, छह प्रकृतिक, सातप्रकृतिक और आठ प्रकृतिक ये चार उदयस्थान होते हैं। चौथे गुणस्थानमें जो छह प्रकृतिक उदयस्थान बतला आये हैं उसमेंसे अप्रत्याख्यानावरणके एक भेदके घटा देने पर पाँचवें गुणस्थानमें पाँच प्रकृतिक उदयस्थान होता है जिसमे भंगोंकी एक चौबीसी होती है। इसमे भय, जुगुप्सा या सम्यक्त्वमोहनीय इन तीन प्रकृतियोंमेंसे एक एक प्रकृतिके मिलाने पर छहप्रकृतिक उदयस्थान तीन प्रकारसे होता है। यहाँ एक एक भेदमें भंगोंकी एक एक चौबीसी होती है, अत छह प्रकृतिक उदयस्थानमे भंगों की कुल तीन चौबीसी प्राप्त हुई। अनन्तर पाँच प्रकृतिक उदय स्थानमे भय और जुगुप्सा, भय और सम्यक्त्वमोहनीय या जुगुप्सा और सम्यक्त्वमोहनीय इन दो दो प्रकृतियोंके मिलानेपर सात प्रकृतिक उदयस्थान भी तीन प्रकारसे प्राप्त होता है। यहाँ भी एक एक भेदमें भंगोंकी एक एक चौबीसी होती है अत सात प्रकृतिक उदयस्थानमे भंगोंकी कुल तीन चौबीसी प्राप्त हुईं। फिर पाँच प्रकृतिक उदयस्थानमें भय, जुगुप्सा और सम्यक्त्वमोहनीय इन तीनों प्रकृतियोंके मिला देनेपर आठ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह आठ प्रकृतिक उदयस्थान एक ही प्रकारका है, अत यहाँ भंगोंकी एक चौबीसी प्राप्त हुई। इस प्रकार पाँचवे गुण-स्थानमें तेरह प्रकृतिक बन्धस्थानके रहते हुए उदयस्थानोंकी अपेक्षा

विच्छेद हो जाने पर चार प्रकृतियोंका बन्ध होता है। साथ ही यह नियम है कि पुरुषवेदकी बन्धव्युच्छित्ति और उदयव्युच्छित्ति एक साथ होती है, अत चार प्रकृतिक बन्धके समय चार सज्वलनोंमे से किसी एक प्रकृतिका ही उदय होता है। इस प्रकार यहाँ चार भग प्राप्त होते हैं, क्योकि कोई जीव सज्वलन क्रोधके उदयसे, कोई जीव सज्वलन मानके उदयसे, कोई जीव सज्वलन मायाके उदयसे और कोई जीव सज्वलन लोभके उदयसे श्रेणि पर चढते हैं, इसलिये चार भगोंके प्राप्त होनेमें कोई आपत्ति नहीं है। यहाँ पर कितने ही आचार्य चार प्रकृतिक बन्धके सक्रमके समय तीनों वेदोंमेंसे किसी एक वेदका उदय होता है ऐसा स्वीकार करते हैं, अत उनके मतसे चार प्रकृतिक बन्धके प्रथम कालमें दो प्रकृतियों का उदय होता है और इस प्रकार चार कषायोंको तीन वेदोंसे गुणित करने पर बारह भग प्राप्त होते है। पञ्चसग्रहकी मूल टीकामें भी कहा है—

'चतुर्विधबन्धकस्याद्यविभागे त्रयाणा वेदानामन्यतमस्य वेदस्योदय कचिदिच्छन्ति, अतश्चतुर्विधबन्धकस्यापि द्वादश द्विकोदयान् जानीहि।'

अर्थात्—'कितने ही आचार्य चार प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवके पहले भागमें तीन वेदोंमेंसे किसी एक वेदका उदय मानते हैं, अत चार प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवके भी दो प्रकृतियोंके उदयसे बारह भग जानना चाहिये।'

इस प्रकार उन आचार्योंके मतसे दो प्रकृतियोंके उदयमें चौबीस भग हुए। बारह भग तो पाँच प्रकृतिक बन्धस्थानके समयके हुए और बारह भग चार प्रकृतिक बन्धस्थानके समयके, इस प्रकार चौबीस हुए।

सज्वलन क्रोधके बन्धविच्छेद हो जानेपर बन्ध तीन प्रकृतिक

और उदय एक प्रकृतिक होता है। यहाँ तीन भंग होते हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि यहाँ सज्वलन क्रोधको छोड़कर शेष तीनमेंसे किसी एक प्रकृतिका उदय कहना चाहिये, क्योंकि सज्वलन क्रोधके उदयमें सज्वलन क्रोधका बन्ध अवश्य होता है। कहा भी है—

'जे वेयइ ते बधई।'

अर्थात् 'जीव जिसका वेदन करता है उसका बन्ध अवश्य करता है।'

इसलिये जब सज्वलन क्रोधकी बधव्युच्छित्ति हो गई तो उसकी उदयव्युच्छित्ति भी हो जाती है यह सिद्ध हुआ, अत तीन प्रकृतिक बन्धके समय सज्वलन मान आदि तीनमेंसे किसी एक प्रकृतिका उदय होता है ऐसा कहना चाहिये। सज्वलनमानके बधविच्छेद हो जाने पर बध दो प्रकृतिक और उदय एक प्रकृतिक होता है। किन्तु यह उदय सज्वलन माया और लोभमेंसे किसी एकका होता है अत यहाँ दो भंग प्राप्त होते हैं। सज्वलन मायाके बन्धविच्छेद हो जाने पर एक सज्वलन लोभका बन्ध होता है और उसीका उदय। अत यहाँ एक भंग होता है। यद्यपि यहाँ चार प्रकृतिक बन्धस्थान आदिमें सज्वलन क्रोध आदिका उदय होता है, अत भंगोंमें कोई विशेषता नहीं उत्पन्न होती, फिर भी बन्धस्थानोंके भेदसे उनमें भेद मानकर उनका पृथक् कथन किया है। तथा बन्धके अभावमें भी सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानमें मोहनीयकी एक प्रकृतिका उदय होता है इसलिये एक भंग यह हुआ। इस प्रकार चार प्रकृतिक बन्धस्थान आदिमें कुल भंग ४+३+२+१+१=११ हुए। तदनन्तर सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानके अन्तमें मोहनीयका उदय विच्छेद हो जाता है तथापि उपशान्त मोह गुणस्थानमें उसका सत्त्व अवश्य पाया जाता है।

विच्छेद हो जाने पर चार प्रकृतियोंका बन्ध होता है। साथ ही यह नियम है कि पुरुषवेदकी बन्धव्युच्छित्ति और उदयव्युच्छित्ति एक साथ होती है, अत चार प्रकृतिक बन्धके समय चार सज्वलनोंमे से किसी एक प्रकृतिका ही उदय होता है। इस प्रकार यहाँ चार भग प्राप्त होते हैं, क्योंकि कोई जीव सज्वलन क्रोधके उदयसे, कोई जीव सज्वलन मानके उदयसे, कोई जीव सज्वलन मायाके उदयसे और कोई जीव सज्वलन लोभके उदयसे श्रेणि पर चढते हैं, इसलिये चार भगोके प्राप्त होनेमें कोई आपत्ति नहीं है। यहाँ पर कितने ही आचार्य चार प्रकृतिक बन्धके सक्रमके समय तीनो वेदोंमेंसे किसी एक वेदका उदय होता है ऐसा स्वीकार करते है, अत उनके मतसे चार प्रकृतिक बन्धके प्रथम कालमें दो प्रकृतियो का उदय होता है और इस प्रकार चार कषायोंको तीन वेदोसे गुणित करने पर बारह भग प्राप्त होते हैं। पञ्चसग्रहकी मूल टीकामे भी कहा है--

'चतुर्विधबन्धकस्याद्यविभागे त्रयाणा वेदानामन्यतमस्य वेदस्योदय केचिदिच्छन्ति, अतश्चतुर्विधबन्धकस्यापि द्वादश द्विकोदयान् जानीहि।'

अर्थात्--'कितने ही आचार्य चार प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवके पहले भागमे तीन वेदोंमेंसे किसी एक वेदका उदय मानते हैं, अत चार प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवके भी दो प्रकृतियोंके उदयसे बारह भग जानना चाहिये।'

इस प्रकार उन आचार्योंके मतसे दो प्रकृतियोके उदयमें चोबीस भग हुए। बारह भग तो पाँच प्रकृतिक बन्धस्थानके समयके हुए और बारह भग चार प्रकृतिक बन्धस्थानके समयके, इस प्रकार चौबीस हुए।

सज्वलन क्रोधके बन्धविच्छेद हो जानेपर बन्ध तीन प्रकृतिक

और उदय एक प्रकृतिक होता है। यहाँ तीन भंग होते हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि यहाँ सज्वलन क्रोधको छोड़कर शेष तीनमेंसे किसी एक प्रकृतिका उदय कहना चाहिये, क्योंकि सज्वलन क्रोधके उदयमें सज्वलन क्रोधका बन्ध अवश्य होता है। कहा भी है—

'जे वेयइ ते बंधइ।'

अर्थात् 'जीव जिसका वेदन करता है उसका बन्ध अवश्य करता है।'

इसलिये जब सज्वलन क्रोधकी बंधव्युच्छित्ति हो गई तो उसकी उदयव्युच्छित्ति भी हो जाती है यह सिद्ध हुआ, अतः तीन प्रकृतिक बन्धके समय सज्वलन मान आदि तीनमेंसे किसी एक प्रकृतिका उदय होता है ऐसा कहना चाहिये। सज्वलनमानके बंधविच्छेद हो जाने पर बंध दो प्रकृतिक और उदय एक प्रकृतिक होता है। किन्तु यह उदय सज्वलन माया और लोभमेंसे किसी एकका होता है अतः यहाँ दो भंग प्राप्त होते हैं। सज्वलन मायाके बन्धविच्छेद हो जाने पर एक सज्वलन लोभका बन्ध होता है और उसीका उदय। अतः यहाँ एक भंग होता है। यद्यपि यहाँ चार प्रकृतिक बन्धस्थान आदिमें सज्वलन क्रोध आदिका उदय होता है, अतः भंगोंमें कोई विशेषता नहीं उत्पन्न होती, फिर भी बन्धस्थानोंके भेदसे उनमें भेद मानकर उनका पृथक् कथन किया है। तथा बन्धके अभावमें भी सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानमें मोहनीयकी एक प्रकृतिका उदय होता है इसलिये एक भंग यह हुआ। इस प्रकार चार प्रकृतिक बन्धस्थान आदिमें कुल भंग ४+३+२+१+१=११ हुए। तदनन्तर सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानके अन्तमें मोहनीयका उदय विच्छेद हो जाता है तथापि उपशान्त मोह गुणस्थानमें उसका सत्त्व अवश्य पाया जाता है।

यद्यपि यहाँ बन्धस्थान और उदयस्थानोंके परस्पर संवेधका विचार किया जा रहा है अतः गाथामें सत्त्वस्थानके उल्लेखकी आवश्यकता नहीं थी फिर भी प्रसंगवश यहाँ इसका संकेतमात्र किया है।

अब दससे लेकर एक पर्यन्त उदयस्थानोंमें जितने भंग सम्भव हैं उनके दिखलानेके लिये आगेकी गाथा कहते हैं—

एक्कगछक्केक्कारस दस सत्त चउक्क एक्कगा चेव।
एए चउवीसगया चउवीस दुगेक्कमिक्कारा ॥१८॥

अर्थ—दस प्रकृतिक आदि उदयस्थानोंमें क्रमसे एक, छह, ग्यारह, दस, सात, चार और एक इतने चौबीस विकल्परूप भंग होते हैं। तथा दो प्रकृतिक उदयस्थानमें चौबीस और एक प्रकृतिक उदयस्थानमें ग्यारह भंग होते हैं॥

विशेषार्थ—पहले दस प्रकृतिक आदि उदयस्थानोंमें कहाँ कितनी भंगोंकी चौबीसी होती है यह पृथक् पृथक् बतला आये हैं

(१) 'एक्कगछक्केक्कारस दस सत्त चउक्क एक्कग चेव। दोसु च बारस भंगा एक्कम्हि य होंति चत्तारि॥' कसाय० (वेदकाधिकार)। 'चउवीसा। एक्कगछक्केक्कारस दस सत्त चउक्क एक्काओ॥'—कर्म प्र० उदी० गा० २४। धव० उदी०, आ० प० १०२२। 'दसगाइसु चउवीसा एक्कछिक्कारदससगचउक्क। एक्का य।'—पञ्चसं० सप्तति० गा० २७। 'एक्कयछक्केयारं दससगचदुरेक्कयं अपुणरुत्ता। एदे चदुवीसगदा बार दुगे पंच एक्कम्मि॥'—गो० कर्म० गा० ४८८।

(२) सप्ततिका नामक षष्ठ कर्मग्रन्थके टबेमें इस गाथाका चौथा चरण दो प्रकारसे निर्दिष्ट किया है। स्वमतरूपसे 'बार दुगिक्कम्मि इक्कारा' इस प्रकार और मतान्तररूपसे 'चउवीस दुगिक्कमिक्कारा' इस प्रकार निर्दिष्ट किया है। प्रथम पाठके अनुसार स्वमतसे दो प्रकृतिक उदयस्थानमें १२ भंग

यहाँ अब उनकी समुच्चयरूप संख्या बतलाई है। जिसका खुलासा इस प्रकार है—दस प्रकृतिक उदयस्थानमें भंगोंकी एक चौबीसी होती है यह स्पष्ट ही है, क्योंकि वहाँ और प्रकृतिविकल्प सम्भव नहीं। नौ प्रकृतिक उदयस्थानमें भंगोंकी कुल छह चौबीसी होती हैं। यथा—बाईस प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो नौ प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसकी तीन चौबीसी, इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो नौ प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भंगोंकी एक चौबीसी, मिश्र गुणस्थानमें सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो नौ प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भंगोंकी एक चौबीसी और चौथे गुणस्थानमें सत्रह प्रकृतिक बन्धके समय जो नौ प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भंगोंकी एक चौबीसी इस प्रकार नौ प्रकृतिक उदयस्थानके भंगोंकी कुल छह चौबीसी हुई। आठ

प्राप्त होते हैं और दूसरे पाठके अनुसार मतान्तरसे दो प्रकृतिक उदयस्थानमें २४ भंग प्राप्त होते हैं। मलयगिरि आचार्यने अपनी टीकामें इसी अभिप्रायकी पुष्टि की है। यथा—

'द्विकोदये चतुर्विंशतिरेका भङ्गकानाम्, एतच्च मतान्तरेणोक्तम्। अन्यथा स्वमते द्वादशैव भङ्गा वेदितव्याः।'

अर्थात् दो प्रकृतिक उदयस्थानमें चौबीस भंग होते हैं। सो यह कथन अन्य आचार्योंके अभिप्रायानुसार किया है। अन्यथा स्वमतसे तो दो प्रकृतिक उदयस्थानमें कुल बारह भंग ही होते हैं।

इस सप्ततिकाप्रकरणकी गाथा १६ में पाँच प्रकृतिक बन्धस्थानके समय दो प्रकृतिक उदयस्थान और गाथा १७ में चार प्रकृतिक बन्धस्थानके समय एक प्रकृतिक उदयस्थान बतलाया है। इससे जो स्वमतसे १२ और मतान्तरसे २४ भंगोंका निर्देश किया है उसकी ही पुष्टि होती है। पंचसंग्रह सप्ततिकाप्रकरण और कर्मकाण्डमें भी इन मतभेदोंका निर्देश किया है।

प्रकृतिक उदयस्थानमें भगोंकी कुल ग्यारह चौबीसी होती हैं। यथा—बाईस प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो आठ प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भगोंकी कुल तीन चौबीसी, इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो आठ प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भगोंकी कुल दो चौबीसी मिश्र गुणस्थानमें सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो आठ प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भगोंकी कुल दो चौबीसी, चौथे गुणस्थानमें सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो आठ प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भगोंकी कुल तीन चौबीसी और पाँचवें गुणस्थानमें तेरह प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो आठ प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भगोंकी कुल एक चौबीसी इस प्रकार आठ प्रकृतिक उदयस्थानमें भगोंकी कुल ग्यारह चौबीसी हुई। सात प्रकृतिक उदयस्थानमें भगोंकी कुल दस चौबीसी होती हैं। यथा—बाईस प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो सात प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भगोंकी एक चौबीसी, इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो सात प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भगोंकी एक चौबीसी, मिश्र गुणस्थानमें सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो सात प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भगोंकी एक चौबीसी, चौथे गुणस्थानमें सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो सात प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भगोंकी तीन चौबीसी, तेरह प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो सात प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भगोंकी तीन चौबीसी और नौ प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो सात प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भगोंकी एक चौबीसी इस प्रकार सात प्रकृतिक उदयस्थानमें भगोंकी कुल दस चौबीसी होती है। छह प्रकृतिक उदयस्थानमें भगोंकी कुल सात चौबीसी होती हैं। यथा—अविरतसम्यग्दृष्टिके सत्रह प्रकृतिक

बन्धस्थानके समय जो छह प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भगोंकी कुल एक चौबीसी, तेरह प्रकृतिक और नौ प्रकृतिक बन्धस्थानमें जो छह प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भगो की कुल तीन तीन चौबीसी इस प्रकार छह प्रकृतिक उदयस्थानके भगोंकी कुल सात चौबीसी हुई। पाँच प्रकृतिक उदयस्थानमे भगोंकी कुल चार चौबीसी होती हैं। यथा—तेरह प्रकृतिक बन्धस्थानमें जो पॉच प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भगोंकी कुल एक चौबीसी और नौ प्रकृतिक बन्धस्थानमें जो पॉच प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भगोंकी कुल तीन चौबीसी इस प्रकार पॉच प्रकृतिक उदयस्थानमें भगोंकी कुल चार चौबीसी प्राप्त हुई। तथा नौ प्रकृतिक बन्धके समय चार प्रकृतिक उदयके भगोंकी एक चौबीसी होती है। इस प्रकार दससे लेकर चार पर्यन्त उदयस्थानोंके भगोंकी कुल १+६+११+१०+७+४+१=४० चौबीसी होती हैं। तथा पाँच प्रकृतिक बन्धके समय दो प्रकृतिक उदयके भग बारह होते हैं और चार प्रकृतिक बन्धके समय भी दो प्रकृतिक उदय सम्भव है ऐसा कुछ आचार्यों का मत है अत इस प्रकार भी दो प्रकृतिक उदयस्थानके बारह भग प्राप्त हुए। इस प्रकार दो प्रकृतिक उदयस्थानके भगोंकी एक चौबीसी होती है। तथा चार, तीन, दो और एक प्रकृतिक बन्धस्थानके और अबन्धके समय एक प्रकृतिक उदयस्थानके क्रमश चार, तीन, दो, एक और एक भग होते हैं जिनका जोड ग्यारह होता है, अत एक प्रकृतिक उदयस्थानके कुल भग ग्यारह होते हैं। इस प्रकार इस गाथामें मोहनीयके सब उदयस्थानोंमें सब भगोंकी कुल चौबीसी कितनी और फुटकर भग कितने होते हैं यह बतलाया है।

अब इन भगोंकी कुल सख्या कितनी होती है यह बतलाते हैं—

नवपंचाणउइसएहुदयविगप्पेहिं मोहिया जीवा।

अर्थ—ससारी जीव नौ सौ पचानवे उदय विकल्पोंसे मोहित हैं।

विशेषार्थ—इससे पहलेकी चार गाथाओंमें मोहनीय कर्मके उदयस्थानोंके भग बतला आये हैं। यहाँ 'उदयविकल्प' पदद्वारा उन्हींका ग्रहण किया है। किन्तु पहले उन उदयस्थानोंके भगोंकी कहाँ कितनी चोवीसी प्राप्त होती हैं यह बतलाया है। अब यहाँ यह बतलाया है कि उनकी कुल सख्या कितनी होती है। प्रत्येक चौबीसीमें चौबीस भग हैं और उन चौबीसियोंकी कुल सख्या इकतालीस है अत इकतालीसको चौबीससे गुणित कर देने पर नौ सौ चोरासी प्राप्त होते हैं। किन्तु इस सख्यामें एक प्रकृतिक उदयस्थानके भग सम्मिलित नहीं हैं जो कि ग्यारह हैं। अत उनके और मिला देने पर कुल सख्या नौ सौ पचानवे होती है। ससारमें दसवें गुणस्थान तकके जितने जीव हैं उनमेंसे प्रत्येक जीव के इन ९९५ भगोंमेसे यथासम्भव किसी न किसी एक भग का उदय अवश्य है जिससे वे निरन्तर मूर्च्छित हो रहे हैं। यही सबब है कि ग्रन्थकारने सब ससारी जीवोंको इन उदय विकल्पोंसे मोहित कहा है। जैसा कि हम ऊपर बतला आये हैं यहाँ जीवोंसे सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान तकके जीव ही लेना चाहिये, क्योंकि मोहनीय कर्मका उदय वहीं तक पाया जाता है। यद्यपि उपशान्तमोही जीवोंका जब स्वस्थानसे पतन होता है तब वे भी इस मोहनीयके झपेटेमें आ जाते हैं, किन्तु कमसे कम एक समय के लिये और अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्तके लिये वे मोहनीयके उदयसे रहित हैं अत उनका यहाँ ग्रहण नहीं किया।

(१) चउबन्धगे वि बारस दुगोदया जाण तेहि छूढेहिं। बन्धगभेएणेव पचूणसहस्समुदयाण ॥'—पञ्चसं० सप्तति० गा० २९।

बंधस्थान उदयस्थानोंके संवेध भंगोका ज्ञापक कोष्ठक

[१७]

गुणस्थान	बन्धस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग
१ ला	२२	६	७, ८, ९, १०	८ चौबीसी
२ रा	२१	४	७, ८, ९	४ चौबीसी
३ रा	१७	२	७, ८ ९	४ चौबीसी
४ था	१७	२	६, ७, ८, ९	८ ,,
५ वाँ	१३	२	५, ६ ७, ८	८ ,,
६ से ८	९	२	४, ५, ६, ७	८ ,,
९ वाँ	५	१	२	१२ भंग
,	४	१	२	,
,	४	१	१	४ भंग
,,	३	१	१	३ भंग
,,	२	१	१	२ भंग
,,	१	१	१	१ भंग
१० वाँ	०	०	१	१ भंग

अब पदसख्या बतलाते हैं—

अउणत्तरिएगुत्तरिपयचिदसएहि विन्नेयो ॥१९॥

अर्थ—तथा ये ससारी जीव उनहत्तर सौ इकहत्तर अर्थात् छह हजार नौ सौ इकहत्तर पदसमुदायोंसे मोहित जानना चाहिये।

विशेपार्थ—यहाँ मिथ्यात्व, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि प्रत्येक प्रकृतिको पद और उनके समुदायको पदवृन्द कहा है। इसीका दूसरा नाम प्रकृतिविकल्प भी है। आशय यह है कि उपर्युक्त दस प्रकृतिक आदि उदयस्थानोमें जितनी प्रकृतियाँ हैं वे सब पद हैं और उनके भेदसे जितने भग होंगे वे सब पदवृन्द या प्रकृतिविकल्प कहलाते हैं। प्रकृतमें इस प्रकार कुल भेद ६९७१ होते हैं। खुलासा इस प्रकार है—दस प्रकृतिक उदयस्थान एक है अत उसकी दस प्रकृतियाँ हुई। नौ प्रकृतिक उदयस्थान छह है, अत उनकी चौवन प्रकृतियाँ हुई। आठ प्रकृतिक उदयस्थान ग्यारह हैं, अत उनकी अठासी प्रकृतियाँ हुई। सात प्रकृतिक उदयस्थान दस हैं, अत उनकी सत्तर प्रकृतियाँ हुई। छह प्रकृतिक उदयस्थान सात है, अत उनकी बयालीस प्रकृतियाँ हुई। पाँच प्रकृतिक उदयस्थान चार हैं, अत उनकी बीस प्रकृतियाँ हुई। चार प्रकृतिक उदयस्थान एक है, अत उसकी चार प्रकृतियाँ हुई। और दो प्रकृतिक उदयस्थान एक है, अत उसकी दो प्रकृतियाँ हुई। अनन्तर इन सब प्रकृतियोको मिलाने पर कुल जोड १०+५४+८८+७०+४२+२०+४+२=२९० होता है। इन प्रकृतियोंमेंसे प्रत्येकमे चौबीस-चौबीस भग प्राप्त होते है, अत २९० को २४ से गुणित कर देने पर ६९६० प्राप्त हुए। पर

(१) सप्ततिकप्रकरण नामक पष्ट कर्मग्रन्थके टबेमें यह गाथा 'नवतेसीयसएहि' इत्यादि गाथाके बाद दी है।

इस सख्यामें एक प्रकृतिक उदयस्थानके ग्यारह भग सम्मिलित नहीं हैं अत उनके मिला देने पर कुल सख्या ६९७१ प्राप्त होती हैं। ये सब प्रकृतिविकल्प हुए। दसवें गुणस्थान तकके सब ससारी जीव इतने विकल्पोसे निरन्तर मोहित हैं यह उक्त गाथाके उत्तरार्धका तात्पर्य है। यहाँ इतना विशेष जानना कि पहले जो मतान्तरसे चार प्रकृतिक बन्धके सक्रमकालके समय दो प्रकृतिक उदयस्थानमें बारह भग बतलाये हैं उनको सम्मिलित करके ही यह उदयस्थानोकी सख्या और पदसख्या कही गई है।

पदसख्याका ज्ञापक कोष्ठक

[१९]

उदयस्थान		सख्या		प्रकृतियाँ		भग		कुल
१०	×	१	=	१०	×	२४	=	२४०
९	×	६	=	५४	×	२४	=	१२९६
८	×	११	=	८८	×	२४	=	२११२
७	×	१०	=	७०	×	२४	=	१६८०
६	×	७	=	४२	×	२४	=	१००८
५	×	४	=	२०	×	२४	=	४८०
४	×	१	=	४	×	२४	=	९६
२	×	१	=	२	×	२४	=	४८
१	×	१	=	१	×	११	=	११

कुल ६९७१

अब पदसख्या बतलाते हैं—

अउणत्तरिएगुत्तरिपयविदसएहि विन्नेयो ॥१९॥

अर्थ—तथा ये ससारी जीव उनहत्तर सौ इकहत्तर अर्थात छह हजार नौ सौ इकहत्तर पदसमुदायोसे मोहित जानना चाहिये।

विशेषार्थ—यहाँ मिथ्यात्व, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि प्रत्येक प्रकृतिको पद और उनके समुदायको पदवृन्द कहा है। इसीका दूसरा नाम प्रकृतिविकल्प भी है। आशय यह है कि उपर्युक्त दस प्रकृतिक आदि उदयस्थानोंमें जितनी प्रकृतियाँ हैं वे सब पद हैं और उनके भेदसे जितने भग होंगे वे सब पदवृन्द या प्रकृतिविकल्प कहलाते हैं। प्रकृतमें इस प्रकार कुल भेद ६९७१ होते हैं। खुलासा इस प्रकार है—दस प्रकृतिक उदयस्थान एक है अत उसकी दस प्रकृतियाँ हुई। नौ प्रकृतिक उदयस्थान छह है, अत उनकी चौवन प्रकृतियाँ हुई। आठ प्रकृतिक उदयस्थान ग्यारह है, अत उनकी अठासी प्रकृतियाँ हुई। सात प्रकृतिक उदयस्थान दस है, अत उनकी सत्तर प्रकृतियाँ हुई। छह प्रकृतिक उदयस्थान सात है, अत उनकी बयालीस प्रकृतियाँ हुई। पाँच प्रकृतिक उदयस्थान चार हैं, अत उनकी बीस प्रकृतियाँ हुई। चार प्रकृतिक उदयस्थान एक है, अत उसकी चार प्रकृतियाँ हुई। और दो प्रकृतिक उदयस्थान एक है, अत उसकी दो प्रकृतियाँ हुई। अनन्तर इन सब प्रकृतियोंको मिलाने पर कुल जोड १०+५४+८८+७०+४२+२०+४+२=२९० होता है। इन प्रकृतियोंमेंसे प्रत्येकमे चौबीस-चौबीस भग प्राप्त होते हैं, अत २९० को २४ से गुणित कर देने पर ६९६० प्राप्त हुए। पर

(१) सप्ततिकाप्रकरण नामक षष्ठ कर्मग्रन्थके टबेमें यह गाथा 'नवतेसीयसएहि' इत्यादि गाथाके बाद दी है।

ये दस आदिक जितने उदयस्थान और उनके भंग बतलाये जिसके अनुसार सप्तिकाप्रकरणमें ९९५ उदयविकल्प होते हैं। दूसरे प्रकारमें सप्ततिकाप्रकरणके ९८३ वाले प्रकारसे थोड़ा अन्तर पड़ जाता है। बात यह है कि यहाँ सप्ततिकाप्रकरणमें एक प्रकृतिक उदयके बन्धाबन्धकी अपेक्षा ११ भंग लिये हैं और पंचसंग्रहके सप्ततिकामें उदयकी अपेक्षा प्रकृतिभेदसे कुल ४ भंग लिये हैं इसलिये ९८३ मेंसे ७ घटकर कुल ९७६ उदयविकल्प रह जाते हैं। किन्तु पंचसंग्रहके सप्ततिकामें तीसरे प्रकारसे उदयविकल्प गिनाते हुए गुणस्थानभेदसे उनकी संख्या १२६५ कर दी गई है। विधि सुगम है इसलिये उनका विशेष विवरण नहीं दिया है।

दिगम्बर परम्परामें सबसे पहले कषायपाहुड़में इन उदयविकल्पोंका उल्लेख मिलता है। वहाँ भी पञ्चसंग्रह सप्ततिकाके दूसरे प्रकारके अनुसार ९७६ उदयविकल्प बतलाये हैं। कर्मकाण्डमें भी इनकी संख्या बतलाई है। पर वहाँ इनके दो भेद कर दिये हैं। एक पुनरुक्त भंग और दूसरे अपुनरुक्त भंग। पुनरुक्त भंग १२८३ गिनाये हैं। १२६५ तो ये ही हैं जो पञ्चसंग्रहके सप्ततिकामें गिनाये हैं। किन्तु कर्मकाण्डमें चार प्रकृतिकबन्धमें दो प्रकृतिक उदयकी अपेक्षा १२ भंग और लिये हैं। तथा पञ्चसंग्रहसप्ततिकामें एक प्रकृतिक उदयके जो पाँच भंग लिये हैं वे यहाँ ११ कर लिये गये हैं। इस प्रकार पञ्चसंग्रह सप्ततिकासे १८ भंग बढ़कर कर्मकाण्डमें उनकी संख्या १२८३ हो गई है। तथा कर्मकाण्डमें अपुनरुक्त भंग ९७७ गिनाये हैं। सो यहाँ भी एक प्रकृतिक उदयका गुणस्थान भेदसे एक भंग अधिक कर दिया गया है और इस प्रकार ९७६ के स्थानमें ९७७ भंग हो जाते हैं।

यद्यपि यहाँ हमें संख्याओंमें अन्तर दिखाई देता है पर वह विवक्षा भेद ही है मान्यता भेद नहीं।

इसी प्रकार इस सप्ततिका प्रकरणमें मोहनीयके पदवृन्द दो प्रकारसे बतलाये हैं। एक ६९७१ और दूसरे ६९४७। जब चार प्रकृतिक बन्धके समय कुछ काल तक दो प्रकृतिक उदय होता है इस मतको स्वीकार कर

अब इन बारह भगोको छोडकर उदयस्थानोकी मख्या और पदसख्या बतलाते हैं—

नवतेसीयसएहि उदयविगप्पेहिं मोहिया जीवा ।
अउणत्तरिसीयाला पयविंदसएहि विन्नेया ॥२०॥

अर्थ—ससारी जीव नौसौ तिरासी उदयविकल्पोसे और उनहत्तरसौ सैंतालीस अर्थात् छह हजार नौसौ सैंतालीस पद-समुदायोंसे मोहित हो रहे हैं ऐसा समझना चाहिये ।

विशेषार्थ—पिछली गाथामे नौसौ पचानवे उदय विकल्प बतला आये हैं उनमेंसे बारह विकल्पोके घटा देने पर कुल नौसौ तिरासी उदयविकल्प प्राप्त होते है। तथा पिछली गाथामे जो छह हजार नौ सौ इकहत्तर पदवृन्द बतलाये हैं उनमेसे २×१२ =२४ पदवृन्दोके घटा देनेपर कुल छह हजार नौसौ सैंतालीस पदवृन्द प्राप्त होते हैं। यदि यहॉ जिनके मतसे चार प्रकृतिक वन्धके सक्रमके समय दो प्रकृतिक उदयस्थान होता है उनके मतको प्रधानता न दी जाय और उनके मतसे दो प्रकृतिक उदयस्थानके उदयविकल्प और पदवृन्दोको छोडकर ही सब उदयविकल्पो की और पदवृन्दोंकी गणना की जाय तो क्रमश उनकी सख्या ९८३ और ६९४७ होती है। जिनसे दसवें गुणस्थानतकके सब ससारी जीव मोहित हो रहे हैं।

---

(१) तेसीया नवसया एव ।'—पचसं० सप्तति० गा० २८ ।

(२) इस सप्ततिकाप्रकरणमें मोहनीयके उदयविकल्प दो प्रकारसे बतलाये है, एक ६६५ और दूसरे ६८३ । इनमेंसे ६६५ उदय विकल्पोंमें दो प्रकृतिक उदयस्थानके २४ भंग और ६८३ उदयविकल्पोंमें दो प्रकृतिक उदयस्थानके १२ भग लिये हैं। पंचसग्रह सप्ततिकामें भी ये उदयविकल्प बतलाये हैं। किन्तु वहाँ वे तीन प्रकारसे बतलाये हैं। पहला तो यही है

ये दस आदिक जितने उदयस्थान और उनके भंग बतलाये जिसके अनुसार सप्ततिकाप्रकरणमें ९९५ उदयविकल्प होते हैं। दूसरे प्रकारमें सप्ततिकाप्रकरणके ९८३ वाले प्रकारसे थोड़ा अन्तर पड़ जाता है। बात यह है कि यहाँ सप्ततिकाप्रकरणमें एक प्रकृतिक उदयके अबन्धकी अपेक्षा ११ भंग लिये हैं और पंचसंग्रहके सप्ततिकामें उदयकी अपेक्षा प्रकृतिभेदसे कुल ४ भंग लिये हैं इसलिये ९८३ मेंसे ७ घटकर कुल ९७६ उदयविकल्प रह जाते हैं। किन्तु पंचसंग्रहके सप्ततिकामें तीसरे प्रकारसे उदयविकल्प गिनाते हुए गुणस्थानभेदसे उनकी संख्या १२६५ कर दी गई है। विधि सुगम है इसलिये उनका विशेष विवरण नहीं दिया है।

दिगम्बर परम्परामें सबसे पहले कसायपाहुडमें इन उदयविकल्पोंका उल्लेख मिलता है। वहाँ भी पञ्चसंग्रह सप्ततिकाके दूसरे प्रकारके अनुसार ९७६ उदयविकल्प बतलाये हैं। कर्मकाण्डमें भी इनकी संख्या बतलाई है। पर वहाँ इनके दो भेद कर दिये हैं। एक पुनरुक्त भंग और दूसरे अपुनरुक्त भंग। पुनरुक्त भंग १२८३ गिनाये हैं। १२६५ तो ये ही हैं जो पञ्चसंग्रहके सप्ततिकामें गिनाये हैं। किन्तु कर्मकाण्डमें चार प्रकृतिकबन्धमें दो प्रकृतिक उदयकी अपेक्षा १२ भंग और लिये हैं। तथा पञ्चसंग्रहसप्ततिकामें एक प्रकृतिक उदयके जो पाँच भंग लिये हैं वे यहाँ ११ कर लिये गये हैं। इस प्रकार पञ्चसंग्रह सप्ततिकासे १८ भंग बढ़कर कर्मकाण्डमें उनकी संख्या १२८३ हो गई है। तथा कर्मकाण्डमें अपुनरुक्त भंग ९७७ गिनाये हैं। सो यहाँ भी एक प्रकृतिक उदयका गुणस्थान भेदसे एक भंग अधिक कर दिया गया है और इस प्रकार ९७६ के स्थानमें ९७७ भंग हो जाते हैं।

यद्यपि यहाँ हमें संख्याओंमें अन्तर दिखाई देता है पर यह विवक्षा भेद ही है मान्यता भेद नहीं।

इसी प्रकार इस सप्ततिका प्रकरणमें मोहनीयके पदवृन्द दो प्रकारसे बतलाये हैं। एक ६९७१ और दूसरे ६९४७। जब चार प्रकृतिक बंधके समय कुछ काल तक दो प्रकृतिक उदय होता है इस मतको स्वीकार कर

हैं उनका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। चार प्रकृतिक उदयस्थानसे लेकर दस प्रकृतिक उदयस्थान तकके

लिया जाता है तब ६६७१ पदवृन्द प्राप्त होते हैं और जब इस मतको छोड़ दिया जाता है तब ६६४७ पदवृन्द प्राप्त होते हैं। पञ्चसग्रहके सप्ततिकामें ये दो सख्याएँ तो बतलाई ही हैं किन्तु इनके अतिरिक्त चार प्रकारके पदवृन्द और बतलाये हैं। उनमें से पहला प्रकार ६९४० का है। सो यहाँ बन्धाबन्धके भेदसे एक प्रकृतिक उदयके ११ भग न लेकर कुल ४ भग लिये हैं और इस प्रकार ६९४७ मेंसे ७ भग कम होकर ६६४० सख्या प्राप्त होती है। शेष तीन प्रकारके पदवृन्द गुणस्थानभेदसे बतलाये हैं। जो क्रमश ८४७७, ८४८३ और ८५०७ प्राप्त होते हैं। इनका व्याख्यान सुगम है इसलिये सकेतमात्र कर दिया है।

दिगम्बर परम्परामें ये पदवृन्द कर्मकाण्डमें बतलाये हैं। वहाँ इनकी प्रकृति विकल्प सज्ञा दी है। कर्मकाण्डमें जैसे उदयविकल्प दो प्रकारसे बतलाये हैं। वैसे प्रकृतिविकल्प भी दो प्रकारसे बतलाये हैं। पुनरुक्त उदयविकल्पोंकी अपेक्षा इनकी संख्या ८५०७ बतलाई है और अपुनरुक्त उदयविकल्पोंकी अपेक्षा इनकी सख्या ६६४१ बतलाई है। पञ्चसग्रहसप्ततिकामें गुणस्थान भेदसे जो ८५०७ पदवृन्द बतलाये हैं वे और कर्मकाण्डके पुनरुक्त प्रकृतिविकल्प एक हैं। तथा पञ्चसग्रहसप्ततिकामें जो ६६४० पदवृन्द बतलाये हैं उनमें १ भग और मिला देने पर कर्मकाण्डमें बतलाये गये ६६४१ प्रकृतिविकल्प हो जाते हैं। यहाँ पचसग्रहसप्ततिकामें एक प्रकृतिक उदयस्थानके कुल ४ भग लिये गये हैं और कर्मकाण्डमें गुणस्थानभेदसे ५ लिये गये हैं अतएव एक भंग बढ गया है।

यहाँ भी यद्यपि सख्याओंमें थोडा बहुत अन्तर दिखाई देता है, पर वह विवक्षाभेदसे ही अन्तर है मान्यताभेद से नहीं।

(१) 'एक्किस्से दोण्हं चदुण्हं पचण्ह छण्ह सत्तण्हं अट्ठण्ह णवण्हं दसण्हं पयडीणं पवेसगो केवचिरं कालादो होदि ? जहण्णेण एयसमग्रो ।

प्रत्येक उदयस्थानमें किसी एक वेद और किसी एक युगलका उदय अवश्य होता है और वेद तथा युगलका एक मुहूर्तके भीतर अवश्य ही परिवर्तन होता है। पचसग्रहकी मूल टीकामें भी बतलाया है—

'यतो युग्मेन वेदेन वाऽवश्यमन्तर्मुहूर्तादारत परावर्त्तितव्यम् ।'

'अर्थात् चूँकि एक अन्तर्मुहूर्तके भीतर किसी एक युगलका और किसी एक वेदका अवश्य परिवर्तन होता है, अत चार आदि उदयस्थानोंका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है।'

इससे निश्चित होता है कि इन चार प्रकृतिक आदि उदयस्थानोंका और उनके भगोंका जो उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त

उक्कस्सेणतोमुहुत्तं ।' —कषाय० चु० (वेदकाधिकार)। 'अंतमुहुत्तिय उदया समयादारब्भ भगा य ।'—पचस सप्तति० गा० ३३। धव० उदी० प० आ० १०२२।

(१) षट्खण्डागम सत्प्ररूपणासूत्र १०७ की धवला टीकामें लिखा है कि जैसे कषाय अन्तर्मुहूर्तमें बदल जाती है वैसे वेद अन्तर्मुहूर्तमें नहीं बदलता किन्तु वह जन्मसे लेकर मरण तक एक ही रहता है। यथा—

'कषायवन्नान्तर्मुहूर्तस्थायिनो वेदा, आजन्मन आमरणात्तदुदयस्य सत्वात् ।'

प्रज्ञापनामें जो पुरुषवेद आदिका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त आदि और उत्कृष्ट काल साधिक सौ सागर पृथक्त्व आदि बतलाया है इससे भी यही ज्ञात होता है कि पर्याय भर वेद एक ही रहता है।

इस लिये अन्तर्मुहूर्तमें वेद अवश्य बदल जाता है इस नियमको छोड़कर एक प्रकृतिक उदयस्थान आदिका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त करते समय उसे अन्य प्रकारसे भी प्राप्त करना चाहिये। यथा—उपशमश्रेणिपर चढ़ते समय या उतरते समय कोई एक जीव एक प्रकृतिक उदयस्थानको एक समय तक प्राप्त हुआ और दूसरे समयमें मर कर वह देव

परस्पर सवेधको बतलाते हुए कहाँ कितने उदस्थान प्राप्त होते हैं, इसका भी उल्लेख करेंगे।

बाईस प्रकृतिक बन्धस्थानके समय सत्तास्थान तीन होते हैं—२८, २७ और २६ प्रकृतिक। खुलासा इस प्रकार है—बाईस प्रकृतियोंका बन्ध मिथ्यादृष्टि जीवके होता है और इसके उदयस्थान चार होते हैं—७, ८, ९ और १० प्रकृतिक। इनमेंसे सात प्रकृतिक उदयस्थानके समय एक अट्ठाईस प्रकृतिक ही सत्तास्थान होता है, क्योंकि सात प्रकृतिक उदयस्थान अनन्तानुबन्धीके उदयके बिना ही प्राप्त होता है और मिथ्यात्वमें अनन्तानुबन्धीके उदयका अभाव उसी जीवके होता है जिसने पहले सम्यग्दृष्टि रहते हुए अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसयोजना की और कालान्तरमें परिणामवशासे मिथ्यात्वमें जाकर जिसने मिथ्यात्वके निमित्तसे पुन: अनन्तानुबन्धीके बन्धका आरम्भ किया उसके एक आवलि प्रमाण कालतक अनन्तानुबन्धीका उदय नहीं होता है। किन्तु ऐसे जीवके नियमसे अट्ठाईस प्रकृतियोंकी सत्ता पाई जाती है, अत यह निश्चित हुआ कि सात प्रकृतिक उदयस्थानमें एक अट्ठाईस प्रकृतिक सत्तास्थान ही होता है। आठ प्रकृतिक उदयस्थानमें उक्त तीनों सत्तास्थान होते हैं, क्योंकि आठ प्रकृतिक उदयस्थान दो प्रकारका है—एक तो अनन्तानुन्धीके उदयसे रहित और दूसरा अनन्तानुबन्धीके उदयसे सहित। इनमेंसे जो अनन्तानुबन्धीके उदयसे रहित आठ प्रकृतिक उदयस्थान है उसमें एक अट्ठाईस प्रकृतिक सत्तास्थान ही प्राप्त होता है। इसका खुलासा ऊपर किया ही है। तथा जो अनन्तानुन्धीके उदयसे युक्त आठ प्रकृतिक उदयस्थान है उसमें उक्त तीनों ही सत्तास्थान बन जाते हैं। जबतक सम्यक्त्वकी उद्वलना नहीं होती तबतक अट्ठाईस प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। सम्यक्त्वकी उद्वलना हो

जानेपर सत्ताईस प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है और सम्यग्मिथ्यात्वकी उद्वलना हो जाने पर छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। तथा छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान अनादि मिथ्यादृष्टि के भी होता है। इसी प्रकार अनन्तानुबन्धीके उदयसे रहित नौप्रकृतिक उदयस्थानमें तो एक अट्ठाईस प्रकृतिक सत्तास्थान ही होता है किन्तु जो नौ प्रकृतिक उदयस्थान अनन्तानुबन्धीके उदयसे युक्त है उसमें तीनों सत्तास्थान बन जाते हैं। तथा दस प्रकृतिक उदयस्थान, जिसके अनन्तानुबन्धीका उदय होता है, उसीके होता है, अन्यथा दस प्रकृतिक उदयस्थान ही नहीं बनता, अत इसमें २८, २७ और २६ प्रकृतिक तीनों सत्तास्थान प्राप्त हो जाते हैं।

इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थान के समय सत्त्वस्थान एक अट्ठाइस प्रकृतिक ही होता है, क्योंकि इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थान सास्वादन सम्यग्दृष्टिके ही होता है और सास्वादन सम्यक्त्व उपशमसम्यक्त्वसे च्युत हुए जीवके ही होता है किन्तु ऐसे जीवके दर्शनमोहनीयके तीनों भेदोंका सत्त्व अवश्य पाया जाता है क्योंकि यह जीव सम्यग्दर्शन गुणके निमित्तसे मिथ्यात्वके तीन भाग कर देता है जिन्हें क्रमश मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व यह सज्ञा प्राप्त होती है। इसलिये इसके दर्शनमोहनीयके तीन भेदोंका सत्त्व नियमसे पाया जाता है। यहाँ उदयस्थान सात प्रकृतिक, आठ प्रकृतिक और नौ प्रकृतिक ये तीन होते हैं। अत सिद्ध हुआ कि इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थानके समय तीन उदय स्थानोंके रहते हुए एक अट्ठाईस प्रकृतिक ही सत्त्वस्थान होता है।

सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थान के समय सत्त्वस्थान छह होते हैं– २८, २७, २४, २३, २२ और २१ प्रकृतिक। सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थान सम्यग्मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि इन दो गुणस्थानोंमें होता है। इनमेंसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोंके तीन

उदयस्थान होते हैं—७, ८, और ९ प्रकृतिक। अविरत सम्यग्दृष्टि जीवोंके चार उदयस्थान होते हैं—६, ७, ८ और ९ प्रकृतिक। इनमेंसे छह प्रकृतिक उदयस्थान उपशम सम्यग्दृष्टि या क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवोंके ही प्राप्त होता है। इनमेंसे औपशमिक सम्यग्दृष्टि जीवोंके अट्ठाईस और चौबीस प्रकृतिक ये दो सत्त्वस्थान होते हैं। अट्ठाईस प्रकृतिक सत्त्वस्थान प्रथमोपशम सम्यक्त्वके समय होता है। जो जीव अनन्तानुबन्धीकी उपशमना करके उपशमश्रेणी पर चढकर गिरा है। उस अविरत सम्यग्दृष्टिके भी अट्ठाईस प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। तथा जिसने अनन्तानुबन्धीकी उद्वलना की है उस औपशमिक अविरतसम्यग्दृष्टिके चौबीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। किन्तु क्षायिकसम्यग्दृष्टिके इक्कीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान ही होता है, क्योंकि अनन्तानुबन्धी चतुष्क और तीन दर्शनमोहनीय इन सात प्रकृतियोंके क्षय होने पर ही इसकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार छह प्रकृतिक उदयस्थानमें २८, २४ और २१ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोंके सात प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए २८, २७ और २४ ये तीन सत्त्वस्थान होते है। इनमेंसे अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्तावाला जो जीव सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होता है उसके अट्ठाईस प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है, किन्तु जिस मिथ्यादृष्टिने सम्यक्त्वकी उद्वलना करके सत्ताईस प्रकृतिक सत्त्वस्थानको प्राप्त कर लिया, किन्तु अभी सम्यग्मिथ्यात्वकी उद्वलना नहीं की वह यदि मिथ्यात्वसे निवृत्त होकर परिणामोंके निमित्तसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होता है तो उस सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवके सत्ताईस

(१) सम्यग्मिथ्यादृष्टिके २७ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है इस मतका उल्लेख दिगम्बर परम्परामें कहीं देखनेमें नहीं आया। गोम्मटसार कर्मकाण्ड में वेदककालका निर्देश किया है। उस कालके भीतर कोई भी मिथ्यादृष्टि

प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। तथा सम्यग्दृष्टि रहते हुए जिसने अनन्तानुबन्धीकी विसयोजना की है, वह यदि परिणामोंके वशसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होता है तो उसके चौबीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान पाया जाता है। ऐसा जीव चारों गतियोंमें पाया जाता है, क्योंकि चारों गतियोंका सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धीकी विसयोजना करता है। कर्मप्रकृतिमें कहा है—

चउगइया पज्जत्ता तिन्नि वि सयोजणे विजोयंति।
करणेहिं तीहिं सहिया णतरकरण उवसमो वा॥'

अर्थात्—'चारों गतिके पर्याप्त जीव तीन करणोंको प्राप्त होकर अनन्तानुबन्धीकी विसयोजना करते हैं किन्तु इनके अनन्तानुबन्धीका अन्तरकरण और उपशम नहीं होता है। विशेषता इतनी है कि अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें चारों गतिके जीव, देशविरतमें तिर्यंच और मनुष्य जीव तथा सर्वविरतमें केवल मनुष्य जीव अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसयोजना करते हैं।'

अनन्तानुबन्धीकी विसयोजना करनेके पश्चात् कितने ही जीव परिणामोंके वशसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको भी प्राप्त होते हैं इससे सिद्ध हुआ कि सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोंके चौबीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है, परन्तु अविरत सम्यग्दृष्टि जीवके सात प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए २८, २४, २३ २२ और २१ ये पाँच सत्त्वस्थान होते हैं। इनमें से २८ और २४ तो उपशम

जीव वेदकसम्यग्दृष्टि या सम्यग्मिथ्यादृष्टि हो सकता है पर यह काल सम्यक्त्वकी उद्वलनाके चालू रहते ही निकल जाता है। अत यहाँ २७ प्रकृतियों की सत्तावालेको न तो वेदक सम्यक्त्वकी प्राप्ति बतलाई है और न सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानकी प्राप्ति बतलाई है।

(१) कर्म प्र० उप० गा० ३१।

सम्यग्दृष्टि और वेदकसम्यग्दृष्टि जीवोंके होते हैं, किन्तु इतनी विशेषता है कि २४ प्रकृतिक सत्त्वस्थान उन्हींके होता है जिन जीवोंने अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना कर दी है। २३ और २२ प्रकृतिक सत्त्वस्थान केवल वेदक सम्यग्दृष्टि जीवोंके ही होते हैं, क्योंकि आठ वर्षकी या इससे अधिककी आयुवाला जो वेदक सम्यग्दृष्टि जीव क्षपणाके लिये उद्यत होता है उसके अनन्तानुबन्धी और मिथ्यात्वका क्षय हो जाने पर २३ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। फिर इसीके सम्यग्मिथ्यात्वका क्षय हो जाने पर २२ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। यह २२ प्रकृतियोंकी सत्तावाला जीव सम्यक्त्व प्रकृतिका क्षय करते समय जब उसके अन्तिम भागमें रहता है और कदाचित् इसने पहले परभव सम्बन्धी आयुका बन्ध कर लिया हो तो मरकर चारों गतियोंमें उत्पन्न होता है। कहा भी है—

'पट्ठवगो उ मणूसो निट्ठवगो चउसु वि गईसु ॥'

अर्थात् 'दर्शनमोहनीयकी क्षपणाका प्रारम्भ केवल मनुष्य ही करता है किन्तु उसकी समाप्ति चारों गतियोंमें होती है।'

इससे सिद्ध हुआ कि २२ प्रकृतिक सत्त्वस्थान चारों गतियोंमें प्राप्त होता है, किन्तु २१ प्रकृतिक सत्त्वस्थान तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवोंके ही प्राप्त होता है, क्योंकि अनन्तानुबन्धी चार और तीन दर्शनमोहनीय इन सातके क्षय होने पर ही क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। इसी प्रकार आठ प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए भी सम्यग्मिथ्यादृष्टि और अविरतसम्यग्दृष्टि जीवोंके क्रमशः पूर्वोक्त तीन और पाँच सत्त्वस्थान होते हैं, तथा नौ प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए भी इसी प्रकार जानना चाहिये, किन्तु अविरतोंके नौ प्रकृतिक उदयस्थान वेदकसम्यग्दृष्टियोंके ही होता है और वेदक

सम्यग्दृष्टियोंके २८, २४, २३ और २२ ये चार सत्त्वस्थान ही पाये जाते हैं, अतः यहाँ भी उक्त चार सत्त्वस्थान होते हैं।

सम्यग्मिथ्यादृष्टिके १७ प्रकृतिक एक बन्धस्थान, ७ प्रकृतिक, ८ प्रकृतिक और ९ प्रकृतिक ये तीन उदयस्थान और २८, २७ तथा २४ प्रकृतिक तीन सत्त्वस्थान होते हैं। अविरतसम्यग्दृष्टियोंमें उपशमसम्यग्दृष्टिके १७ प्रकृतिक एक बन्धस्थान, ६, ७ और ८ प्रकृतिक तीन उदयस्थान तथा २८ और २४ प्रकृतिक दो सत्त्वस्थान होते हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टिके १७ प्रकृतिक एक बन्धस्थान, ६, ७ और ८ प्रकृतिक तीन उदयस्थान तथा २१ प्रकृतिक एक सत्त्वस्थान होता है। वेदक सम्यग्दृष्टिके १७ प्रकृतिक एक बन्धस्थान, ७, ८ और ९ प्रकृतिक तीन उदयस्थान तथा २८, २४, २३ और २२ प्रकृतिक चार सत्त्वस्थान होते हैं ऐसा जानना चाहिये। इनके परस्पर संवेधका कथन पहले ही किया है, अतः यहाँ किसके कितने बन्धादि स्थान होते हैं इसका निर्देशमात्र किया है।

तेरह और नौ प्रकृतिक बन्धस्थानके रहते हुए प्रत्येकमें २८, २४, २३, २२ और २१ये पाँच सत्त्वस्थान होते हैं। १३ प्रकृतियों का बन्ध देशविरतोंके होता है। देशविरत दो प्रकारके हैं तिर्यंच और मनुष्य। इनमें से जो तिर्यंच देशविरत हैं उनके चारों ही उदयस्थानोंमें २८ और २४ ये दो सत्त्वस्थान होते हैं। सो २८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान तो उपशम सम्यग्दृष्टि और वेदक सम्यग्दृष्टि इन दोनों प्रकारके तिर्यंच देशविरतोंके होता है। उनमें भी जो प्रथमोपशम सम्यक्त्वको उत्पन्न करनेके समय ही देशविरतको प्राप्त कर लेता है, उसी देशविरतके उपशमसम्यक्त्वके रहते हुए २८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है, क्योंकि अन्तरकरणके काल में विद्यमान कोई भी औपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव देशविरतिको प्राप्त

करता है और कोई मनुष्य सर्वविरतिको भी प्राप्त करता है, ऐसा नियम है। शतक वृहच्चूर्णिमें भी कहा है—

'उवसमसम्माइट्ठी अंतरकरणे ठिओ कोइ देसविरइं कोइ पमत्तापमत्तभावं पि गच्छइ सासायणो पुण न किमवि लहइ।'

अर्थात् 'अन्तरकरणमें स्थित कोई उपशम सम्यग्दृष्टि जीव देशविरतिको प्राप्त होता है और कोई प्रमत्तसंयत और अप्रमत्त संयत भावको भी प्राप्त होता है, परन्तु सास्वादन सम्यग्दृष्टि जीव इनमें से किसीको भी नहीं प्राप्त होता है। वह केवल मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही जाता है।'

इस प्रकार उपशम सम्यग्दृष्टि जीवको देशविरत गुणस्थानकी प्राप्ति कैसे होती है यह बतलाया, किन्तु वेदक सम्यक्त्वके साथ देशविरतिके होनेमें ऐसी खास अड़चन नहीं है, अतः देशविरत गुणस्थानमें वेदक सम्यग्दृष्टियोंके २८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान भी बन जाता है। किन्तु २४ प्रकृतिक सत्त्वस्थान उन्हीं तिर्यंचोंके होता है, जिन्होंने अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना की है और ये जीव वेदक सम्यग्दृष्टि ही होते हैं, क्योंकि तिर्यंचगतिमें औपशमिक सम्यग्दृष्टि के २४ प्रकृतिक सत्त्वस्थानकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। इन दो सत्तास्थानोंके अतिरिक्त तिर्यंच देशविरतके शेष २३ आदि सब सत्तास्थान नहीं होते, क्योंकि वे क्षायिक सम्यक्त्वको उत्पन्न करने

(१) जयधवला टीकामें स्वामीका निर्देश करते समय चारों गतियोंके जीवोंको २४ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका स्वामी बतलाया है। इसके अनुसार प्रत्येक गतिका उपशम सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना कर सकता है। कर्मप्रकृतिके उपशमना प्रकरणकी गाथा ३१ से भी इसकी पुष्टि होती है। यहाँ चारों गतिके जीवको अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करनेवाला बतलाया है।

वाले जीवके ही होते हैं, परन्तु तिर्यंच क्षायिक सम्यग्दर्शनको नहीं उत्पन्न करते हैं। व्रती अवस्थामें इसे तो केवल मनुष्य ही उत्पन्न करते हैं।

शंका—यद्यपि यह ठीक है कि तिर्यंचोंके २१ प्रकृतिक सत्त्वस्थान नहीं होता तथापि जब मनुष्य क्षायिक सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करते हुए या उत्पन्न करके तिर्यंचोंमें उत्पन्न होते हैं तब तिर्यंचोंके भी २२ और २१ प्रकृतिक सत्त्वस्थान पाये जाते हैं, अतः यह कहना युक्त नहीं है कि तिर्यंचोंके २२ आदि सत्त्वस्थान नहीं होते?

समाधान—यद्यपि यह ठीक है कि क्षायिक सम्यक्त्वको उत्पन्न करनेवाला २२ प्रकृतियोंकी सत्तावाला जीव या क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव मरकर तिर्यंचोंमें उत्पन्न होता है किन्तु यह जीव संख्यात वर्षकी आयुवाले तिर्यंचोंमें उत्पन्न न होकर असंख्यात वर्षकी आयुवाले तिर्यंचोंमें ही उत्पन्न होता है और इनके देशविरति होती नहीं, और देशविरतिके न होनेसे उनके तेरह प्रकृतिक बन्धस्थान नहीं पाया जाता। परन्तु यहाँ तेरह प्रकृतिक बन्धस्थानमें सत्त्वस्थानोंका विचार किया जा रहा है अतः ऊपर जो यह कहा है कि तिर्यंचोंके २२ आदि सत्त्वस्थान नहीं होते सो यह १३ प्रकृतिक बन्धस्थानकी अपेक्षासे ठीक ही कहा है। चूर्णिमें भी कहा है—

'एगवीसा तिरिक्खेसु संजयासंजएसु न संभवइ। कहं? भण्णइ—संखेज्जवासाउएसु तिरिक्खेसु खाइगसम्मद्दिट्ठी न उववज्जइ, असंखेज्जवासाउएसु उववज्जेज्जा तस्स देसविरई नत्थि।'

अर्थात् 'तिर्यंच संयतासंयतोंके २१ प्रकृतिक सत्त्वस्थान नहीं होता, क्योंकि क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव संख्यात वर्षकी आयुवाले तिर्यंचोंमें नहीं उत्पन्न होता है। हाँ असंख्यात वर्षकी आयुवाले तिर्यंचोंमें उत्पन्न होता है पर उनके देशविरति नहीं होती।'

एक साथ क्षय करता है। किन्तु इसके भी स्त्रीवेदकी क्षपणाके समय पुरुषवेदकी बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है। इस प्रकार चूँकि स्त्रीवेद और नपुसक वेदके उदयसे क्षपकश्रेणि पर चढ़े हुए जीवके या तो स्त्रीवेदकी क्षपणाके अन्तिम समयमें या स्त्रीवेद और नपुसकवेदकी क्षपणाके अन्तिम समयमे पुरुषवेदकी बन्ध व्युच्छित्ति हो जाती है अत इस जीवके चार प्रकृतिक बन्धस्थानमें वेदके उदयके विना एक प्रकृतिका उदय रहते हुए ग्यारह प्रकृतिक सत्त्वस्थान प्राप्त होता है। तथा यह जीव पुरुषवेद और हास्यादि छहका क्षय एक साथ करता है अत इसके पाँच प्रकृतिक सत्त्वस्थान न प्राप्त होकर चार प्रकृतिक सत्त्वस्थान प्राप्त होता है। किन्तु जो जीव पुरुषवेदके उदयसे क्षपकश्रेणी पर चढ़ता है उसके छह नोकषायोंके क्षय होनेके समय ही पुरुषवेदकी बन्धव्युच्छित्ति होती है, अत इसके चार प्रकृतिक बन्धस्थानमें ग्यारह प्रकृतिक सत्त्वस्थान नहीं प्राप्त होता किन्तु पाँच प्रकृतिक सत्त्वस्थान प्राप्त होता है। इसके यह सत्त्वस्थान दो समय कम दो आवलि

---

(१) कषायप्राभृतकी चूर्णिमें पाँच प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य और उत्कृष्ट दोनों प्रकारका काल एक समय कम दो आवलिप्रमाण बतलाया है। यथा—

'पचण्हं विहत्तिओ केवचिरं कालादो ? जहण्णुक्कस्सेण दो आवलियाओ समयूणाओ।'

इसकी टीका जयधवलामें लिखा है कि क्रोधसंज्वलन और पुरुषवेदके उदयसे क्षपकश्रेणि पर चढे हुए जीवके सवेद भागके द्विचरम समयमें छह नोकषायोंके साथ पुरुषवेदके प्राचीन सत्कर्मका नाश होकर सवेद भागके अन्तिम समयमें पुरुषवेदके एक समय कम दो आवलि प्रमाण नवक समय प्रबद्ध पाये जाते हैं, इसलिये पाँच प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य और उत्कृष्ट दोनों प्रकारका काल एक समय कम दो आवलि प्रमाण प्राप्त होता है।

काल तक रहकर तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त कालतक चार प्रकृतिक सत्त्वस्थान प्राप्त होता है। अतः चार प्रकृतिक बन्धस्थानमें २८, २४, २१, ११, ५ और ४ ये छह सत्त्वस्थान होते हैं यह सिद्ध हुआ।

अब तीन, दो और एक प्रकृतिक बन्धस्थानोंमेंसे प्रत्येकमें पाँच पाँच सत्त्वस्थान होते हैं इसका स्पष्टीकरण करते हैं—एक बात तो सर्वत्र सुनिश्चित है कि उपशमश्रेणीकी अपेक्षा प्रत्येक बन्धस्थानमें २८, २४ और २१ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। विचार केवल क्षपकश्रेणिकी अपेक्षा करना है। सो इस सम्बन्धमें ऐसा नियम है कि संज्वलन क्रोधकी प्रथम स्थिति एक आवलिप्रमाण शेष रहने पर बन्ध, उदय और उदीरणा इन तीनोंकी एक साथ व्युच्छित्ति हो जाती है और तदनन्तर तीन प्रकृतिक बन्ध होता है परन्तु उस समय संज्वलन क्रोधके एक आवलि प्रमाण प्रथम

---

(१) कर्मकाण्ड गाथा ६६३ में चार प्रकृतिक बन्धस्थानमें दो प्रकृतिक और एक प्रकृतिक ये दो उदयस्थान तथा २८, २४, २१, १३, १२, ११, ५ और ४ प्रकृतिक ये आठ सत्त्वस्थान बतलाये हैं। यथा—

'दुगमेगं च य सत्त पुव्वं वा अत्थि पणगदुगं।'

इसका कारण बतलाते हुए गाथा ४८४ में लिखा है कि जो जीव स्त्रीवेद व नपुंसकवेदके उदयके साथ श्रेणि पर चढ़ता है उसके स्त्रीवेद या नपुंसकवेदके उदयके द्विचरम समयमें पुरुषवेदकी बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है। यही सबब है कि कर्मकाण्डमें चार प्रकृति बन्धस्थानके समय १३ और १२ प्रकृतिक ये दो सत्त्वस्थान और बतलाये हैं।

स्थितिगत दलिकको और दो समय कम दो आवलि प्रमाण समय प्रबद्धको छोडकर अन्य सबका क्षय हो जाता है। यद्यपि यह भी दो समय कम दो आवलि प्रमाण कालके द्वारा क्षयको प्राप्त होगा किन्तु जब तक क्षय नहीं हुआ है तब तक तीन प्रकृतिक बन्ध स्थानमें चार प्रकृतिक सत्त्व पाया जाता है। और इसके क्षयको प्राप्त हो जाने पर तीन प्रकृतिक बन्धस्थानमें तीन प्रकृतिक सत्त्व प्राप्त होता है जो अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है। इस प्रकार तीन प्रकृतिक बन्धस्थानमें २८, २४, २१ ४ और ३ ये पाँच सत्त्वस्थान होते हैं यह सिद्ध हुआ। इसी प्रकार संज्वलन मानकी प्रथम स्थिति एक आवलि प्रमाण शेष रहने पर बन्ध, उदय और उदीरणा इन तीनाकी एक साथ व्युच्छित्ति हो जाती है और उस समयके बाद दो प्रकृतिक बन्ध होता है। पर उस समय संज्वलन मानके एक आवलि प्रमाण प्रथम स्थितिगत दलिकको और दो समय कम दो आवलि प्रमाण समयप्रबद्धको छोडकर अन्य सबका क्षय हो जाता है। यद्यपि यह शेष सत्कर्म भी दो समय कम दो आवलि प्रमाण कालके द्वारा क्षयको प्राप्त होगा किन्तु जब तक इसका क्षय नहीं हुआ है तब तक दो प्रकृतिक बन्धस्थानमें तीन प्रकृतिक सत्त्व पाया जाता है। पश्चात् इसके क्षयको प्राप्त हो जाने पर दो प्रकृतिक बन्धस्थानमें दो प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है जो अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है। इस प्रकार दो प्रकृतिक बन्धस्थानमें २८, २४, २१, ३ और २ ये पाँच सत्त्वस्थान होते हैं। इसी प्रकार संज्वलन मायाकी प्रथम स्थिति एक आव-

[२०]

गु०	ब०	भग	उ०	[illegible]	[illegible]	[illegible]	पदवृन्द	सत्तास्थान
१	२२	६	७	१	२४	७	१६८	२८
			८	३	७२	२४	५७६	२८, २७, २६
			९	३	७२	२७	६४८	२८, २७, २६
			१०	१	२४	१०	२४०	२८, २७, २६
२	२१	४	७	१	२४	७	१६८	२८
			८	२	४८	१६	३८४	२८
			९	१	२४	९	२१६	२८
३ ४	१७	२	६	१	२४	६	१४	२८, २४ २१
			७	४	९६	२८	६७२	२८, २७, २४, २३, २२, २१
			८	५	१२०	४०	९५६	,, ,,
			९	२	४८	१८	४३२	२८, २७, २४ २३, २२
५	१३	२	५	१	२४	५	१२०	२८, २४, २१
			६	३	७२	१८	४३२	२८, २४, २३, २२, २१
			७	३	७२	२१	५०४	२८, २४, २३, २२, २१
			८	१	२४	८	१९२	२८, २४, २३ २२
६	९	२	४	१	२४	४	९६	२८, २४, २१
७			५	३	७२	१५	३६०	२८, २४, २३, २२, २१
८			६	३	७२	१८	४३२	२८, २४, २३, २२, २१
			७	१	२४	७	१६८	२८ २४, २३, २२
९	५	१	२	०	१२		२४	२८, २४, २१, १३, १२
,,	४	१	१	०	४	०	४	२८, २४, २१, ११, ५, ४
,,	३	१	१	०	३	०	३	२८, २४, २१, ४, ३
,,	२	१	१	०	२	०	२	२८, २४, २१, ३ २
,,	१	१	१	०	१	०	१	२८, २४, २१, २, १
१०	०	०	१	०	१	०	१	२८, २४, २१, १
११	०	०	०	०	०	०	०	२८ २४, २१

४० ९८३ उदयपद ६९४७ पदवृन्द

सूचना—जिन आचार्यों का मत है कि चार प्रकृतिक बन्धस्थानमें दो और एक प्रकृतिक उदयस्थान होता है, उनके मतसे १२ उदयपद और २४ पदवृन्द बढ़कर उनकी संख्या क्रम ९९५ और ६९७१ प्राप्त होती है।

अब इस सब कथन का उपसंहार करके नाम कर्मके कहने की प्रतिज्ञा करते हैं—

दसनवपन्नरसाइं बंधोदयसन्तपयडिठाणाइं।
भणियाइं मोहणिज्जे इत्तो नाम परं वोच्छं॥ २३॥

अर्थ—मोहनीय कर्मके बन्ध, उदय और सत्त्वस्थान क्रमसे दस नौ और पन्द्रह कहे। अब आगे नामकर्म का कथन करते हैं।

विशेषार्थ—इस उपसंहार गाथाका यह अभिप्राय है कि यहाँ तक मोहनीय कर्मके दस बन्धस्थान, नौ उदयस्थान और पन्द्रह सत्त्वस्थानोंका, उनके सम्भव भंगोंका और बन्ध, उदय तथा सत्त्वस्थानके संवेध भंगोंका कथन किया, अब नाम कर्ममें सम्भव इन सब विशेषताओंका कथन करते हैं।

१०. नामकर्म

अब सबसे पहले नाम कर्मके बन्धस्थानोंका कथन करते हैं—

---

(१) 'दसणवपण्णरसाइं बंधोदयसत्तपयडिठाणाणि। भणिदाणि मोहणिज्जे एत्तो णामं परं वोच्छं॥'—गो० कर्म० गा० ५१८।

तेवीसं पण्णवीसा छव्वीसा अट्ठवीस गुणतीसा।
तीसेगतीसमेकं बंधट्ठाणाणि णामस्स ॥ २४ ॥

अर्थ—नाम कर्मके तेईस प्रकृतिक, पच्चीस प्रकृतिक, छब्बीस प्रकृतिक, अट्ठाईस प्रकृतिक, उनतीस प्रकृतिक, तीस प्रकृतिक, इकतीस प्रकृतिक और एक प्रकृतिक ये आठ बन्धस्थान होते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथामें नाम कर्मके तेईस प्रकृतिक आदि आठ बन्धस्थान होते हैं यह बतलाया है। आगे इन्हींका विस्तारसे विचार किया जाता है—वैसे तो नामकर्मकी उत्तर प्रकृतियाँ तिरानवे हैं पर उनमेंसे एक साथ कितनी प्रकृतियोंका बन्ध होता है, इसका विचार इन आठ बन्धस्थानोंमें किया है। उसमें भी कोई तिर्यंचगतिके, कोई मनुष्यगतिके, कोई देवगतिके और कोई नरकगतिके प्रायोग्य बन्धस्थान हैं। और इससे उनके अनेक अवान्तर भेद भी हो जाते हैं अत आगे इन अवान्तर भेदोंके साथ ही विचार करते हैं—तिर्यंचगतिके योग्य बन्ध करनेवाले जीवके सामान्यसे २३, २५, २६, २९ और ३० ये पॉच बन्धस्थान होते हैं। उनमें भी एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवके २३,

(१) 'णामस्स कम्मस्स अट्ठ ट्ठाणाणि एकतीसाए तीसाए एगुणतीसाए अट्ठवीसाए छव्वीसाए पणुवीसाए तेवीसाए एक्किस्से ट्ठाणं चेदि।' —जी० चू० ठा० सू० ६०। 'तेवीसा पणुवीसा छव्वीसा अट्ठवीस गुणतीसा। तीसेगतीस एगो बंधट्ठाणाइं नामेऽट्ठ ॥'—पञ्चसं० सप्तति० गा० ५५। तेवीसं पणवीसं छव्वीसं अट्ठवीसमुगतीसं। तीसेक्कतीसमेवं एगो बंधो दुसेढिम्मि ॥' —गो० कर्म० गा० ५२१।

(२) 'तिरिक्खगदिणामाए पंच ट्ठाणाणि तीसाए एगूणतीसाए छव्वीसाए पणुवीसाए तेवीसाए ट्ठाणं चेदि।'—जी० चू० ठा० सू० ६१।

२५ और २६ ये तीन बन्धस्थान होते हैं। उनमेसे २३ प्रकृतिक वन्धस्थानमें तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रियजाति, औदारिक शरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, हुण्डसस्थान, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघातनाम, स्थावरनाम, सूक्ष्म और वादर इनमेसे कोई एक, अपर्याप्तक नाम, प्रत्येक और साधारण इनमेंसे कोई एक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयश कीर्ति और निर्माण इन तेईस प्रकृतियोका बन्ध होता है। अत इन तेईस प्रकृतियोंके समुदायको एक तेईस प्रकृतिक बन्धस्थान कहते है। यह बन्धस्थान अपर्याप्त एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और मनुष्यके होता है। यहाँ भग चार प्राप्त होते है। यथा—यह ऊपर बतलाया ही है कि बादर और सूक्ष्ममेंसे किसी एकका तथा प्रत्येक और साधारणमेसे किसी एकका बन्ध होता है। अब यदि किसीने एक वार वादरके साथ प्रत्येकका और दूसरी बार बादरके साथ साधारणका वन्ध किया। इसी प्रकार किसीने एक वार सूक्ष्मके साथ प्रत्येकका और दूसरी वार सूक्ष्मके साथ साधारणका वन्ध किया तो इस प्रकार तेईस प्रकृतिक बन्धस्थानमे चार भग प्राप्त हो जाते हैं। पचीस प्रकृतिक वन्धस्थानमें—तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रियजाति, औदारिक शरीर, तैजसशरीर, कार्मण शरीर, हुण्डसस्थान, वर्णादि चार, अगुरलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, स्थावर, बादर और सूक्ष्ममेंसे कोई एक, पर्याप्तक, प्रत्येक और साधारणमेंसे कोई एक, स्थिर और अस्थिरमेंसे कोई एक, शुभ और अशुभमेसे कोई एक, यश कीर्ति और अयश कीर्तिमेंसे कोई एक, दुर्भग, अनादेय और निर्माण इन पचीस प्रकृतियोंका बन्ध होता है। अत इन पचीस प्रकृतियोके समुदायको एक पचीस प्रकृतिक बन्धस्थान कहते हैं। यह बन्धस्थान पर्याप्तक

एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले मिथ्यादृष्टि तिर्यंच, मनुष्य और देवके होता है। यहाँ भङ्ग बीस प्राप्त होते हैं। यथा—जब कोई जीव बादर, पर्याप्त और प्रत्येकका बन्ध करता है तब उसके स्थिर और अस्थिरमेंसे किसी एकका, शुभ और अशुभमेंसे किसी एकका तथा यश कीर्ति और अयश कीर्तिमेंसे किसी एकका बन्ध होनेके कारण आठ भग प्राप्त होते हैं। तथा जब कोई जीव बादर, पर्याप्त और साधारण का बन्ध करता है तब उसके यश कीर्तिका बन्ध न होकर केवल अयश कीर्तिका ही बन्ध होता है। कहा भी है—

'नो सुहुमतिगेण जस।'

अर्थात 'सूक्ष्म, साधारण और अपर्याप्तक इनमेंसे किसी एकका भी बन्ध होते समय यश कीर्तिका बन्ध नहीं होता।'

अत यहाँ यश कीर्ति और अयश कीर्तिके निमित्तसे तो भग सम्भव नहीं। अब रहे स्थिर-अस्थिर और शुभ अशुभ ये दो युगल सो इनका विकल्पसे बन्ध सम्भव है। अर्थात् स्थिरके साथ भी एकबार शुभका और एकबार अशुभका तथा इसी प्रकार अस्थिरके साथ भी एकबार शुभका और एक बार अशुभका बन्ध सम्भव है, अत यहाँ कुल चार भग हुए। इसी प्रकार जब कोई जीव सूक्ष्म और पर्याप्तकका बन्ध करता है तब उसके यश कीर्ति और अयश कीर्ति इनमेंसे तो एक अयश कीर्तिका ही बन्ध होता है, किन्तु प्रत्येक और साधारणमेंसे किसी एकका, स्थिर और अस्थिरमेंसे किसी एकका तथा शुभ और अशुभमेंसे किसी एकका बन्ध होनेके कारण आठ भग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार पचीस प्रकृतिक बन्धस्थानके कुल भग बीस होते हैं। तथा छब्बीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें—तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रिजाति, औदारिकशरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, हुण्ड-

संस्थान, वर्णादि चार, अगुरुलघु, पराघात, उपघात, उच्छ्वास, स्थावर, आतप और उद्योतमेंसे कोई एक, बादर, पर्याप्तक प्रत्येक स्थिर और अस्थिरमेंसे कोई एक, शुभ और अशुभमेंसे कोई एक, दुर्भग, अनादेय, यश कीर्ति और अयश कीर्तिमेंसे कोई एक तथा निर्माण इन छब्बीस प्रकृतियोंका बन्ध होता है, अतः इन छब्बीस प्रकृतियोंके समुदायको एक छब्बीस प्रकृतिक बन्धस्थान कहते हैं। यह बन्धस्थान पर्याप्तक और बादर एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका आतप और उद्योतमेंसे किसी एक प्रकृतिके साथ बन्ध करनेवाले मिथ्यादृष्टि तिर्यंच, मनुष्य और देवके होता है। यहाँ भंग सोलह होते हैं। जो आतप और उद्योतमेंसे किसी एकका, स्थिर और अस्थिरमेंसे किसी एकका, शुभ और अशुभमेंसे किसी एकका तथा यश कीर्ति और अयश कीर्तिमेंसे किसी एकका बन्ध होनेके कारण प्राप्त होते हैं। आतप और उद्योतके साथ सूक्ष्म और साधारणका बन्ध नहीं होता, अतः यहाँ सूक्ष्म और साधारणके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले भंग नहीं कहे। इस प्रकार एकेन्द्रिय प्रायोग्य २३, २५ और २६ इन तीन बन्धस्थानोंके कुल भंग ४+२०+१६=४० होते हैं। कहा भी है—

'चत्तारि वीस सोलस भंगा एगिंदियाण चत्ताला।'

अर्थात् एकेन्द्रिय सम्बन्धी २३ प्रकृतिक बन्धस्थानके चार, २५ प्रकृतिक बन्धस्थानके बीस और २६ प्रकृतिक बन्धस्थानके सोलह इस प्रकार कुल चालीस भंग होते हैं।'

द्वीन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंको बाँधनेवाले जीवके २५, २९ और ३० ये तीन बन्धस्थान होते हैं। इनमेंसे पचीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें—तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, द्वीन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, हुण्डसंस्थान, सेवार्त संहनन, औदारिक आंगोपांग, वर्णादिचार, अगुरुलघु, उपघात,

त्रस, बादर, अपर्याप्तक, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति और निर्माण इन पच्चीस प्रकृतियोंका बन्ध होता है। अतः इनका समुदाय रूप एक पच्चीस प्रकृतिक बन्धस्थान कहलाता है। इस स्थानको अपर्याप्तक द्वीन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंको बाँधनेवाले मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंच बाँधते हैं। यहाँ अपर्याप्तक प्रकृतिके साथ केवल अशुभ प्रकृतियोंका ही बन्ध होता है शुभ प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता, अतः एक ही भंग होता है। इन पच्चीस प्रकृतियोंमेंसे अपर्याप्तको घटाकर पराघात, उच्छ्वास, अप्रशस्तविहायोगति, पर्याप्तक और दुःस्वर इन पाँच प्रकृतियोंके मिला देनेपर उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। इसका कथन इस प्रकार करना चाहिये—तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, द्वीन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, औदारिक आंगोपांग, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, हुण्डसंस्थान, सेवार्तसंहनन, वर्णादि चार, अगुरुलघु, पराघात, उपघात, उच्छ्वास, अप्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्तक, प्रत्येक, स्थिर और अस्थिरमेंसे कोई एक, शुभ और अशुभमेंसे कोई एक, दुःस्वर, दुर्भग, अनादेय, यशःकीर्ति और अयशःकीर्तिमेंसे कोई एक तथा निर्माण इस प्रकार उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें ये उनतीस प्रकृतियाँ होती हैं, अतः इनका समुदाय रूप एक उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थान कहलाता है। यह बन्धस्थान पर्याप्तक द्वीन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंको बाँधनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवके होता है। यहाँ पर स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ और यशःकीर्ति–अयशःकीर्ति इन तीन युगलोंमेंसे प्रत्येक प्रकृतिका विकल्पसे बन्ध होता है, अतः आठ भंग प्राप्त होते हैं। तथा इन उनतीस प्रकृतियोंमें उद्योत प्रकृतिके मिला देनेपर तीस प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। इस स्थानको भी पर्याप्त दो इन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंको बाँधनेवाला मिथ्यादृष्टि ही

बाँधता है। यहाँ भी वे ही आठ भंग होते हैं। इस प्रकार कुल भंग सत्रह होते हैं। तीनेन्द्रिय और चौइन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंको बाँधनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवके भी पूर्वोक्त प्रकारसे तीन तीन बन्धस्थान होते हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि तीनेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंमें तीनइन्द्रिय जाति और चौइन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंमें चौइन्द्रियजाति कहनी चाहिये। भंग भी प्रत्येकके सत्रह सत्रह होते हैं। इस प्रकार कुल भंग इक्यावन होते हैं। कहा भी है—

'एगट्ठ अट्ठ विगलिंदियाण इगवण्ण तिण्ह पि।'

अर्थात् 'विकलत्रयमेंसे प्रत्येकके योग्य बंधनेवाले, २५, २९ और ३० प्रकृतिक बन्धस्थानोंके क्रमश एक, आठ और आठ भंग होते हैं। तथा तीनोंके मिलाकर इक्यावन भंग होते हैं।'

तिर्यंचगति पचेन्द्रियके योग्य प्रकृतियों का बन्ध करनेवाले जीव के २५, २९ और ३० ये तीन बन्धस्थान होते हैं। इनमें से पच्चीस प्रकृतिक बन्धस्थान तो वही है जो द्वीन्द्रियके योग्य पच्चीस प्रकृतिक बन्धस्थान बतला आये हैं। किन्तु वहाँ द्वीन्द्रिय जाति कही है सो उसके स्थान में पचेन्द्रिय जाति कहनी चाहिये। यहाँ एक भंग होता है। उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थान में तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी पचेन्द्रियजाति, औदारिक शरीर, औदारिक आगोपाग, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, छह सस्थानोंमें से कोई एक सस्थान, छह सहननोंमेंसे कोई एक सहनन, वर्णादिक चार, अगुरुलघु उपघात, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति मेंसे कोई एक, त्रस, बादर, पर्याप्तक, प्रत्येक स्थिर और अस्थिरमें से कोई एक, शुभ और अशुभमेंसे कोई एक, सुभग और दुर्भगमें से कोई एक, सुस्वर और दुस्वरमेंसे कोई एक, आदेय और

अनादेयमेंसे कोई एक, यश कीर्ति और अयश कीर्तिमेंसे कोई एक तथा निर्माण इन उनतीस प्रकृतियोंका बन्ध होता है, अत इनका समुदाय रूप एक उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थान कहलाता है। यह बन्धस्थान पर्याप्त तिर्यंच पचेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंको बाधने वाले चारों गतिके मिथ्यादृष्टि जीवके होता है। यदि इस बन्धस्थानका बन्धक सास्वादनसम्यग्दृष्टि होता है तो उसके प्रारम्भके पाच सहननोंमेंसे किसी एक सहननका और प्रारम्भके पाच सस्थानोंमे से किसी एक सस्थानका बन्ध होता है, क्योंकि हुडसस्थान और सेवार्त सहननको सास्वादनसम्यग्दृष्टि नहीं बाधता है ऐसा नियम है। यथा—

'हुड असपत्त च सासणो ण वधइ।'

अर्थात् 'सास्वादन सम्यग्दृष्टि जीव हुडसस्थान और असप्राप्त सहननका बन्ध नहीं करता।'

इस उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें सामान्यसे छह सहननोंमे से किसी एक सहननका, छह सस्थानोंमेंसे किसी एक सस्थानका प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगतिमेंसे किसी एक विहायोगतिका, स्थिर और अस्थिरमेंसे किसी एकका, शुभ और अशुभमेंसे किसी एकका, सुभग और दुर्भगमेंसे किसी एकका, सुस्वर और दु स्वरमे से किसी एकका, आदेय और अनादेयमेंसे किसी एकका तथा यश कीर्ति और अयश कीर्तिमेंसे किसी एकका बन्ध होता है अत इन सब सख्याओंको परस्पर गुणित कर देने पर ४६०८ भग प्राप्त होते हैं। यथा–६×६×२×२×२×२×२×२×२ =४६०८। जैसा कि पहले लिख आये हैं कि इस स्थानका बन्धक सास्वादन सम्यग्दृष्टि भी होता है किन्तु इसके पाच सहनन और पाच सस्थानका ही बन्ध होता है, इसलिये इसके ५×५×२×२ ×२×२×२×२×२=३२०० भग प्राप्त होते हैं। किन्तु इनका

अन्तर्भाव पूर्वोक्त भगोंमें ही हो जाता है, इसलिये इन्हें अलगसे नहीं गिनाया है। इस बन्धस्थानमें एक उद्योत प्रकृतिके मिला देने पर तीस प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। जिस प्रकार उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा विशेपता बतला आये हैं उसी प्रकार यहाँ भी वही विशेषता समझना चाहिये। अत यहाँ भी सामान्यसे ४६०८ भग होते हैं। कहा भी है—

'गुणतीसे तीसे वि य भङ्गा अट्ठाहिया छयालसया।
पचिंदियतिरिजोगे पणवीसे बधि भङ्गिक्को॥'

अर्थात् पञ्चेन्द्रिय तिर्यंचके योग्य उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें ४६०८, तीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें ४६०८ और पच्चीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें एक भग होता है।'

इस प्रकार पचेन्द्रिय तिर्यंचके योग्य तीन बन्धस्थानो के कुल भग ४६०८+४६०८+१=९२१७ होते हैं। इनमें एकेन्द्रियके योग्य बन्धस्थानों के ४० द्वीन्द्रियके योग्य बन्धस्थानोंके १७, त्रीन्द्रिय के योग्य बन्धस्थानोंके १७ और चौइन्द्रियके योग्य बन्धस्थानोंके १७ भग मिलाने पर तिर्यंचगति सम्बन्धी बन्धस्थानोंके कुल भङ्ग ९२१७+४०+५१=९३०८ होते हैं।

मनुष्यगतिके योग्य प्रकृतियों को बाधनेवाले जीवके २५, २९ और ३० ये तीन बन्धस्थान होते हैं।[1] इनमेंसे पच्चीस प्रकृतिक बन्धस्थान वही है जो अपर्याप्त द्वीन्द्रियके योग्य बन्ध करनेवाले जीवके कह आये हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि यहा मनुष्य गति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और पचेन्द्रिय जाति ये तीन प्रकृतिया कहनी चाहिये। उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थान तीन प्रकारका है।

(१) 'मणुअगदिणामाए तिण्णि ट्ठाणाणि तीसाए एगूणतीसाए पणुवीसाए ट्ठाणं चेदि।'—जी० चू० ट्ठा० सू० ८४।

एक मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा होता है। दूसरा सासादन सम्यग्दृष्टि-की अपेक्षा होता है और तीसरा सम्यग्मिथ्यादृष्टि या अविरत-सम्यग्दृष्टि जीवोंकी अपेक्षा होता है। इनमें से प्रारम्भके दो पहले के समान जानना चाहिये। अर्थात् जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि और सास्वादनसम्यग्दृष्टिके तिर्यंचप्रायोग्य उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थान बतला आये हैं उसी प्रकार यहा भी जानना चाहिये। किन्तु यहा भी तिर्यंचगतिके योग्य प्रकृतियोंको निकालकर उनके स्थानमें मनुष्यगतिके योग्य प्रकृतिया मिला देना चाहिये। तीसरे प्रकारके बन्धस्थानमें मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, पचेन्द्रियजाति, औदारिक शरीर, औदारिक आगोपाग, तैजसशरीर, कार्मणशरीर समचतुरस्र सस्थान, वज्रर्षभनाराचसहनन, वर्णादिक चार, अगुरुलघु, उपघात पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त प्रत्येक, स्थिर और अस्थिरमेसे कोई एक, शुभ और अशुभमेंसे कोई एक, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश कीर्ति और अयश कीर्तिमेंसे कोई एक तथा निर्माण इन उनतीस प्रकृतियोंका बन्ध होता है। यहाँ तीनों प्रकारके उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें सामान्यसे पूर्वोक्त प्रकारसे ४६०८ भग होते हैं। यद्यपि गुणस्थान भेदसे यहा भगोंमें भेद हो जाता है पर गुणस्थानभेदकी विवक्षा न करके यहा ४६०८ भग कहे गये हैं। तथा इसमे तीर्थंकर प्रकृतिके मिला देने पर तीस प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। इस बन्धस्थानमें स्थिर और अस्थिर मेंसे किसी एकका, शुभ और अशुभमेंसे किसी एकका तथा यश कीर्ति और अयश कीर्तिमें से किसी एकका बन्ध होता है। अत इन सब सख्याओं को परस्पर गुणित करने पर २×२×२=८ भग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार मनुष्यगतिके योग्य २५, २९ और ३० प्रकृतिक बन्धस्थानोंमे कुल भग १+४६०८+८=४६१७ होते हैं। कहा भी है—

'पणुवीसयम्मि एक्को छायालसया अडुत्तर गुतीसे ।
मणुतीसेऽट्ठ उ सव्वे छायालसया उ सत्तरसा ॥'

अर्थात् 'मनुष्यगतिके योग्य पच्चीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें एक, उनतीम प्रकृतिक बन्धस्थानमें ४६०८ और तीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें ८ भंग होते हैं। ये कुल भंग ४६१७ होते हैं ॥'

देवगतिके योग्य प्रकृतियोंको बाधनेवाले जीवके २८, २९, ३० और ३१ ये चार बन्धस्थान होते हैं। उनमेंसे २८ प्रकृतिक बन्धस्थानमें—देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, पचेन्द्रियजाति, वैक्रियशरीर, वैक्रिय आगोपाग, तैजस शरीर, कार्मणशरीर, समचतुरस्र सस्थान, वर्णादि चार, अगुरुलघु, पराघात, उपघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्तक, प्रत्येक स्थिर और अस्थिरमेंसे कोई एक, शुभ और अशुभमेंसे कोई एक, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश कीर्ति और अयश कीर्तिमेंसे कोई एक तथा निर्माण इन अट्ठाईस प्रकृतियोंका बन्ध होता है। अत इनका समुदाय एक बन्धस्थान है। यह बन्धस्थान देवगतिके योग्य प्रकृतियोंका बध करनेवाले मिथ्यादृष्टि, सास्वादनसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत और सर्वविरत जीवोंके होता है। यहा स्थिर और अस्थिरमेंसे किसी एकका, शुभ और अशुभमेंसे किसी एकका तथा यश कीर्ति और अयश कीर्तिमेंसे किसी एकका बन्ध होता है अत उक्त सख्याओंका परस्पर गुणा करने पर २×२×२=८ भग प्राप्त होते हैं। इस अट्ठाईस प्रकृतिक बन्धस्थानमें तीर्थकर प्रकृतिके मिलाने पर उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। तीर्थकर प्रकृतिका बन्ध अविरतसम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानोंमे ही होता है, अत यह बन्धस्थान अविरतसम्यग्दृष्टि आदि जीवोंके ही बधता है।

(१) देवगदिणामाए पंच ट्ठाणाणि एक्कत्तीसाए तीसाए एगुणतीसाए अट्ठवीसाए एक्कस्से ट्ठाणं चेदि।'—जी० चू० ट्ठा० सू० ६१।

यहाँ भी २८ प्रकृतिक बन्धस्थानके समान आठ भग होते हैं। तीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें—देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, पचेन्द्रिय जाति, वैक्रियशरीर, वैक्रिय आगोपाग, आहारक शरीर, आहारक आगोपाग, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, समचतुरस्र सस्थान, वर्णादि चार, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्तक, प्रत्येक, शुभ, स्थिर, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश कीर्ति और निर्माण इन तीस प्रकृतियोंका बन्ध होता है, अत इनका समुदायरूप एक स्थान होता है। इस स्थानमें सब शुभ कर्मोंका ही बध होता है अत यहा एक ही भग प्राप्त होता है। इस बन्धस्थानमें एक तीर्थंकर प्रकृतिके मिला देने पर इकतीस प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। यहाँ भी एक भग होता है। इस प्रकार देवगतिके योग्य चार बन्धस्थानोंमें कुल भग १८ होते हैं। कहा भी है—

'अट्ठऽट्ठ एक एक्क अट्ठार देवजोगेसु।'

अर्थात् 'देवगतिके योग्य २८, २९, ३० और ३१ इन बन्धस्थानो में क्रमश आठ, आठ, एक और एक भग होते है।'

नरक गतिके योग्य प्रकृतियों का बन्ध करनेवाले जीवके अट्ठाईस प्रकृतिक एक बन्धस्थान होता है। इसमें नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, पचेन्द्रिय जाति, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय आगोपाग, तैजस

(१) तत्थ इमं अट्ठावीसाए ट्ठाणं णिरयगदी पचिंदियजादी वेउव्विय-तेजाकम्मइयसरीर हुडसंठाण वेउव्वियसरीरअगोवंग वण्णगधरसफास णिरय गइपाओग्गाणुपुव्वी अगुरुअलहुअ उवघाद परघाद-उस्सास अप्पसत्थविहायगई तस बादर पज्जत्त-पत्तेयसरीर अथिर-असुह दुहग-दुस्सर अणादेज्ज अजसकित्ति-णिमिणणाम। एदासिं अट्ठावीसाए पयडीणमेकम्हि चेव ट्ठाण ॥ णिरयगदि पचिंदिय पज्जत्तसजुत्त बंधमाणस्स त मिच्छादिट्ठिस्स ॥'—जी० चू० ट्ठा० सू० ६१-६२।

शरीर, कार्मण शरीर, हुण्डसंस्थान, वर्णादि चार, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, अप्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्तक, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दु स्वर, अनादेय, अयश कीर्ति और निर्माण इन अट्ठाईस प्रकृतियोंका बन्ध होता है। अत इनका समुदायरूप एक बन्धस्थान है। यह बन्धस्थान मिथ्यादृष्टिके ही होता है। यहा सब अशुभ प्रकृतियोंका ही बन्ध होता है अत यहा एक ही भग है।

इन तेईस आदि उपर्युक्त बन्धस्थानोंके अतिरिक्त एक बन्धस्थान और है जो देवगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्धविच्छेद हो जाने पर अपूर्वकरण आदि तीन गुणस्थानोंमें होता है। इसमें केवल यश कीर्तिका ही बन्ध होता है।

अब किस बन्धस्थानमें कुल कितने भग प्राप्त होते हैं इसका विचार करते हैं—

चउ पणवीसा सोलस नव बाणउईसया य अडयाला।
एयालुत्तर छायालसया एक्केक बधविही॥ २५॥

अर्थ—तेईस आदि बन्धस्थानों में क्रम से चार, पच्चीस, सोलह, नौ, नौ हजार दो सौ अडतालीस, चार हजार छह सौ इकतालीस, एक और एक भग होते हैं॥२५॥

विशेषार्थ—यद्यपि पहले तेईस आदि बन्धस्थानोंका विवेचन करते समय भगों का भी उल्लेख किया है पर उससे प्रत्येक बन्धस्थानके समुच्चयरूप भगोंका बोध नहीं होता, अत प्रत्येक बन्धस्थानके समुच्चयरूप भगोंका बोध करानेके लिये यह गाथा आई है। यद्यपि सामान्यसे तो गाथामें ही बतला दिया है कि

किस बन्धस्थान में कितने भग होते हैं पर वे किस प्रकार होते हैं इस बातका ज्ञान उतने मात्रसे नहीं होता, अत आगे इसी बातका विस्तारसे विचार करते हैं—तेईस प्रकृतिक बन्धस्थानमें चार भग होते हैं, क्योंकि तेईस प्रकृतिक बन्धस्थान अपर्याप्त एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंको बाँधनेवाले जीवके ही होता है अन्यके नहीं और इसके पहले चार भग बतला आये हैं, अत तेईस प्रकृतिक बन्धस्थानमें वे ही चार भग जानना चाहिये। पच्चीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें कुल पच्चीस भग होते हैं, क्योंकि एकेन्द्रियके योग्य पच्चीस प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवके बीस भग होते हैं। तथा अपर्याप्त दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्यगतिके योग्य पच्चीस प्रकृतियोका बन्ध करनेवाले जीवके एक एक भग होता है। इस प्रकार पूर्वोक्त बीस भगोंमें इन पाँच भङ्गोंके मिलाने पर पच्चीस प्रकृतिक बन्धस्थानके कुल पच्चीस भङ्ग होते हैं। छब्बीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें कुल सोलह भङ्ग होते हैं, क्योंकि यह एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवके ही होता है और एकेन्द्रिय प्रायोग्य छब्बीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें पहले सोलह भङ्ग बतला आये हैं, अत छब्बीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें वे ही सोलह भङ्ग जानना चाहिये। अट्ठाईस प्रकृतिक बन्धस्थानमें कुल नौ भङ्ग होते हैं, क्योंकि देवगति के योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीव के २८ प्रकृतिक बन्धस्थानके आठ भङ्ग होते हैं और नरक गतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवके २८ प्रकृतिक बन्धस्थानका एक भङ्ग

होता है। यह बन्धस्थान इनके अतिरिक्त अन्य प्रकारसे नहीं प्राप्त होता अत इसके कुल नौ भङ्ग हुए यह सिद्ध हुआ। उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थानके ९२४८ भङ्ग होते हैं, क्योंकि तिर्यंच पचेन्द्रिय के योग्य उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थानके ४६०८ भङ्ग होते हैं। मनुष्य गतिके योग्य उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थानके भी ४६०८ भङ्ग होते हैं। और दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय और चौइन्द्रियके योग्य और तीर्थंकर सहित देवगतिके योग्य उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थानके आठ आठ भङ्ग होते हैं। इस प्रकार उक्त भङ्गोको मिलाने पर २९ प्रकृतिक बन्धस्थानके कुल भङ्ग ४६०८ + ४६०८ + ८ + ८ + ८ + ८ = ९२४८ होते हैं। ३० प्रकृतिक बन्धस्थानके कुल भङ्ग ४६४१ होते हैं। क्योंकि तिर्यंचगतिके योग्य तीसका बध करनेवालेके ४६०८ भग होते हैं। दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और मनुष्यगतिके योग्य तीसका बन्ध करनेवाले जीवोंके आठ आठ भग होते हैं और आहारकके साथ देवगतिके योग्य तीसका बन्ध करनेवालेके एक भग होता है। इस प्रकार उक्त भगोको मिलानेपर ३० प्रकृतिक बन्धस्थानके कुल भग ४६०८+८+८+८+८+१ = ४६४१ होते हैं। तथा इकतीस प्रकृतिक बन्धस्थानका और एक प्रकृतिक बन्धस्थान का एक एक भग होता है यह स्पष्ट ही है। इस प्रकार इन सब बन्धस्थानोंके कुल भङ्ग १३९४५ होते हैं। यथा—४ + २५ + १६ + ९ + ९२४८ + ४६४१ + १ + १ = १३९४५। इस प्रकार नामकर्मके बन्धस्थान और उनके कुल भङ्गों का कथन समाप्त हुआ।

नामकर्मके बन्धस्थानोंकी उक्त विशेषताका ज्ञापक कोष्ठक—

[२१]

बन्धस्थान	भंग	आगामिभवप्रायोग्य	बन्धक
२३ प्र०	४	अपर्याप्त एकेन्द्रिय प्रायोग्य	तिर्यंच व मनुष्य
२५ प्र०	२५	ए० २०, वे० १, ते० १, च०१, पं०ति०१, मनु०१	तिर्यंच व मनुष्य २५ देव८
२६ प्र०	१६	पर्याप्त एकेन्द्रिय प्रायोग्य	तिर्यंच, मनुष्य व देव
२८ प्र०	९	देव गति प्रा० ८ नरकगति प्रा० १	पंचे० ति० व मनु० ९
२९ प्र०	६२४८	वे० ८, ते० ८, च० ८, पं० ति० ४६०८, मनु० ४६०८, देव ८	तिर्यंच ६२४०, म० ६२४८ देव ६२१६, ना० ९३१६
३० प्र०	४६४१	वे०८, ते०८, च०८, पं० ति०४६०८, म०८, दे०१	ति० ४६३२, म ४६३३ दे०४६१६, ना०४६१६
३१ प्र०	१	देवप्रायोग्य	मनुष्य
१ प्र०	१	अप्रायोग्य	मनुष्य

अब नामकर्मके उदयस्थानोंका कथन करते हैं—

वीसिगवीसा चउवीसगाइ एगाहिया उ इगतीसा।
उदयट्ठाणाणि भवे नव अट्ठ य हुंति नामस्स ॥२६॥

अर्थ—नाम कर्मके २०, २१ प्रकृतिक और २४ प्रकृतिक से लेकर ३१ प्रकृतिक तक ८ तथा नौ प्रकृतिक और आठ प्रकृतिक ये बारह उदयस्थान होते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथामें नामकर्मके उदयस्थान गिनाये हैं। आगे उन्हीं का विवेचन करते हैं—एकेन्द्रिय जीवके २१, २४, २५, २६ और २७ ये पाँच उदयस्थान होते हैं। सो यहाँ तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, वर्णादि चार और निर्माण ये बारह प्रकृतियाँ उदयकी अपेक्षा ध्रुव हैं, क्योंकि तेरहवें गुणस्थान तक इनका उदय सबके होता है। अब इनमें तिर्यंचगति तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, स्थावर, एकेन्द्रिय जाति, बादर सूक्ष्ममेंसे कोई एक, पर्याप्त और अपर्याप्तमेंसे कोई एक, दुर्भग अनादेय तथा यश कीर्ति और अयश कीर्तिमेंसे कोई एक इन नौ प्रकृतियोंके मिला देने पर इक्कीस प्रकृतिक उदस्थान होता है। यह उदयस्थान भवके अपान्तरालमें विद्यमान एकेन्द्रियके होता है। इस उदयस्थानमें पाँच भङ्ग होते हैं। जो इस प्रकार हैं—बादर अपर्याप्तक बादर पर्याप्तक, सूक्ष्म अपर्याप्तक और सूक्ष्म पर्याप्तक। सो ये चारों भङ्ग अयश कीर्तिके साथ कहना चाहिये।

---

(१) 'अडनववीसिगवीसा चउवीसेगहिय जाव इगितीसा। चउगइएसु बारस उदयट्ठाणाइ नामस्स ॥' पञ्च० सप्त० गा० ७३। 'वीसं इगिचउवीसं तत्तो इगितीसओ त्ति एयधियं। उदयट्ठाणा एवं णव अट्ठ य होंति णामस्स ॥' —गो० कर्म० गा० ५९२।

अथवा, शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जोवके उच्छ्वासका उदय नहीं होता इसलिये उसके स्थानमें उद्योतके मिला देने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसके भी ५७६ भग होते हैं। इस प्रकार २९ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल भग ११५२ होते हैं। तदनन्तर भाषा पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जोवके सुस्वर और दुःस्वरमेंसे किसी एकके मिला देने पर ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसके ११५२ भग होते हैं, क्योंकि जो पहले २९ प्रकृतिक स्थानके उच्छ्वास-की अपेक्षा ५७६ भग बतला आये हैं उन्हें स्वरद्विकसे गुणित करने पर ११५२ प्राप्त होते हैं। अथवा प्राणापान पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके जो २९ प्रकृतिक उदयस्थान बतला आये हैं उसमें उद्योत के मिला देने पर ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसके पहलेके समान ५७६ भग होते हैं। इस प्रकार ३० प्रकृतिक उदस्थानके कुल भग १७२८ प्राप्त होते हैं। तथा स्वरसहित ३० प्रकृतिक उदयस्थान में उद्योतके मिला देने पर ३१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसके कुल भग ११५२ होते हैं, क्योंकि स्वर प्रकृति सहित ३० प्रकृतिक उदयस्थानके जो ११५२ भग कहे हैं वे ही यहा प्राप्त होते हैं। इस प्रकार प्राकृत तिर्यचपचेन्द्रियके छह उदयस्थान और उनके कुल भग ९+२८९+५७६+११५२ + १७२८+११५२ = ४९०६ होते हैं।

वैक्रियशरीरको करनेवाले इन्हीं तिर्यचपचेन्द्रियोंके २५, २७, २८, २९ और ३० ये पाच उदयस्थान होते हैं। पहले तिर्यचपचेन्द्रियके इकोस प्रकृतिक उदयस्थान बतला आये हैं उसमें वैक्रियशरीर, वैक्रिय आगोपाग, समचतुरस्र सस्थान, उपघात और प्रत्येक इन पाँच प्रकृतियोंके मिला देने पर तथा तिर्यच-गत्यानुपूर्वीके निकाल लेने पर पच्चीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ सुभग और दुर्भगमेंसे किसी एकका, आदेय और

पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका पूर्ववत् एक ही भंग हुआ। इस प्रकार २९ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल ९ भंग हुए। तथा सुस्वर सहित २९ प्रकृतिक उदयस्थानमें संयतोंके उद्योतके मिलाने पर ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका पूर्ववत् एक ही भंग हुआ। इस प्रकार वैक्रिय शरीरको करनेवाले मनुष्यों के कुल उदयस्थान पाँच और उनके कुल भंग ८+८+९+९+१=३५ होते हैं।

आहारक संयतोंके २५, २७, २८, २९ और ३० ये पाँच उदयस्थान होते हैं। पहले मनुष्यगतिके उदय योग्य २१ प्रकृतियाँ कह आये हैं। उनमें आहारक शरीर, आहारक आंगोपांग, समचतुरस्रसंस्थान, उपघात और प्रत्येक इन पाँच प्रकृतियोंके मिलाने पर तथा मनुष्य गत्यानुपूर्वीके निकाल लेने पर २५ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। किन्तु इतनी विशेषता है कि यहाँ सब प्रशस्त प्रकृतियोंका ही उदय होता है, क्योंकि आहारक

---

(१) गोम्मटसार कर्मकाण्डकी गाथा २९७ से ज्ञात होता है कि पाँचवें गुणस्थान तकके जीवों के ही उद्योत प्रकृतिका उदय होता है। तथा उसकी गाथा २८६ से यह भी ज्ञात होता है कि उद्योतका उदय तिर्यंचगतिमें ही होता है। इसीसे कर्मकाण्डमें आहारक संयतोंके २५, २७, २८, और २९ प्रकृतिक चार उदयस्थान बतलाये हैं। इनमें से २५ और २७ प्रकृतिक उदयस्थान तो सप्ततिका प्रकरणके अनुसार ही जानना चाहिये। अब रहे शेष २८ और २९ ये दो उदयस्थान सो इनमें से २८ प्रकृतिक उदयस्थान उच्छ्वास प्रकृतिके उदयसे और २९ प्रकृतिक उदयस्थान सुस्वर प्रकृतिके उदयसे होता है ऐसा यहाँ जानना चाहिये। अर्थात् २७ प्रकृतिक उदयस्थानमें उच्छ्वास प्रकृतिके मिलाने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है और इस २८ प्रकृतिक उदयस्थानमें सुस्वर प्रकृतिके मिलाने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

सयतोके दुर्भग, दु स्वर और अयश कीर्ति का उदय नहीं होता। अत यहाँ एक ही भग होगा। तदनन्तर शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके पराघात और प्रशस्त विहायोगति इन दो प्रकृतियोंके मिला देने पर २७ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी एक ही भग है। तदनन्तर प्राणापान पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उच्छ्वासके मिलाने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका एक भग होता है। अथवा शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके पूर्वोक्त २७ प्रकृतिक उदयस्थानमें उद्योतके मिला देनेपर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका भी एक भग है। इस प्रकार २८ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल दो भङ्ग हुए। तदनन्तर भाषा पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उच्छ्वास सहित २८ प्रकृतिक उदयस्थानमें सुस्वरके मिलाने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका एक भङ्ग है। अथवा, प्राणापान पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके स्वरके स्थानमे उद्योतके मिलाने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका भी एक भग है। इस प्रकार २९ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल दो भग हुए। तदनन्तर भाषा पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके स्वरसहित २९ प्रकृतिक उदयस्थानमें उद्योतके मिलाने पर ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका एक भङ्ग है। इस प्रकार आहारक सयतोके कुल उदयस्थान ५ और उनके कुल भङ्ग १+१+२+२+१ = ७ होते हैं।

केवली जीवोके २० २१, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ८ और ९ ये दस उदयस्थान होते हैं। पूर्वोक्त १२ ध्रुवोदय प्रकृतियो में मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्तक, सुभग, आदेय और यश कीर्ति इन आठ प्रकृतियोके मिला देनेपर २० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका एक भङ्ग है। यह उदयस्थान समुद्घातगत अतीर्थकेवलीके कार्मण काययोगके समय

होता है। इस उदयस्थानमें तीर्थंकर प्रकृतिके मिला देने पर २१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका भी एक भङ्ग है। यह उदयस्थान समुद्घातगत तीर्थंकर केवलीके कार्मणकाययोगके समय होता है। तथा पूर्वोक्त २० प्रकृतिक उदयस्थानमें औदारिकशरीर, छह संस्थानोंमेंसे कोई एक संस्थान, औदारिक आंगोपांग, वज्रर्षभनाराच संहनन, उपघात और प्रत्येक इन छह प्रकृतियोंके मिला देने पर २६ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह अतीर्थंकर केवलीके औदारिक मिश्रकाययोगके समय होता है। इसके छह संस्थानोंकी अपेक्षा छह भङ्ग है, परन्तु वे सामान्य मनुष्योंके उदयस्थानोंमें भी सम्भव हैं, अतः उनकी पृथक् गणना नहीं की। इस उदयस्थानमें तीर्थंकर प्रकृतिके मिला देने पर २७ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह तीर्थंकरकेवलीके औदारिक मिश्रकाययोगके समय होता है। किन्तु इस उदयस्थानमें एक समचतुरस्र संस्थानका ही उदय होता है, अतः इसका एक ही भङ्ग है। तथा पूर्वोक्त २६ प्रकृतिक उदयस्थानमें पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति और अप्रशस्त विहायोगति इनमेंसे कोई एक तथा सुस्वर और दुःस्वर इनमेंसे कोई एक इन चार प्रकृतियोंके मिला देन पर ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह अतीर्थंकर सयोगिकेवलीके औदारिक काययोगके समय होता है। यहाँ छह संस्थान, प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति तथा सुस्वर और दुःस्वरकी अपेक्षा ६×२×२=२४ भंग होते हैं, किन्तु वे सामान्य मनुष्योंके उदयस्थानोंमें भी प्राप्त होते हैं, अतः इनकी पृथक् गिनती नहीं की। इस उदयस्थानमें तीर्थंकर प्रकृतिके मिला देने पर ३१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह तीर्थंकर सयोगिकेवलीके औदारिक काययोगके समय होता है। तथा तीर्थंकर केवली जब वाग्योगका निरोध करते हैं तब उनके स्वरका उदय नहीं रहता, अतः पूर्वोक्त

३१ प्रकृतियोंमेंसे एक प्रकृतिके निकाल देने पर तीर्थंकेवलीके ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। तथा जब उच्छ्वासका निरोध करते हैं तब उच्छ्वास प्रकृतिका उदय नहीं रहता, अत उच्छ्वासके घटा देने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। किन्तु अतीर्थंकरकेवलीके तीर्थंकर प्रकृतिका उदय नहीं होता, अत पूर्वोक्त ३० और २९ प्रकृतिक उदयस्थानोमेंसे तीर्थंकर प्रकृतिके घटा देने पर अतीर्थंकर केवलीके वचनयोगका निरोध होने पर २९ प्रकृतिक और उच्छ्वासका निरोध होने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। अतीर्थंकर केवलीके इन दोनों उदयस्थानोमे छह सस्थान और दो विहायोगति इनकी अपेक्षा १२, १२ भङ्ग प्राप्त होते हैं, किन्तु वे सामान्य मनुष्योंके उदयस्थानोमे भी सभव है, अत उनकी अलगसे गिनती नहीं की। तथा नौ प्रकृतिक उदयस्थानमें मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति त्रस, बादर, पर्याप्तक, सुभग, आदेय, यश कीर्ति और तीर्थंकर इन नौ प्रकृतियोका उदय होता है। अत इनका समुदाय एक नौ प्रकृतिक उदयस्थान कहलाता है। यह स्थान तीर्थंकर केवलीके होता है, जो अयोगिकेवली गुणस्थानमें प्राप्त होता है। इस उदयस्थानमेंसे तीर्थंकर प्रकृतिके घटा देने पर आठ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह भी अयोगिकेवली गुणस्थानमें अतीर्थंकर केवलीके होता है। यहाँ २०, २१, २७, २९, ३०, ३१, ९ और ८ इन उदयस्थानोका एक-एक विशेष भङ्ग प्राप्त होता है इसलिये ८ भङ्ग हुए। इनमेंसे २० प्रकृतिक और ८ प्रकृतिक इन दो उदयस्थानोंके दो भङ्ग अतीथकर केवलीके होते हैं। तथा शेष छह भङ्ग तीर्थंकर केवलीके होते हैं। इस प्रकार सब मनुष्योंके उदयस्थान सम्बन्धी कुल भङ्ग २६०२+३५+७+८=२६५२ होते हैं।

देवोके २१, २५, २७, २८, २९ और ३० ये छह उदयस्थान

ता है। इस उदयस्थानमें तीर्थंकर प्रकृतिके मिला देने पर
प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका भी एक भङ्ग है। यह
यस्थान समुद्घातगत तीर्थंकर केवलीके कार्मणकाययोगके समय
ता है। तथा पूर्वोक्त २० प्रकृतिक उदयस्थानमे औदारिकशरीर,
ह संस्थानोंमेसे कोई एक संस्थान, औदारिक आंगोपांग, वज्रर्ष-
राच संहनन, उपघात और प्रत्येक इन छह प्रकृतियोंके मिला
पर २६ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह अतीर्थंकर केवलीके
दारिक मिश्रकाययोगके समय होता है। इसके छह संस्थानोंकी
पेक्षा छह भङ्ग है, परन्तु वे सामान्य मनुष्योंके उदयस्थानोंमे
सम्भव है, अत उनकी पृथक् गणना नहीं की। इस उदय
ानमें तीर्थंकर प्रकृतिके मिला देने पर २७ प्रकृतिक उदयस्थान
ता है। यह तीर्थंकरकेवलीके औदारिक मिश्रकाययोगके समय
ता है। किन्तु इस उदयस्थानमें एक समचतुरस्र संस्थानका ही
दय होता है, अत इसका एक ही भङ्ग है। तथा पूर्वोक्त
 प्रकृतिक उदयस्थानमे पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति
ौर अप्रशस्त विहायोगति इनमेंसे कोई एक तथा सुस्वर और
स्वर इनमेंसे कोई एक इन चार प्रकृतियोंके मिला देने पर ३०
कृतिक उदयस्थान होता है। यह अतीर्थंकर सयोगिकेवलीके
ौदारिक काययोगके समय होता है। यहाँ छह संस्थान, प्रशस्त
ौर अप्रशस्त विहायोगति तथा सुस्वर और दुःस्वरकी अपेक्षा
×२×२=२४ भंग होते हैं, किन्तु वे सामान्य मनुष्योंके
दयस्थानोंमें भी प्राप्त होते हैं, अत इनकी पृथक् गिनती नहीं
। इस उदयस्थानमें तीर्थंकर प्रकृतिके मिला देने पर ३१ प्रकृ-
क उदयस्थान होता है। यह तीर्थंकर सयोगिकेवलीके औदारिक
ाययोगके समय होता है। तथा तीर्थंकर केवली जब वाग्योगका
रोध करते हैं तब उनके स्वरका उदय नहीं रहता, अत पूर्वोक्त

३१ प्रकृतियोंमेंसे एक प्रकृतिके निकाल देने पर तीर्थके
३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। तथा जब उच्छ्वा
निरोध करते हैं तब उच्छ्वास प्रकृतिका उदय नहीं
अत उच्छ्वासके घटा देने पर २९ प्रकृतिक उदय
होता है। किन्तु अतीर्थकरकेवलीके तीर्थकर प्रकृतिका
नहीं होता, अत पूर्वोक्त ३० और २९ प्रकृतिक उदयस्था
तीर्थकर प्रकृतिके घटा देने पर अतीर्थकर केवलीके वचनयो
निरोध होने पर २९ प्रकृतिक और उच्छ्वासका निरोध हो
२८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। अतीर्थकर केवलीके इन
उदयस्थानोंमें छह संस्थान और दो विहायोगति इनकी
१२, १२ भङ्ग प्राप्त होते हैं, किन्तु वे सामान्य मनुष्योंके
स्थानोंमें भी सभव है, अत उनकी अलगसे गिनती नहीं
तथा नौ प्रकृतिक उदयस्थानमें मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति
बादर, पर्याप्तक, सुभग, आदेय, यश कीर्ति और तीर्थकर इ
प्रकृतियोंका उदय होता है। अत इनका समुदाय एक नौ प्र
उदयस्थान कहलाता है। यह स्थान तीर्थकर केवलीके होता
जो अयोगिकेवली गुणस्थानमें प्राप्त होता है। इस
स्थानमेंसे तीर्थकर प्रकृतिके घटा देने पर आठ प्रकृतिक उदय
होता है। यह भी अयोगिकेवली गुणस्थानमें अतीर्थकर केव
होता है। यहाँ २०, २१, २७, २९, ३०, ३१, ९ और ८ इन
स्थानोंका एक-एक विशेष भङ्ग प्राप्त होता है इसलिये ८
हुए। इनमेंसे २० प्रकृतिक और ८ प्रकृतिक इन दो उदयस्थ
दो भङ्ग अतीर्थकर केवलीके होते हैं। तथा शेष छह भङ्ग ती
केवलीके होते हैं। इस प्रकार सब मनुष्योंके उदयस्थान सम्ब
कुल भङ्ग २६०२+३५+७+८=२६५२ होते हैं।

देवोंके २१, २५, २७, २८, २९ और ३० ये छह उदय

होते हैं। यहाँ पूर्वोक्त १२ ध्रुवोदय प्रकृतियोंमें देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, पचेन्द्रियजाति त्रस, बादर, पर्याप्तक, सुभग और दुर्भगमें से कोई एक, आदेय और अनादेयमेंसे कोई एक तथा यश कीर्ति और अयश कीर्तिमेंसे कोई एक इन नौ प्रकृतियोंके मिला देनेपर २१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ सुभग और दुर्भगमेंसे किसी एकका, आदेय और अनादेयमेंसे किसी एकका तथा यश-कीर्ति और अयश कीर्तिमेंसे किसी एकका उदय होनेसे इनकी अपेक्षा कुल आठ भङ्ग होते हैं। देवोंके जो दुर्भग, अनादेय और अयश कीर्ति इन तीन अशुभ प्रकृतियोंका उदय कहा है सो यह पिशाच आदि देवोंके जानना चाहिये। तदनन्तर इस उदयस्थानमें वैक्रिय शरीर, वैक्रिय आगोपाग, उपघात, प्रत्येक और समचतुरस्रसंस्थान इन पाँच प्रकृतियोंके मिला देनेपर और देवगत्यानुपूर्वीके निकाल लेने पर शरीरस्थदेवके पच्चीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी पूर्ववत् आठ भङ्ग होते हैं। तदनन्तर इस उदयस्थानमें पराघात और प्रशस्त विहायोगति इन दो प्रकृतियोंके मिला देनेपर शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके २७ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी वे ही आठ भङ्ग होते हैं। देवोंके अप्रशस्त विहायोगतिका उदय नहीं होता, अत यहाँ उसके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले भङ्ग नहीं कहे। तदनन्तर प्राणापान पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उच्छ्वासके मिला देने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी वे ही आठ भंग होते हैं। अथवा शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके पूर्वोक्त सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थानमें उद्योतके मिला देनेपर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी पूर्ववत् ८ भंग होते हैं। इस प्रकार २८ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल भंग १६ होते हैं। तदनन्तर भाषा पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उच्छ्वास सहित २८ प्रकृतिक उदय-

स्थानमें सुस्वरके मिला देनेपर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी पूर्ववत् आठ भंग होते हैं। देवोंके दुःस्वर प्रकृतिका उदय नहीं होता, अतः इसके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले भंग यहाँ पर नहीं कहे। अथवा प्राणापान पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उच्छ्वाससहित २८ प्रकृतिक उदयस्थानमें उद्योतके मिला देनेपर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। देवोंके उद्योतका उदय उत्तर विक्रिया करनेके समय प्राप्त होता है। यहाँ भी पहलेके समान आठ भंग होते हैं। इस प्रकार २९ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल भंग १६ होते हैं। तदनन्तर भाषा पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके सुस्वर सहित २९ प्रकृतिक उदयस्थानमें उद्योतके मिला देनेपर ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी पूर्ववत् आठ भंग होते हैं। इस प्रकार देवोंके छह उदयस्थानोंके कुल भंग ८+८+८+१६+१६+८=६४ होते हैं।

नारकियोंके २१, २५, २७, २८ और २९ ये पाँच उदयस्थान होते हैं। यहाँ पूर्वोक्त बारह ध्रुवोदय प्रकृतियोंमें नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी पचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्तक, दुर्भग, अनादेय और अयशःकीर्ति इन नौ प्रकृतियोंके मिला देने पर २१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ सब अप्रशस्त प्रकृतियोंका उदय है, अतः एक भंग हुआ। तदनन्तर शरीरस्थ जीवके वैक्रिय शरीर, वैक्रिय आंगोपांग, हुंडसंस्थान, उपघात और प्रत्येक इन पाँच प्रकृतियोंके मिला देने पर और नरकगत्यानुपूर्वीके निकाल लेने पर २५ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी एक ही भंग है। तदनन्तर शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके पराघात और अप्रशस्त विहायोगतिके मिला देने पर २७ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका भी एक ही भंग है। तदनन्तर प्राणापानपर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उच्छ्वासके मिला देने पर २८

होते हैं। यहाँ पूर्वोक्त १२ ध्रुवोदय प्रकृतियोंमें देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, पचेन्द्रियजाति त्रस, बादर, पर्याप्तक, सुभग और दुर्भगमें से कोई एक, आदेय और अनादेयमेंसे कोई एक तथा यश कीर्ति और अयश कीर्तिमेंसे कोई एक इन नौ प्रकृतियोंके मिला देनेपर २१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ सुभग और दुर्भगमेंसे किसी एकका, आदेय और अनादेयमेंसे किसी एकका तथा यश-कीर्ति और अयश कीर्तिमेंसे किसी एकका उदय होनेसे इनकी अपेक्षा कुल आठ भङ्ग होते हैं। देवोंके जो दुर्भग, अनादेय और अयश कीर्ति इन तीन अशुभ प्रकृतियोंका उदय कहा है सो यह पिशाच आदि देवोंके जानना चाहिये। तदनन्तर इस उदयस्थानमें वैक्रिय शरीर, वैक्रिय आगोपाग, उपघात, प्रत्येक और समचतुरस्रसंस्थान इन पाँच प्रकृतियोंके मिला देनेपर और देवगत्यानुपूर्वीके निकाल लेने पर शरीरस्थदेवके पच्चीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी पूर्ववत् आठ भङ्ग होते हैं। तदनन्तर इस उदयस्थानमें पराघात और प्रशस्त विहायोगति इन दो प्रकृतियोंके मिला देनेपर शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके २७ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी वे ही आठ भङ्ग होते हैं। देवोंके अप्रशस्त विहायोगतिका उदय नहीं होता, अतः यहाँ उसके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले भङ्ग नहीं कहे। तदनन्तर प्राणापान पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उच्छ्वासके मिला देने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी वे ही आठ भंग होते हैं। अथवा शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके पूर्वोक्त सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थानमें उद्योतके मिला देनेपर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी पूर्ववत् ८ भंग होते हैं। इस प्रकार २८ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल भंग १६ होते हैं। तदनन्तर भाषा पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उच्छ्वास सहित २८ प्रकृतिक उदय-

स्थानमें सुस्वरके मिला देनेपर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी पूर्ववत् आठ भंग होते हैं। देवोंके दुःस्वर प्रकृतिका उदय नहीं होता, अतः इसके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले भंग यहाँ पर नहीं कहे। अथवा प्राणापान पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उच्छ्वाससहित २८ प्रकृतिक उदयस्थानमें उद्योतके मिला देनेपर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। देवोंके उद्योतका उदय उत्तर विक्रिया करनेके समय प्राप्त होता है। यहाँ भी पहलेके समान आठ भंग होते हैं। इस प्रकार २९ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल भंग १६ होते हैं। तदनन्तर भाषा पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके सुस्वर सहित २९ प्रकृतिक उदयस्थानमें उद्योतके मिला देनेपर ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी पूर्ववत् आठ भंग होते हैं। इस प्रकार देवोंके छह उदयस्थानोंके कुल भंग ८+८+८+१६+१६+८=६४ होते हैं।

नारकियोंके २१, २५, २७, २८ और २९ ये पाँच उदयस्थान होते हैं। यहाँ पूर्वोक्त बारह ध्रुवोदय प्रकृतियोंमें नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्तक, दुर्भग, अनादेय और अयशःकीर्ति इन नौ प्रकृतियोंके मिला देने पर २१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ सब अप्रशस्त प्रकृतियोंका उदय है, अतः एक भंग हुआ। तदनन्तर शरीरस्थ जीवके वैक्रिय शरीर, वैक्रिय आंगोपांग, हुंडसंस्थान, उपघात और प्रत्येक इन पाँच प्रकृतियोंके मिला देने पर और नरकगत्यानुपूर्वीके निकाल लेने पर २५ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी एक ही भंग है। तदनन्तर शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके पराघात और अप्रशस्त विहायोगतिके मिला देने पर २७ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका भी एक ही भंग है। तदनन्तर प्राणापानपर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उच्छ्वासके मिला देने पर २८

जिनका जोड ३३ होता है, अत इस उदयस्थानके कुल ३३ भग कहे। २८ प्रकृतिक उदयस्थानके विकलेन्द्रियोंकी अपेक्षा ६, प्राकृत तिर्यंच पचेन्द्रियोकी अपेक्षा ५७६, वैक्रिय तिर्यंच पचेन्द्रियोंकी अपेक्षा १६, प्राकृत मनुष्योंकी अपेक्षा ५७६, वैक्रिय मनुष्योंकी अपेक्षा ९, आहारकोंकी अपेक्षा २, देवोंकी अपेक्षा १६ और नारकियोंकी अपेक्षा १ भग वतला आये हैं जिनका जोड १२०२ होता है, अत इस उदयस्थानके कुल भग १२०२ कहे। २९ प्रकृतिक उदयस्थानके विकलेन्द्रियोंकी अपेक्षा १२, तिर्यंच पचेन्द्रियोंकी अपेक्षा ११५२, वैक्रिय तिर्यंच पचेन्द्रियोकी अपेक्षा १६, मनुष्योंकी अपेक्षा ५७६, वैक्रिय मनुष्योंकी अपेक्षा ९, आहारक सयतोंकी अपेक्षा २, तीर्थंकरकी अपेक्षा १, देवोंकी अपेक्षा १६ और नारकियोंकी अपेक्षा १ भग वतला आये है जिनका जोड १७८५ होता है, अत इस उदयस्थानके कुल भग १७८५ कहे। ३० प्रकृतिक उदयस्थानके विकलेन्द्रियोंकी अपेक्षा १८, तिर्यंच पचेन्द्रियोंकी अपेक्षा १७२८, वैक्रिय तिर्यंच पचेन्द्रियोकी अपेक्षा ८, मनुष्योंकी अपेक्षा ११५२, वैक्रिय मनुष्योकी अपेक्षा १, आहारक सयतोंकी अपेक्षा १, केवलियोंकी अपेक्षा १ और देवो की अपेक्षा ८ भग वतला आये है जिनका जोड २९१७ होता है, अत इस स्थानके कुल भग २९१७ कहे। ३१ प्रकृतिक उदयस्थानके विकलेन्द्रियोंकी अपेक्षा १२, तिर्यंच पचेन्द्रियोंकी अपेक्षा ११५२ और तीर्थंकरकी अपेक्षा १ भग वतला आये हैं जिनका जोड ११६५ होता है, अत इस उदयस्थानके ११६५ भग कहे। ९ प्रकृतिक उदयस्थानका तीर्थंकरकी अपेक्षा १ भग वतला आये हैं, अत इसका १ भग कहा। तथा ८ प्रकृतिक उदयस्थानका अतीर्थंकरकी अपेक्षा १ भग वतला आये हैं अत इसका भी १ भग कहा। इस प्रकार सब उदयस्थानोंके कुल भग ६+४२+११+३३+६००+

३२ + १२०२ + १७८५ + २९१७+११६५+१ + १=७७९१ होते हैं।
नाम कर्म के उदयस्थानो की विशेषता का ज्ञापक कोष्ठक—

[२२]

उदय स्थान	भग	स्वामी
२०	१	सामान्य केवली
२१	४२	एके० ५, विक० ६, तिर्य० ६, मनु० ९ ती० १ देव० ८ नारकी १
२४	११	एकेन्द्रिय
२५	३३	एके० ७, वैक्रिय ति० ८, वै० म० ८, आहा १ देव ८ नारकी १
२६	६००	एके० १३ विक० ६, ति० २८९, म० २८६
२७	३३	एके० ६, वै० ति० ८, वै० म० ८, आहा० १ तीर्थ० १, देव ८ नारकी १
२८	१२०२	विक० ६, ति० ५७६, वै० ति० १६, मनु० ५७६ वै० म० ९ आ० २, देव १६, ना० १
२९	१७८५	वि० १२, ति० ११५२, वै० ति० १६, म० ५७६ वै० म० ९, आ० २, देव १६, ना० १, ती० १
३०	२९१७	वि० १८, ति० १७२८, वै० ति० ८, म० ११५२ वै० म० १, आ० १, ती० १, देव ८
३१	११६५	वि० १२, ति० ११५२, तीर्थ० १
९	१	तीर्थंकर
८	१	केवली

अब नामकर्म के सत्तास्थानोंका कथन करते हैं—

तिदुनउई उगुनउई अट्ठच्छलसी असीइ उगुसीई।
अट्ठयछप्पण्णत्तरि नव अट्ठ य नामसंताणि॥२९॥

अर्थ—नाम कर्म के ९३, ९२, ८९, ८८, ८६, ८०, ७९, ७८, ७६, ७५, ९ और ८ प्रकृतिक बारह सत्तास्थान होते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथामें यह बतलाया है कि नामकर्मके कितने सत्त्वस्थान हैं और उनमेंसे किस सत्त्वस्थानमें कितनी प्रकृतियों का सत्त्व होता है। किन्तु प्रकृतियोंका नाम निर्देश नहीं किया है अतः आगे इसीका विचार किया जाता है—नाम कर्मकी सब उत्तर प्रकृतियाँ ९३ हैं अतः ९३ प्रकृतिक सत्त्वस्थानमें सब प्रकृतियोंका सत्त्व स्वीकार किया गया है। इनमेंसे तीर्थंकर प्रकृ

(१) गोम्मटसार कर्मकाण्डमें ९३, ९२ ९१, ९०, ८८, ८४, ८२, ८०, ७९, ७८, ७७, १० और ९ प्रकृतिक १३ तेरह सत्त्वस्थान बतलाये हैं। यथा—

तिदुइगिणउदी णउदी अडचउदोअहियसीदि सीदी य। ऊणासीदट्ठत्तरि सत्तत्तरि दस य णव सत्ता॥ ६०९॥

यहाँ ९३ प्रकृतिक सत्त्वस्थानमें सब प्रकृतियोंका सत्त्व स्वीकार किया गया है। तीर्थंकर प्रकृतिके कम कर देने पर ९२ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। आहारक शरीर और आहारक आंगोपांगके कम कर देने पर ९१ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। तीर्थंकर, आहारक शरीर और आहारक आंगोपांगके कम कर देने पर ९० प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इसमेंसे देवद्विककी उद्वलना होने पर ८८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इसमेंसे नारक चतुष्ककी उद्वलना होने पर ८४ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इसमेंसे मनुष्यद्विककी उद्वलना होने पर ८२ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। क्षपक अनिवृत्ति करणके ९३ प्रकृतियोंमेंसे नरकद्विक आदि १३ प्रकृतियोंका क्षय हो

तिके कम कर देने पर ९२ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। तथा ९३ प्रकृतिक सत्त्वस्थानमेंसे आहारक शरीर, आहारक आगोपाग, आहारक सघात और आहारक बन्धन इन चार प्रकृतियोंके कम कर देने पर ८९ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इसमें से तीर्थंकर प्रकृतिके कम कर देने पर ८८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इन ८८ प्रकृतियोंमेंसे नरकगति और नरकगत्यानुपूर्वी की या देवगति और देवगत्यानुपूर्वीकी उद्वलना हो जाने पर ८६ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। अथवा, नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले ८० प्रकृतिक सत्त्वस्थानवाले जीवके नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, वैक्रियशरीर, वैक्रिय आगोपाग, वैक्रिय सघात और वैक्रिय बन्धन इन छह प्रकृतियोंका बन्ध होने पर ८६ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इसमेंसे नरकगति नरकगत्यानुपूर्वी, और वैक्रियचतुष्क इन छह प्रकृतियों की उद्वलना हो जाने पर ८० प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। या देवगति, देवगत्यानुपूर्वी और

जाने पर ८० प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। ९२ में से उक्त १३ प्रकृतियोंके घटा देने पर ७९ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इन्हीं १३ प्रकृतियोंको ९१ मेंसे घटाने पर ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। ९० मेंसे इन्हीं १३ प्रकृतियोंको घटाने पर ७७ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। तीर्थंकर अयोगिकेवलीके १० प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है और सामान्य अयोगि केवलीके ९ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है।

कर्मप्रकृतिमें व पचसग्रहसप्ततिकामें नामकर्मके १०३, १०२, ९६, ९५ ९३, ९०, ८९, ८४ ८३, ८२, ९ और ८ ये १२ सत्त्वस्थान भी बतलाये हैं। यहाँ ८२ प्रकृतिक सत्त्वस्थान दो प्रकार से बतलाया है। विशेष व्याख्यान वहाँ से जान लेना चाहिये। सप्ततिकाप्रकरणके सत्त्वस्थानोंसे इनमें इतना ही अन्तर है कि ये स्थान बन्धनके १५ भेद करके बतलाये गये हैं।

वैक्रियचतुष्क इन छह प्रकृतियोंकी उद्वलना हो जाने पर ८० प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इसमेंसे मनुष्यगति और मनुष्यगत्यानुपूर्वीकी उद्वलना होने पर ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। ये सात सत्त्वस्थान अक्षपकोंकी अपेक्षा रहे। अब क्षपकों की अपेक्षा सत्त्वस्थानोंका विचार करते हैं - जब क्षपक जीव ९३ प्रकृतियोंमें से नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, स्थावर, आतप, उद्योत, सूक्ष्म और साधारण इन तेरह प्रकृतियोंका क्षय कर देते हैं तब उनके ८० प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। जब ९० प्रकृतिकयोंमेंसे इनका क्षय कर देते हैं तब ७९ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। जब ८९ प्रकृतियोंमेंसे इनका क्षय कर देते हैं तब ७६ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। तथा जब ८८ प्रकृतियोंमेंसे इनका क्षय कर देते हैं तब ७५ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। अब रहे ९ और ८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान सो इनमेंसे मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यश कीर्ति और तीर्थकर यह नौ प्रकृतिक सत्त्वस्थान है। यह तीर्थंकरके अयोगिकेवली गुणस्थानके अन्तिम समयमें प्राप्त होता है। और इसमें से तीर्थकर प्रकृतिके घटा देने पर ८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। यह अतीर्थकर केवलीके अयोगिकेवली गुणस्थानके अन्तिम समयमें प्राप्त होता है। इस प्रकार गाथानुसार नाम कर्मके ये बारह सत्त्वस्थान जानना चाहिये।

अब नामकर्मके बन्धस्थान आदिके परस्पर संवेधका कथन करनेके लिये आगेकी गाथा कहते हैं—

अट्ठ य बारस बारस बंधोदयसंतपयडिठाणाणि।
ओहेणादेसेण य जत्थ जहासंभवं विभजे॥ ३०॥

अर्थ—नाम कर्मके बन्ध, उदय और सत्त्व प्रकृतिस्थान क्रमसे ८, १२ और १२ हैं। इनके ओघ और आदेशसे जहाँ जितने संभव हों उतने विकल्प करना चाहिये।

विशेषार्थ—यद्यपि ग्रन्थकार नामकर्मके बन्धस्थान, उदयस्थान और सत्त्वस्थान पहले ही बतला आये हैं उसी से यह ज्ञात हो जाता है कि नामकर्मके बन्धस्थान ८ हैं, उदयस्थान १२ हैं और सत्त्वस्थान भी १२ हैं। फिर भी ग्रन्थकारने यहाँ पर उनका पुनः निर्देश उनके परस्पर संवेध भंगोंके सूचन करनेके लिये किया है। जिनके प्राप्त करनेके दो ही मार्ग हैं-एक ओघ और दूसरा आदेश। ओघ सामान्यका पर्यायवाची है अतः प्रकृतमें ओघका यह अर्थ हुआ कि जिस प्ररूपणामें केवल यह बतलाया गया है कि अमुक बन्धस्थानका बन्ध करनेवाले जीवके अमुक उदयस्थान और अमुक सत्त्वस्थान होते हैं वह ओघ प्ररूपणा है। तथा आदेश विशेषका पर्यायवाची है, अतः आदेश प्ररूपणामें मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान और गति आदि मार्गणाओंमें बन्धस्थान, उदयस्थान और सत्त्वस्थानोंका विचार किया गया है। ग्रन्थकारने जो मूलमें ओघ और आदेशके अनुसार विभाग करनेका निर्देश किया है सो उससे इसी विषयकी सूचना मिलती है।

अब पहले ओघसे संवेध का विचार करते हैं—

नवपंचोदयसंता तेवीसे पणवीस छव्वीसे।
अट्ठ चउरट्ठवीसे नव सत्तुगतीस तीसम्मि ॥ ३१ ॥

एगेगमेगतीसे एगे एगुदय अट्ठ संतम्मि।
उवरयबंधे दस दस वेयगसंतम्मि ठाणाणि ॥ ३२ ॥

अर्थ—तेईस, पच्चीस और छब्बीस इनमेंसे प्रत्येक बन्धस्थानमें नौ उदयस्थान और पाँच सत्त्वस्थान होते हैं। अट्ठाईस प्रकृतिक बन्धस्थानमें आठ उदयस्थान और चार सत्त्वस्थान होते हैं। उनतीस और तीसमेंसे प्रत्येक बन्धस्थानमें नौ उदयस्थान और सात सत्त्वस्थान होते हैं। इकतीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें एक उदयस्थान और एक सत्त्वस्थान होता है। एक प्रकृतिक बन्धस्थानमें एक उदयस्थान और आठ सत्त्वस्थान होते हैं। तथा बन्धके अभावमें उदय और सत्त्वकी अपेक्षा दस दस स्थान होते हैं॥

विशेषार्थ—इन दो गाथाओंमें हमें केवल इतना ही ज्ञान होता है कि किस बन्धस्थानमें कितने उदयस्थान और कितने सत्त्वस्थान हैं। उनसे यह ज्ञात नहीं होता कि वे उदयस्थान और सत्त्वस्थान कौन कौन हैं, अत आगे उक्त दो गाथाओंके आश्रयसे इसी बातका विचार करते हैं—तेईस प्रकृतिक बन्धस्थानमें अपर्याप्तक एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध होता है जिसको एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्य बाँधते हैं। इन तेईस प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवोंके

(१) 'नवपचोदयसत्ता तेवीसे पण्णवीसछव्वीसे। अट्ठ चउरट्ठवीसे नवसत्तिगतीसतीसे य॥ एक्केक्के इगतीसे एक्के एक्कुदय अट्ठसतसा। उवरयबन्धे दस दस नामोदयसतठाणाणि ॥'—पञ्च० सप्त० गा० ९९–१००। णवपंचोदयसत्ता तेवीसे पण्णुवीस छब्बीसे। अट्ठ चदुरट्ठवीसे णवसत्तुगुतीस तीसम्मि॥ एगेगं इगितीसे एगे 'एगुदयमट्ठसत्ताणि। उवरदबंधे दस दस उदयंसा होंति णियमेण ॥—गो० कर्म० गा० ७४०–७४१।

सामान्यसे २१, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३० और ३१ ये नौ उदयस्थान होते हैं। खुलासा इस प्रकार है—जो एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, तिर्यंचपचेन्द्रिय और मनुष्य तेईस प्रकृतियोंका वन्ध कर रहा है उसके भवके अपान्तरालमें तो इक्कीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है, क्योंकि २१ प्रकृतियोंके उदयमें अपर्याप्तक एकेन्द्रियके योग्य २३ प्रकृतियोंका वन्ध सम्भव है। २४ प्रकृतिक उदयस्थान अपर्याप्त और पर्याप्त एकेन्द्रियोंके होता है क्यों कि एकेन्द्रियोंके सिवा अन्यत्र यह उदयस्थान नहीं पाया जाता। पच्चीस प्रकृतिक उदयस्थान पर्याप्तक एकेन्द्रियों के तथा वैक्रियिक शरीरको प्राप्त मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और मनुष्योंके होता है। २६ प्रकृतिक उदयस्थान पर्याप्तक एकेन्द्रिय तथा पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, तिर्यंचपचेंद्रिय और मनुष्योंके होता है। २७ प्रकृतिक उदयस्थान पर्याप्तक एकेन्द्रियोंके और वैक्रिय शरीरको करनेवाले तथा शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और मनुष्योंके होता है। २८, २९ और ३० प्रकृतिक उदयस्थान मिथ्यादृष्टि पर्याप्तक दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्योंके होता है। तथा ३१ प्रकृतिक उदयस्थान मिथ्यादृष्टि विकलेन्द्रिय और तिर्यंच पचेन्द्रिय जीवोंके होता है। इन उपर्युक्त उदयस्थानवाले जीवों को छोड़कर शेष जीव २३ प्रकृतियोंका वन्ध नहीं करते। तथा इन २३ प्रकृतियोंका वन्ध करनेवाले जीवोंके सामान्यसे ९२, ८८, ८६, ८० और ७८ ये पाच सत्त्वस्थान होते हैं। इनमेंसे २१ प्रकृतियों के उदयवाले उक्त जीवोंके तो सब सत्त्वस्थान पाये जाते हैं। केवल मनुष्योंके ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान नहीं होता, क्योंकि मनुष्यगति और मनुष्यगत्यानुपूर्वीकी उद्वलना करने पर ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है किन्तु मनुष्योंके इन दो प्रकृतियोंकी

उद्वलना सम्भव नहीं। २४ प्रकृतिक उदयस्थानके समय भी पाचो सत्त्वस्थान होते हैं। केवल वैक्रिय शरीरको करनेवाले वायुकायिक जीवोंके २४ प्रकृतिक उदयस्थान के रहते हुए ८० और ७८ ये दो सत्त्वस्थान नहीं होते, क्योंकि इनके वैक्रिय षट्क और मनुष्यद्विक इनका सत्त्व नियमसे है। कारण कि ये जीव वैक्रिय शरीरका तो साक्षात् ही अनुभव कर रहे हैं अत इनके वैक्रियद्विककी उद्वलना सम्भव नहीं। और इसके अभावमें देवद्विक और नरकद्विककी भी उद्वलना सम्भव नहीं, क्योंकि वैक्रियषट्ककी उद्वलना एक साथ होती है ऐसा स्वभाव है। और वैक्रियषट्ककी उद्वलना हो जाने पर ही मनुष्यद्विककी उद्वलना होती है अन्यथा नहीं। चूर्णिमें भी कहा है—

'वेउव्वियछक्कं उव्वलेउ पच्छा मणुयदुगं उव्वलेइ।'

अर्थात् 'यह जीव वैक्रियषट्ककी उद्वलना करके अनन्तर मनुष्यद्विककी उद्वलना करता है।'

अत सिद्ध हुआ कि वैक्रियशरीर को करनेवाले वायुकायिक जीवोंके २४ प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए ९२, ८८ और ८६ ये तीन सत्त्वस्थान ही होते हैं। ८० और ७८ सत्त्वस्थान नहीं होते।

२५ प्रकृतिक उदयस्थानके होते हुए भी उक्त पाचो सत्त्वस्थान होते हैं। किन्तु उनमेंसे ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान वैक्रियशरीरको नहीं करनेवाले वायुकायिक जीवोंके तथा अग्निकायिक जीवोंके ही होता है अन्य के नहीं, क्योंकि अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंको छोडकर अन्य सब पर्याप्तक जीव नियमसे मनुष्यगति और मनुष्यगत्यानुपूर्वीका बन्ध करते हैं। चूर्णिकारने भी कहा है कि—

'तेऊवाऊवज्जो पज्जत्तगो मणुयगइं नियमा बंधेइ।'

अर्थात् 'अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंको छोड़कर अन्य पर्याप्तक जीव मनुष्यगतिका नियमसे बन्ध करते हैं।'

इससे सिद्ध हुआ कि ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान अग्निकायिक जीवों को और वैक्रियशरीरको नहीं करनेवाले वायुकायिक जीवोंको छोड़कर अन्यत्र नहीं प्राप्त होता। २६ प्रकृतिक उदयस्थानमें भी उक्त पाँचों सत्त्वस्थान होते हैं। किन्तु ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान वैक्रियशरीरको नहीं करनेवाले वायुकायिक जीवोंके तथा अग्निकायिक जीवोंके होता है। तथा जिन पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीवोंमें उक्त अग्निकायिक और वायुकायिक जीव उत्पन्न हुए हैं उनके भी जब तक मनुष्यगति और मनुष्यगत्यानुपूर्वीका बन्ध नहीं हुआ है तब तक ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है।

२७ प्रकृतिक उदयस्थानमें ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थानके सिवा शेष चार सत्त्वस्थान होते हैं, क्योंकि २७ प्रकृतिक उदयस्थान अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंको छोड़कर पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय और वैक्रियशरीरको करनेवाले तिर्यंच और मनुष्योंके होता है पर इनके मनुष्यद्विकका सत्त्व होनेसे ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान नहीं पाया जाता है।

शका—अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंके २७ प्रकृतिक उदयस्थान क्यों नहीं होता?

समाधान—एकेन्द्रियोंके २७ प्रकृतिक उदयस्थान आतप और उद्योतमेंसे किसी एक प्रकृतिके मिलाने पर होता है पर अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंके आतप और उद्योतका उदय होता नहीं, अत इनके २७ प्रकृतिक उदयस्थान नहीं होता यह कहा है।

तथा २८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक उदयस्थानोंमें ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थानको छोड़कर नियमसे शेष चार सत्त्वस्थान होते हैं, क्योंकि २८, २९ और ३० प्रकृतियों का उदय पर्याप्त विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्योंके होता है और ३१ प्रकृतियों का उदय पर्याप्त विकलेन्द्रिय और पचेन्द्रिय तिर्यंचोंके होता है परन्तु इन जीवोंके मनुष्यगति और मनुष्यगत्यानुपूर्वीकी सत्ता नियमसे पाई जाती है। अत उपर्युक्त उदयस्थानोंमें ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान नहीं होता यह सिद्ध हुआ। इस प्रकार २३ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवोंके यथायोग्य नौ ही उदयस्थानोंकी अपेक्षा चालीस सत्त्वस्थान होते हैं।

२५ और २६ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवोंके भी उदयस्थान और सत्त्वस्थान इसी प्रकार जानना चाहिये। किन्तु इतनी विशेषता है कि पर्याप्त एकेन्द्रियके योग्य २५ और २६ प्रकृतियों का बन्ध करनेवाले देवोंके २१, २५, २७, २८, २९ और ३० इन छह उदयस्थानोंमें ९२ और ८८ ये दो सत्तास्थान ही प्राप्त होते हैं। अपर्याप्त विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्योंके योग्य २५ प्रकृतियोंका बन्ध देव नहीं करते, क्योंकि उक्त अपर्याप्त जीवोंमें देव उत्पन्न नहीं होते। अत सामान्यसे २५ और २६ इनमेंसे प्रत्येक बन्धस्थानमें नौ उदयस्थानोंकी अपेक्षा ४० सत्त्वस्थान होते हैं।

२८ प्रकृतिक बन्धस्थानमें २१, २५, २६ २७, २८, २९, ३० और ३१ ये आठ उदयस्थान होते हैं। २८ प्रकृतिक बन्धस्थानके दो भेद हैं, एक देवगतिप्रायोग्य और दूसरा नरकगतिप्रायोग्य। इनमेंसे देवगतिके योग्य २८ प्रकृतियोंका बन्ध होते समय नाना जीवोंकी अपेक्षा उपर्युक्त आठों ही उदयस्थान होते हैं और नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध होते समय ३० और ३१ प्रकृतिक दो ही उदयस्थान होते हैं। इनमेंसे देवगतिके योग्य २८ प्रकृतियों

का वन्ध करनेवाले जीवके २१ प्रकृतिक उदयस्थान क्षायिक सम्यग्दृष्टि या वेदक सम्यग्दृष्टि पचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्योंके भवके अपान्तरालमें रहते समय होता है। पचीस प्रकृतिक उदयस्थान आहारकसयतोंके और वैक्रियशरीरको करनेवाले सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंचोंके होता है। २६ प्रकृतिक उदयस्थान क्षायिकसम्यग्दृष्टि या वेदकसम्यग्दृष्टि शरीरस्थ पचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्योंके होता है। २७ प्रकृतिक उदयस्थान आहारक सयतोंके और सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि वैक्रियशरीरको करनेवाले तिर्यंच और मनुष्योंके होता है। २८ और २९ प्रकृतिक उदयस्थान क्रमसे शरीरपर्याप्ति और प्राणापान पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए क्षायिकसम्यग्दृष्टि या वेदकसम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्योंके तथा आहारकसयत, वैक्रियसयत और वैक्रियशरीरको करनेवाले सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और मनुष्योंके होते हैं। ३० प्रकृतिक उदयस्थान सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि या सम्यग्मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और मनुष्योंके तथा आहारकसयत और वैक्रिय सयतोंके होता है। ३१ प्रकृतिक उदयस्थान सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि पचेन्द्रिय तिर्यंचोंके होता है। नरकगतिके योग्य २८ प्रकृतियोंका वन्ध होते समय ३० प्रकृतिक उदयस्थान मिथ्यादृष्टि पचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्योंके होता है। तथा ३१ प्रकृतिक उदयस्थान मिथ्यादृष्टि पचेन्द्रिय तिर्यंचोंके होता है। अब सत्त्वस्थानोंकी अपेक्षासे विचार करने पर २८ प्रकृतियोंका वन्ध करने वाले जीवोंके सामान्यसे ९२, ८९, ८८ और ८६ ये चार सत्त्वस्थान होते हैं। उसमे भी जिसके २१ प्रकृतियोंका उदय हो और देवगतिके योग्य २८ प्रकृतियोंका वन्ध होता हो उसके ९२ और ८८ ये दो ही सत्त्वस्थान होते हैं, क्यों कि यहा तीर्थकर प्रकृतिकी सत्ता नहीं होती। यदि तीर्थंकर प्रकृतिकी सत्ता मानी जाय तो देवगतिके योग्य २८ प्रकृतिक बन्धस्थान नहीं

बनता। २५ प्रकृतियोंका उदय रहते हुए २८ प्रकृतियोंका बंध आहारकसंयत और वैक्रियशरीरको करनेवाले तिर्यंच और मनुष्योंके होता है, अतः यहाँ भी सामान्यसे ९२ और ८८ ये दो ही सत्त्वस्थान होते हैं। इनमेंसे आहारक संयतोंके आहारक चतुष्कका सत्त्व नियमसे होता है, अतः इनके ९२ प्रकृतियोंका ही सत्त्व होगा। शेष जीवोंके आहारक चतुष्कका सत्त्व होगा और नहीं भी होगा अतः इनके दोनों सत्त्वस्थान बन जाते हैं। २६, २७, २८ और २९ प्रकृतियोंके उदयमें भी ये दो ही सत्त्वस्थान होते हैं। ३० प्रकृतिक उदयस्थानमें देवगति या नरकगतिके योग्य २८ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवोंके सामान्यसे ९२, ८९, ८८ और ८६ ये चार सत्त्वस्थान होते हैं। इनमेंसे ९२ और ८८ सत्त्वस्थानोंका विचार तो पूर्ववत् ही है किन्तु शेष दो सत्त्वस्थानोंके विषयमें कुछ विशेषता है। जो निम्नप्रकार है—किसी एक मनुष्यने नरकायुका बन्ध करनेके पश्चात् वेदकसम्यग्दृष्टि होकर तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया। अनन्तर मनुष्य पर्यायके अन्तमें वह सम्यक्त्वसे च्युत होकर मिथ्यादृष्टि हुआ तब उसके अन्तिम अन्तर्मुहूर्तमें तीर्थंकर प्रकृतिका बंध न होकर २८ प्रकृतियोंका ही बन्ध होता है और सत्तामें ८९ प्रकृतियां ही प्राप्त होती हैं। ऐसे जीवके आहारक चतुष्कका सत्त्व नियमसे नहीं होता इसलिये यहां ८९ प्रकृतियोंकी सत्ता कही है। तथा ९३ प्रकृतियोंमेंसे तीर्थंकर, आहारक चतुष्क, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी और वैक्रियचतुष्क इन १३ प्रकृतियोंके बिना ८० प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इस प्रकार ८० प्रकृतियोंकी सत्तावाला कोई एक जीव पंचेन्द्रिय तिर्यंच या मनुष्य होकर सब पर्याप्तियोंकी पूर्णताको प्राप्त हुआ। तदनन्तर यदि वह विशुद्ध परिणामवाला हुआ तो उसने देवगतिके योग्य २८ प्रकृतियोंका बन्ध किया और इस प्रकार देवद्विक और वैक्रिय

चतुष्ककी सत्ता प्राप्त की, अत उसके २८ प्रकृतियोंके बन्धके समय ८६ प्रकृतियोंकी सत्ता होती है। और यदि वह जीव सक्लेश परिणामवाला हुआ तो उसके नरकगतिके योग्य २८ प्रकृतियोका बन्ध होता है और इस प्रकार नरकद्विक और वैक्रिय चतुष्ककी सत्ता प्राप्त हो जानेके कारण भी ८६ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इस प्रकार ३० प्रकृतिक उदयस्थानमें २८ प्रकृतियोका बन्ध होते समय ९२, ८९, ८८ और ८६ ये चार सत्त्वस्थान होते हैं यह सिद्ध हुआ। तथा इकतीस प्रकृतिक उदयस्थानमें ९२, ८८ और ८६ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। यहाँ ८९ प्रकृतिक सत्त्वस्थान नहीं होता, क्योंकि जिसके २८ प्रकृतियोंका बन्ध और ३१ प्रकृतियोंका उदय है वह पचेन्द्रिय तिर्यंच ही होगा। किन्तु तिर्यंचो के तीर्थंकर प्रकृतिकी सत्ता नहीं है, क्योकि तीर्थंकर प्रकृतिकी सत्तावाला मनुष्य तिर्यंचो मे नहीं उत्पन्न होता। अत यहा ८९ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका निषेध किया है।

अब २९ और ३० प्रकृतिक बन्धस्थानोंमेंसे प्रत्येकमें ९ उदय स्थान और ७ सत्त्वस्थान होते हैं इसका क्रमश विचार करते हैं। २९ प्रकृतिक बन्धस्थानमें २१, २४, २५, २६ २७, २८ २९, ३० और ३१ ये नौ उदयस्थान होते हैं। इनमेंसे २१ प्रकृतियोका उदय तिर्यंच और मनुष्योंके योग्य २९ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले पर्याप्त और अपर्याप्त एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, तिर्यंच और मनुष्योंके तथा देव और नारकियोंके होता है। चौबीस प्रकृतियोका उदय पर्याप्त और अपर्याप्त एकेन्द्रियोंके होता है। पचीस प्रकृतियोका उदय पर्याप्त एकेन्द्रियोंके देव और नारकियोके तथा वैक्रियशरीरको करनेवाले मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और मनुष्योंके होता है। २६ प्रकृतियोका उदय पर्याप्तक एकेन्द्रियोके तथा पर्याप्त और अपर्याप्त विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्योंके होता है। २७ प्रकृतियोका उदय पर्याप्तक

तीर्थकर प्रकृतिके साथ देवगतिके योग्य २९ प्रकृतियोंका बंध करनेवाले अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्यके तो २१ प्रकृतियोंका उदय रहते हुए ९३ और ८९ ये दो सत्त्वस्थान होते हैं। इसी प्रकार २५,२६,२७,२८,२९ और ३० इन उदयस्थानोंमें भी ये ही दो सत्त्वस्थान जानना चाहिये। किन्तु आहारकसयतोंके अपने योग्य उदयस्थानोंके रहते हुए एक ९३ प्रकृतिक सत्त्वस्थान ही जानना चाहिये। इस प्रकार सामान्य से २९ प्रकृतिक बन्धस्थान में २१ प्रकृतियोंके उदयमें ७, २४ प्रकृतियोंके उदयमें ५, पचीस प्रकृतियोंके उदयमें ७, छब्बीस प्रकृतियोंके उदयमें ७, २७ प्रकृतियोंके उदयमें ६, २८ प्रकृतियोंके उदयमें ६, २९ प्रकृतियोंके उदयमें ६, ३० प्रकृतियोंके उदयमें ८ और ३१ प्रकृतियोंके उदयमें ४ सत्त्वस्थान होते हैं। जिनका कुल जोड़ ५४ होता है।

तथा जिस प्रकार तिर्यंचगतिके योग्य २९ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, तिर्यंचपचेन्द्रिय, मनुष्य, देव और नारकियोंके उदयस्थान और सत्त्वस्थानोंका चिन्तन किया, उसी प्रकार उद्योतसहित तिर्यंचगतिके योग्य ३० प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले एकेन्द्रियादिकके उदयस्थान और सत्त्वस्थानोंका चिन्तन करना चाहिये। उसमें ३० प्रकृतियोंको बाँधनेवाले देवके २१ प्रकृतिक उदयस्थानमें ९३ और ८९ ये दो सत्त्वस्थान होते हैं। तथा २१ प्रकृतियोंके उदयसे युक्त नारकीके ८९ यह एक ही सत्त्वस्थान होता है उसके ९३ प्रकृतिक सत्त्वस्थान नहीं होता। क्योंकि तीर्थकर और आहारक चतुष्क इनकी सत्तावाला जीव नारकियोंमें नहीं उत्पन्न होता। चूर्णिमें कहा भी है—

'जस्स तित्थगराहारगाणि जुगव सति सो नेरइएसु न उववज्जइ।'

अर्थात् जिसके तीर्थकर और आहारक चतुष्क इनका एक साथ सत्त्व है वह नारकियोंमें नहीं उत्पन्न होता।'

इसी प्रकार २५, २७, २८, २९ और ३० इन उदयस्थानोंमें भी चिन्तन कर लेना चाहिये। किन्तु इतनी विशेषता है कि नारकी जीवके ३० प्रकृतिक उदयस्थान नहीं है। क्योंकि ३० प्रकृतिक उदयस्थान उद्योतके सद्भावमें प्राप्त होता है परन्तु नारकीके उद्योतका उदय नहीं पाया जाता। इस प्रकार सामान्यसे ३० प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवोंके २१ प्रकृतियोंके उदयमें ७, २४ प्रकृतियों के उदयमें ५, २५ प्रकृतियोंके उदयमें ७, २६ प्रकृतियोंके उदयमें ५, २७ प्रकृतियोंके उदयमें ६, २८ प्रकृतियोंके उदयमें ६, २९ प्रकृतियों के उदयमें ६, ३० प्रकृतियोंके उदयमें ६ और ३१ प्रकृतियोंके उदयमें ४ सत्त्वस्थान होते हैं। जिनका जोड़ ५२ होता है।

अब ३१ प्रकृतिक बन्धस्थानमें उदयस्थान और सत्तास्थानोंका विचार करते हैं। बात यह है कि तीर्थंकर और आहारक सहित देवगतिके योग्य ३१ प्रकृतियों का बन्ध अप्रमत्तसंयत और अपूर्वकरण इन दो गुणस्थानों में ही प्राप्त होता है परन्तु इनके न तो विक्रिया ही होती है और न आहारक समुद्घात ही होता है, इसलिये यहाँ २५ प्रकृतिक आदि उदयस्थान न होकर एक ३० प्रकृतिक उदयस्थान ही होता है। चूंकि इनके आहारक और तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध होता है, इसलिये यहाँ एक ९३ प्रकृतिक ही सत्त्वस्थान होता है। इस प्रकार ३१ प्रकृतिक बन्धस्थानमें एक ३० प्रकृतिक उदयस्थान और एक ९३ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है यह सिद्ध हुआ।

अब एक प्रकृतिक बन्धस्थानमें उदयस्थान और सत्त्वस्थान कितने होते हैं इसका विचार करते हैं। एक प्रकृतिक बन्धस्थानमें एक यशःकीर्ति प्रकृतिका ही बन्ध होता है जो अपूर्वकरणके सातवें भागसे लेकर दसवें गुणस्थान तक होता है। यह जीव अत्यन्त विशुद्ध होनेके कारण वैक्रिय और आहारक समुद्घातको

नहीं करता, इसलिये इसके २५ आदि उदयस्थान नहीं होते किन्तु एक ३० प्रकृतिक ही उदयस्थान होता है। तथा इसके ९३, ९२, ८९, ८८, ८०, ७९, ७६ और ७५ ये आठ सत्त्वस्थान पाये जाते हैं। इनमेंसे पहलेके चार सत्त्वस्थान उपशमश्रेणीकी अपेक्षा और अन्तिम चार सत्त्वस्थान क्षपकश्रेणी की अपेक्षा कहे हैं। किन्तु जबतक अनिवृत्तिकरणके प्रथम भागमें स्थावर, सूक्ष्म, तिर्यंचद्विक, नरकद्विक, एकेन्द्रियादि चार जाति, साधारण, आतप और उद्योत इन १३ प्रकृतियोंका क्षय नहीं होता तबतक ९३ आदि प्रारम्भके ४ सत्त्वस्थान क्षपकश्रेणीमें भी पाये जाते हैं। इस प्रकार जहाँ एक प्रकृतिक बन्धस्थान होता है, वहाँ एक ३० प्रकृतिक उदयस्थान और ९३, ९०, ८९, ८८, ८०, ७९, ७६ और ७५ ये आठ सत्त्वस्थान होते हैं यह सिद्ध हुआ।

अब बन्धके अभावमें उदयस्थान और सत्त्वस्थान कितने होते हैं इसका विचार करते हैं—नामकर्मका बन्ध दसवें गुणस्थान तक होता है आगेके चार गुणस्थानोंमें नहीं, किन्तु उदय और सत्त्व १४ वें गुणस्थान तक होता है फिर भी उसमें विविध दशाओं और जीवोंकी अपेक्षा अनेक उदयस्थान और सत्त्वस्थान पाये जाते हैं। यथा—

केवलीको केवल समुद्घातमें ८ समय लगते हैं। इनमेंसे तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में कार्मणकाय योग होता है, जिसमें पचेन्द्रियजाति, त्रसत्रिक, सुभग, आदेय, यश कीर्ति, मनुष्यगति और ध्रुवोदय १२ प्रकृतियाँ इस प्रकार कुल मिलाकर २० प्रकृतिक उदयस्थान होता है और तीर्थंकर बिना ७९ तथा तीर्थंकर और आहारक चतुष्क इन पाँचके बिना ७५ ये दो सत्त्वस्थान होते हैं। अब यदि इस अवस्थामें विद्यमान तीर्थंकर हुए तो उनके एक तीर्थंकर प्रकृतिका भी उदय और सत्त्व होनेसे २१ प्रकृतिक उदयस्थान

और ८० तथा ७६ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होंगे। तथा जब केवली समुद्घातके समय औदारिक मिश्रकाययोगमें रहते हैं तब उनके औदारिकद्विक, वज्रर्षभनाराचसंहनन, छह संस्थानोंमेंसे कोई एक संस्थान, उपघात और प्रत्येक इन छह प्रकृतियोंको पूर्वोक्त २० प्रकृतियोंमें मिलाने पर २६ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। तथा ७९ और ७५ ये दो सत्त्वस्थान होते हैं। अब यदि तीर्थंकर औदारिक मिश्रकाययोगमें हुए तो उनके तीर्थंकर प्रकृतिके और मिल जानेसे २७ प्रकृतिक उदयस्थान तथा ८० और ७६ ये दो सत्त्वस्थान होते हैं।

तथा इन २६ प्रकृतियोंमें पराघात उच्छ्वास, शुभ और अशुभ विहायोगतिमेंसे कोई एक तथा दो स्वरोंमें से कोई एक इन चार प्रकृतियोंके मिला देने पर ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है जो औदारिक काययोगमें विद्यमान सामान्य केवली तथा ग्यारहवें और १२ वें गुणस्थानमें प्राप्त होता है। इस हिसाबसे ३० प्रकृतिक उदयस्थानमें ९३, ९२, ८९, ८८, ७९ और ७५ ये छह सत्त्वस्थान होते हैं। इनमेंसे प्रारम्भके ४ सत्त्वस्थान उपशान्त मोह गुणस्थानकी अपेक्षा और अन्तके दो सत्त्वस्थान क्षीणमोह और सयोगिकेवलीकी अपेक्षा कहे हैं। अब यदि इस ३० प्रकृतिक उदयस्थानमेंसे स्वर प्रकृतिको निकाल दें और तीर्थंकर प्रकृतिको मिला दें तो भी उक्त उदयस्थान प्राप्त होता है जो तीर्थंकर केवलीके वचन योगके निरोध करने पर होता है। किन्तु इसमें सत्त्वस्थान ८० और ७६ ये दो होते हैं क्योंकि सामान्य केवलीके जो ७९ और ७५ सत्त्वस्थान कह आये हैं उनमें तीर्थंकर प्रकृतिके मिल जानेसे ८० और ७६ ही प्राप्त होते हैं।

तथा सामान्य केवलीके जो ३० प्रकृतिक उदयस्थान बतला आये हैं उसमें तीर्थंकर प्रकृतिके मिलाने पर तीर्थंकर केवलीके ३१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है और उसी प्रकार ८० और ७६ ये दो

सत्त्वस्थान होते हैं, क्योंकि सामान्यकेवलीके जो ७५ और ७९ ये दो सत्त्वस्थान बतलाये हैं उनमें तीर्थंकर प्रकृति और मिला दी गई है।

सामान्य केवलीके जो ३० प्रकृतिक उदयस्थान बतला आये हैं उसमेंसे वचन योगके निरोध करने पर स्वर प्रकृति निकल जाती हैं अत २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। या तीर्थंकर केवलीके जो ३० प्रकृतिक उदयस्थान बतलाया है उसमेंसे श्वासोच्छ्वासके निरोध करने पर उच्छ्वास प्रकृतिके निकल जानेसे २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इनमेंसे पहला उदयस्थान सामान्यकेवलीके और दूसरा उदयस्थान तीर्थंकर केवलीके होता है, अत प्रथम २९ प्रकृतिक उदयस्थानमें ७९ और ७५ तथा द्वितीय २९ प्रकृतिक उदयस्थानमें ८० और ७६ ये सत्त्वस्थान प्राप्त होते हैं।

सामान्यकेवलीके वचनयोगके निरोध करने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान कह आये हैं उसमेंसे श्वासोच्छ्वासके निरोध करने पर उच्छ्वास प्रकृतिके कम हो जानेसे २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह सामान्यकेवली के होता है अत यहाँ ७९ और ७५ ये दो सत्त्वस्थान होते हैं।

तथा तीर्थंकर केवलीके अयोगिकेवली गुणस्थानमें ९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है और उपान्त्य समय तक ८० और ७६ तथा अन्तिम समयमें ९ प्रकृतिक ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। किन्तु सामान्यकेवलीकी अपेक्षा अयोगिकेवली गुणस्थानमें ८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है और उपान्त्य समय तक ७९ और ७५ तथा अन्तिम समयमें ८ प्रकृतिक ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं।

इस प्रकार बन्धके अभावमें २०,२१,२६,२७,२८,२९ ३०,३१,९, और ८ ये दस उदयस्थान और ९३ ९२,८९,८८,८०,७९ ७६, ७५, ९ और ८ ये १० सत्त्वस्थान होते हैं यह सिद्ध हुआ।

उक्त विशेषताओंका ज्ञापक कोष्ठक

[२३]

गुण०	बन्ध स्थान	भग	उदयस्थान	भग	सत्ता स्थान
१ मि०	२३	४	२१	३२	६२,८८ ८६ ८०,७८ — ५
			२४	११	६२ ८८ ८६,८०,७८ — ५
			२५	२३	६२,८८ ८६,८०,७८ — ५
			२६	६००	६२,८८ ८६,८०,७८ — ५
			२७	२२	६२,८८ ८६,८० ४
			२८	११८२	६२,८८ ८६,८० ४
			२९	१७६४	६२,८८,८६,८० ४
			३०	२९०६	६२,८८ ८६,८० ४
			३१	११६४	६२ ८८ ८६,८० ४
१	२५	२५	२१	४०	६२ ८८ ८६ ८०,७८ — ५
			२४	११	६२,८८,८६,८०,७८ — ५
			२५	३१	६२ ८८ ८६,८०,७८ — ५
			२६	६००	६२,८८,८६ ८०,७८ — ५
			२७	३०	९२ ८८,८६ ८० ४
			२८	११९८	६२,८८,८६,८० ४
			२९	१७८०	६२ ८८,८६ ८० ४
			३०	२९१४	६२,८८,८६ ८० ४
			३१	२१२४	९२,८८,८६,८० ४
१	२६	२६	२१	४०	६२ ८८,८६,८० ७८ — ५
			२४	११	६२,८८,८६,८० ७८ — ५
			२५	३१	६२ ८८,८६,८० ७८ — ५
			२६	६००	६२,८८ ८६ ८०,७८ — ५
			२७	३०	६२ ८८ ८६,८० ४
			२८	११९८	९२,८८ ८६ ८० ४
			२९	१७८०	६२ ८८,८६ ८० ४
			३०	२९१४	६२,८८,८६,८० ४
			३१	११६४	६२ ८८ ८६ ८० ४

गुण०	बन्ध स्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्ता स्थान	
१ से ८	२८	८	२१	१६	९२,८८ —	२
			२५	१७	९२,८८ —	२
			२६	०७६	९२,८८ —	२
			२७	१७	९२,८८ —	२
			२८	११७६	९२,८८ —	२
			२९	१७५५	९२,८८ —	२
			३०	२८९०	९२,८९,८८,८६	४
			३१	११५२	९२,८८,८६	३
१ से ८	२९	९२४८	२१	४१	९३,९२,८९,८८,८६,८०,७८	७
			२४	११	९२,८८,८६,८०,७८	५
			२५	३३	९३,९२,८९,८८,८६,८०,७८	७
			२६	६००	९३,९२,८९,८८,८६,८०,७८	७
			२७	३२	९३,९२,८९,८८,८६,८०	६
			२८	१२०२	९३,९२,८९,८८,८६,८०	६
			२९	१७८४	९३,९२,८९,८८,८६,८०	६
			३०	२९१६	९३,९२,८९,८८,८६,८०	६
			३१	११६४	९३,८८,८६,८०	४
१,२,४,७,८	३०	४६४१	२१	४१	९३,९२,८९,८८,८६,८०,७८	७
			२४	११	९२,८८,८६,८०,७८	५
			२५	३२	९३,९२,८९,८८,८६,८०,७८	७
			२६	६००	९२,८८,८६,८०,७८	५
			२७	३१	९३,९२,८९,८८,८६,८०	६
			२८	११९९	९३,९२,८९,८८,८६,८०	६
			२९	१७८१	९३,९२,८९,८८,८६,८०	६
			३०	२९१४	९३,९२,८९,८८,८६,८०	६
			३१	११६४	९३,८८,८६,८०	४

गुण०	बन्ध-स्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्ता स्थान	
७ व ८	३१	१	३०	१४४	९३	१
८,९, १०	१	१	३०	७२	९३,९२,८९,८८ ८०,७९,७६, ७५	
११,१२ १३ व १४	०	०	२०	१	७६,७५	२
			२१	१	८०,७६	२
			२६	६	७६ ७५	२
			२७	१	८०,७६	२
			२८	१२	७९,७५	२
			२९	१३	८०,७९,७६,७५	४
			३०	७३	९३ ९२,८९,८८,८०,७९,७६, ७५	८
११,१२ १३ व १४	०	०	३१	१	८०,७६	२
			९	१	८०,७६ ९	३
			८	१	७९ ७५,८	३
		१३९४५		४६७२४	२८४	

इस प्रकार आठो उत्तर प्रकृतियोके बन्धस्थान उदयस्थान और सत्त्वस्थानोका तथा उनके परस्पर संवेध भंगोका कथन समाप्त हुआ।

अब उसी क्रमसे इनके जीवस्थान और गुणस्थानोकी अपेक्षा स्वामी का कथन करते हैं—

तिनिगप्पगइठाणेहिं जीवगुणसन्निएसु ठाणेसु।
भंगा पउजियव्वा जत्थ जहा संभवो भवइ॥३३॥

अर्थ—प्रकृतिस्थान बन्ध, उदय और सत्त्वके भेदसे तीन

प्रकारके हैं अत इनकी अपेक्षा जीवस्थान और गुणस्थानोंमे जह
जितने सम्भव हों वहाँ उतने भग घटित करने चाहिये।

विशेषार्थ—अभी तक ग्रन्थकारने मूल और उत्तर प्रकृ
तियों के बन्धस्थान, उदयस्थान और सत्त्वस्थान तथा उनके सवे
भग बतलाये हैं। साथ ही मूलप्रकृतियोंके इन स्थानों और उनं
संवेध भगोंके जीवस्थान और गुणस्थानों की अपेक्षा स्वामीव
निर्देश भी किया। किन्तु अभी तक उत्तर प्रकृतियोंके बन्धस्थान, उद
स्थान तथा इनके परस्पर संवेध भगोंके स्वामीका निर्देश नहीं किय
है जिसका किया जाना जरूरी है। इसी कमीको ध्यानमें रखक
ग्रन्थकारने इस गाथाद्वारा स्वामी के निर्देश करने की प्रतिज्ञा क
है। गाथाका आशय है कि तीन प्रकारके प्रकृतिस्थानोंके सब भग
जीवस्थान और गुणस्थानोंमें घटित करके बतलाये जायँगे। इससे
प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारको जीवस्थानों और गुणस्थानोंमें ह
भगोंका कथन करना इष्ट है मार्गणास्थानोंमें नहीं। यही सबब
है, जिससे मलयगिरि आचार्यने प्रथम गाथामें आये हुए 'सिद्धपद
का दूसरा अर्थ जीवस्थान और गुणस्थान भी किया है।

११. जीवस्थानोंमें संवेधभग

अब पहले जीवस्थानोंमें ज्ञानावरण और अन्तराय कर्मके भग
बतलाते हैं—

तेरससु जीवसंखेवएसु नाणतराय तिविगप्पो।
एक्कम्मि तिदुविगप्पो करण पइ एत्थ अविगप्पो ॥३४॥

अर्थ—प्रारम्भके तेरह जीवस्थानोंमें ज्ञानावरण और अन्त-
राय कर्मके तीन विकल्प होते हैं और पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय इस
एक जीवस्थानमें तीन और दो विकल्प होते हैं। तथा द्रव्य मनकी
अपेक्षा इसके कोई विकल्प नहीं है॥

कहलाते हैं उनके ज्ञानावरण और अन्तराय कर्मके बन्ध, उदय और सत्त्व की अपेक्षा कोई भंग नहीं है, क्यों कि इन कर्मो की बन्ध, उदय और सत्त्वव्युच्छित्ति केवली होनेसे पहले हो जाती है। गाथामें जीवस्थानके लिये जो 'जीव संक्षेप' पद आया है सो जिन अपर्याप्त एकेन्द्रियत्व आदि धर्मों के द्वारा जीव संक्षिप्त अर्थात् संगृहीत किये जाते हैं उनकी जीवसंक्षेप संज्ञा है, इस प्रकार इस जीवसंक्षेप पद को ग्रन्थकारने जीवस्थान पदके अर्थमें ही स्वीकार किया है ऐसा समझना चाहिये। तथा गाथामें जो करण पद आया है सो उसका अर्थ प्रकृतमें द्रव्यमन लेना चाहिये, क्योंकि केवल द्रव्यमनके रहने पर ही ज्ञानावरण और अन्तराय कर्मका कोई विकल्प नहीं पाया जाता।

अब जीवस्थानोंमें दर्शनावरण कर्मके भंग बतलाते हैं—

तेरे नव चउ पणगं नव संतेगम्मि भंगमेक्कारा।

अर्थ—तेरह जीवस्थानोंमें दर्शनावरण कर्मके नौ प्रकृतिक बन्ध, चार या पाँच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व ये दो भंग होते हैं तथा पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय इस एक जीवस्थानमें ग्यारह भंग होते हैं।

विशेषार्थ—प्रारम्भके तेरह जीवस्थानोंमें दर्शनावरण कर्मकी किसी भी उत्तर प्रकृतिका न तो बन्धविच्छेद होता है, न उदयविच्छेद होता है और न सत्त्वविच्छेद होता है, पाँच निद्राओंमें से एक कालमें किसी एकका उदय होता भी है और नहीं होता, अतः गाथामें इन जीवस्थानोंमें ९ प्रकृतिक बन्ध, ४ प्रकृतिक उदय और ९ प्रकृतिक सत्त्व तथा ९ प्रकृतिक बन्ध ५ प्रकृतिक उदय और ९ प्रकृतिक सत्त्व ये दो भंग बतलाये हैं। किन्तु पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय इस जीवस्थानमें गुणस्थान क्रमसे दर्शनावरण का नौ प्रकृतियों का बन्ध, उदय और सत्त्व तथा इनकी व्युच्छित्ति यह

सब कुछ सम्भव है जिससे इस जीवस्थानमें दर्शनावरण कर्मकी उत्तर प्रकृतियोंके बन्ध उदय और सत्त्वकी अपेक्षा ११ भग प्राप्त होते हैं। यही सबब है कि गाथामें इस जीवस्थानमे दर्शनावरण कर्मके ११ भगोंकी सूचना की है। किन्तु समान्यसे सवेध चिन्ता के समय (पृष्ठ ३२ से ३६ तक) इन ११ भगोंका विचार कर आये हैं, अत यहाँ उनका पुन खुलासा नहीं किया जाता है। स्वाध्याय प्रेमियोंको वहाँसे जान लेना चाहिये।

अब जीवस्थानोमे वेदनीय, आयु और गोत्र कर्मके भग बतलाते हैं—

वेयणियाउगोए विभज्ज मोहं परं वोच्छं ॥ ३५ ॥

अर्थ—वेदनीय, आयु और गोत्र कर्मके जो बन्धादि स्थान हैं उनका जीवस्थानोंमें विभाग करके तदनन्तर मोहनीय कर्मका व्याख्यान करेंगे।

विशेषार्थ—उक्त गाथाके तृतीय चरणमें वेदनीय, आयु और गोत्रके विभागका निर्देशमात्र करके चौथे चरणमें मोहनीयके कहनेकी प्रतिज्ञा की गई है। ग्रन्थकर्ताने स्वय उक्त तीन कर्मों के भगोंका निर्देश नहा किया है और न यह ही बतलाया है कि किस जीवस्थानमे कितने भग होते हैं। किन्तु इन दोनों बातोंका विवेचन करना जरूरी है, अत अन्य आधारसे इसका विवेचन किया जाता है। भाष्यमें एक गाथा आई है जिसमें वेदनीय और गोत्रके भगोंका कथन १४ जीवस्थानोंकी अपेक्षा किया है अत यहाँ वह गाथा उद्धृत की जाती है—

'पज्जत्तगसन्नियरे अट्ठ चउक्कं च वेयणियभगा।
सत्तग तिगं च गोए पत्तेयं जीवठाणेसु ॥'

अर्थात्—'पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय जीवस्थानमें वेदनीय कर्मके आठ भग और शेष तेरह जीवस्थानोमे चार भग होते हैं। तथा

गोत्र कर्मके पर्याप्त सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय जीवस्थानमे ७ भग और शेप तेरह जीवस्थानोंमेंसे प्रत्येकमें तीन भग होते हैं।'

इसका यह तात्पर्य है कि पर्याप्त सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय जीवस्थानमें (१) असाताका वन्ध, असाताका उदय और साता असाता दोनोंका सत्त्व (२) असाताका वन्ध साताका उदय और साता असाता दोनोका सत्त्व (३) साताका वन्ध, असाताका उदय और साता असाता दोनोका सत्त्व (४) साताका वन्ध, साताका उदय और साता असाता दोनोका सत्त्व (५) असाताका उदय और साता असाता दोनोका सत्त्व (६) साताका उदय और साता असाता दोनोका सत्त्व (७) असाता का उदय और असाताका सत्त्व तथा (८) साताका उदय और साताका सत्त्व ये आठ भग होते हैं क्यो कि इस जीवसमासमें १४ गुणस्थान सम्भव हैं अत ये सव भग वन जाते हैं। किन्तु प्रारम्भके १३ जीवस्थानोंमेंसे प्रत्येकमें इन आठ भगोंमेंसे प्रारम्भके चार भग ही प्राप्त होते हैं क्योंकि इनमें साता और असाता इन दोनोका यथासम्भव वन्ध, उदय और सत्त्व सर्वदा सम्भव है।

तथा पर्याप्त सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय जीवस्थानमें (१) नीचका वन्ध, नीच का उदय और नीचका सत्त्व (२) नीचका वन्ध, नीचका उदय और उच्च नीच इन दोनोका सत्त्व (३) नीचका वन्ध, उच्चका उदय और उच्च नीच इन दोनोका सत्त्व (४) उच्चका वन्ध, नीचका उदय और उच्च नीच इन दोनोका सत्त्व (५) उच्चका वन्ध, उच्चका उदय और उच्च नीचका सत्त्व (६) उच्चका उदय और उच्च नीच इन दोनोका सत्त्व तथा (७) उच्चका उदय और उच्चका सत्त्व ये सात भग प्राप्त होते हैं। इनमें से पहला भग ऐसे सञ्ज्ञियों के होता है जो अग्निकायिक और वायुकायिक पर्याय से आकर सञ्ज्ञियो में उत्पन्न होते हैं,

ोंकि अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों के उच्च गोत्रकी लना देखी जाती है। फिर भी यह भग सञ्ज्ञी जीवोंके कुछ ल तक ही पाया जाता है। सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय जीवस्थानमें दूसरा र तीसरा भग प्रारम्भ के दो गुणस्थानों की अपेक्षा से कहा । चौथा भग प्रारम्भ के पाच गुणस्थानों की अपेक्षासे कहा है। ाचवा भग प्रारम्भके १० गुणस्थानों की अपेक्षासे कहा है। छठा ग उपशान्त मोहसे लेकर अयोगिकेवली के उपान्त्य समय तक ता है, अत इस अपेक्षा से कहा है। तथा सातवा भग अयोगि-वली गुणस्थानके अन्तिम समय की अपेक्षासे कहा है। किन्तु प तेरह जीवस्थानो में उक्त सात भगों मे से पहला दूसरा ौर चौथा ये तीन भग ही प्राप्त होते हैं। इनमे से पहला भग ग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंमे उच्च गोत्रकी उद्वलना के नन्तर सर्वदा होता है किन्तु शेपमे से उन्हीं के कुछ काल तक ाता है जो अग्निकायिक और वायुकायिक पर्याय से आकर न्य पृथिवीकायिक आदिमें उत्पन्न हुए हैं। तथा इन तेरह जीव थानोंमें एक नीच गोत्रका ही उदय होता है किन्तु बन्ध दोनोंका ाया जाता है इसलिये इनमें दूसरा और चौथा भग भी बन ाता है। इस प्रकार वेदनीय और गोत्रके किस जीवस्थानमें केतने भग सम्भव हैं इसका विवेचन किया। अब जीवस्थानों मे प्रायुकर्मके भग बतलानेके लिये भाष्य की गाथा उद्धृत की जाती है—

पज्जत्तापज्जत्तग समणे पज्जत्त अयण सेसेसु।
अट्ठावीस दसग नवग पणग च आउस्स॥

अर्थात् 'पर्याप्त सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय, अपर्याप्त सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय, र्याप्त असञ्ज्ञी पचेन्द्रिय और शेप ग्यारह जीवस्थानों मे आयु र्मके क्रमश २८ १०, ९ और ५ भग होते हैं॥'

आशय यह है कि पहले जो नारकी के ५, तिर्यंचके ■ मनुष्य

गोत्र कर्मके पर्याप्त सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय जीवस्थानमें ७ भग और शेप तेरह जीवस्थानोंमेंसे प्रत्येकमें तीन भग होते हैं।'

इसका यह तात्पर्य है कि पर्याप्त सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय जीवस्थानमें (१) असाताका बन्ध, असाताका उदय और साता असाता दोनोका सत्त्व (२) असाताका बन्ध साताका उदय और साता असाता दोनोंका सत्त्व(३) साताका बन्ध, असाताका उदय और साता असाता दोनोंका सत्त्व (४) साताका बन्ध, साताका उदय और साता असाता दोनोंका सत्त्व (५) असाताका उदय और साता असाता दोनोंका सत्त्व (६) साताका उदय और साता असाता दोनोंका सत्त्व (७) असाता का उदय और असाताका सत्त्व तथा (८) साताका उदय और साताका सत्त्व ये आठ भग होते हैं क्यों कि इस जीवसमासमें १४ गुणस्थान सम्भव हैं अत ये सब भग बन जाते हैं। किन्तु प्रारम्भके १३ जीवस्थानोंमेंसे प्रत्येकमें इन आठ भगोंमेंसे प्रारम्भके चार भग ही प्राप्त होते हैं क्योंकि इनमें साता और असाता इन दोनोंका यथासम्भव बन्ध, उदय और सत्त्व सर्वदा सम्भव है।

तथा पर्याप्त सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय जीवस्थानमें (१) नीचका बन्ध, नीच का उदय और नीचका सत्त्व (२) नीचका बन्ध, नीचका उदय और उच्च नीच इन दोनोका सत्त्व (३) नीचका बन्ध, उच्चका उदय और उच्च नीच इन दोनोका सत्त्व (४) उच्चका बन्ध, नीचका उदय और उच्च नीच इन दोनोंका सत्त्व (५) उच्चका बन्ध, उच्चका उदय और उच्च नीचका सत्त्व (६) उच्चका उदय और उच्च नीच इन दोनोंका सत्त्व तथा (७) उच्चका उदय और उच्चका सत्त्व ये सात भग प्राप्त होते हैं। इनमें से पहला भग ऐसे सञ्ज्ञियों के होता है जो अग्निकायिक और वायुकायिक पर्याय से आकर सञ्ज्ञियो मे उत्पन्न होते हैं,

क्योंकि अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों के उच्च गोत्रकी उद्वलना देखी जाती है। फिर भी यह भग सज्ञी जीवोंके कुछ काल तक ही पाया जाता है। सज्ञी पचेन्द्रिय जीवस्थानमें दूसरा और तीसरा भग प्रारम्भ के दो गुणस्थानो की अपेक्षा से कहा है। चौथा भग प्रारम्भ के पाच गुणस्थानों की अपेक्षासे कहा है। पाचवा भग प्रारम्भके १० गुणस्थानो की अपेक्षासे कहा है। छठा भग उपशान्त मोहसे लेकर अयोगिकेवली के उपान्त्य समय तक होता है, अत इस अपेक्षा से कहा है। तथा सातवा भग अयोगि-केवली गुणस्थानके अन्तिम समय की अपेक्षासे कहा है। किन्तु शेप तेरह जीवस्थानो में उक्त सात भगों मे से पहला, दूसरा और चौथा ये तीन भग हा प्राप्त होते हैं। इनमे से पहला भग अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंमे उच्च गोत्रकी उद्वलना के अनन्तर सर्वदा होता है किन्तु शेपमें से उन्हीं के कुछ काल तक होता है जो अग्निकायिक और वायुकायिक पर्याय से आकर अन्य पृथिवीकायिक आदिमें उत्पन्न हुए हैं। तथा इन तेरह जीव स्थानोंमें एक नीच गोत्रका ही उदय होता है किन्तु वन्ध दोनोंका पाया जाता है इसलिये इनमें दूसरा और चौथा भग भी बन जाता है। इस प्रकार वेदनीय और गोत्रके किस जीवस्थानमें कितने भग सम्भव हैं इसका निवेचन किया। अब जीवस्थानों मे आयुकर्मके भग वतलानेके लिये भाष्य की गाथा उद्धृत की जाती है—

पज्जत्तापज्जत्तग समणे पज्जत्त अयण सेसेसु।
अट्ठावीस दसग नवग पणग च आउस्स॥

अर्थात् 'पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय, अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय, पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय और शेप ग्यारह जीवस्थानों मे आयु कर्मके क्रमश २८ १०, ९ और ५ भग होते हैं॥'

आशय यह है कि पहले जो नारकी के ५, तिर्यंचके ६ मनुष्य

अब जीवस्थानो में मोहनीय कर्मके भग वतलाते हैं—

अट्ठसु पंचसु एगे एग दुगं दस य मोहबन्धगए ।
तिग चउ नव उदयगए तिग तिग पन्नरस संतम्मि ॥३८॥

अर्थ—आठ, पाच और एक जीवस्थानमें मोहनीयके क्रमसे एक, दो और दस बन्धस्थान, तीन, चार और नौ उदयस्थान तथा तीन, तीन और पन्द्रह सत्त्वस्थान होते हैं ॥

विशेषार्थ—इस गाथा में कितने जीवस्थानोंमे मोहनीयके कितने बन्धस्थान कितने उदयस्थान और कितने सत्त्वस्थान होते हैं इस प्रकार सख्याका निर्देशमात्र किया है परन्तु वे कौन कौन होते हैं यह नहीं बतलाया है। आगे इसीका खुलासा करते हैं— पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, अपर्याप्तक बादर एकेन्द्रिय, अपर्याप्तक दो इन्द्रिय, अपर्याप्तक तीन इन्द्रिय, अपर्याप्तक चार इन्द्रिय, अपर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय और अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय ये आठ जीवस्थान ऐसे हैं जिनमें एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही होता है, अत इनमें एक २२ प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। यहा तीन वेद और दो युगलो की अपेक्षा ६ भग होते हैं जिनका कथन पहले किया ही है। तथा इन आठों जीवस्थानोमे ८, ९ और १० प्रकृतिक तीन उदयस्थान होते हैं। यद्यपि मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धी चतुष्कमें से किसी एकके उदयके बिना ७ प्रकृतिक उदयस्थान भी होता है पर वह इन जीवस्थानोंमें नहीं पाया जाता, क्योंकि जो जीव उपशम श्रेणीसे

च्युत होकर क्रमश मिथ्यादृष्टि होता है उसीके मिथ्यादृष्टि गुण-स्थानमें एक आवलि कालतक मिथ्यात्वका उदय नहीं होता। परन्तु उक्त जीवस्थानवाले जीव तो उपशम श्रेणी पर चढ़ते नहीं अत इनके सात प्रकृतिक उदयस्थान सम्भव नहीं। यहा ८ प्रकृतिक उदयस्थानम ८ भग होते हैं, क्योंकि इन जीवस्थानोंमें एक नपुसक वेदका ही उदय होता है पुरुषवेद और स्त्रीवेदका नहीं, अत यहा वेदका विकल्प तो सम्भव नहीं। इस स्थानमें विकल्पवाली प्रकृतिया अब रहीं क्रोधादिक चार और दो युगल सो इनके विकल्पसे आठ भग प्राप्त होते है। ९ प्रकृतिक उदयस्थान भय और जुगुप्सा के विकल्पसे दो प्रकारका है अत यहाँ आठ को दो से गुणित कर देने पर सोलह भग होते हैं। तथा १० प्रकृतिक उदयस्थान एक ही प्रकारका है अत यहा पूर्वोक्त आठ भग ही होते हैं। इस प्रकार तीन उदयस्थानोके कुल ३२ भग हुए जो प्रत्येक जीवस्थानमें अलग अलग प्राप्त होते हैं। तथा इन जीवस्थानोंमें से प्रत्येकमें २८, २७ और २६ प्रकृतिक ये तीन सत्त्वस्थान होते है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमे इन तीन के सिवा और सत्त्वस्थान नहीं पाये जाते।

तथा पर्याप्तक वादर एकेन्द्रिय, पर्याप्तक दो इन्द्रिय, पर्याप्तक तीन इन्द्रिय, पर्याप्तक चार इन्द्रिय और पर्याप्तक असज्ञी पचेन्द्रिय इन पाच जीवस्थानो में २२ और २१ प्रकृतिक दो वन्ध

स्थान, ७,८,९ और १० प्रकृतिक चार उदयस्थान और २८,२७ और २६ प्रकृतिक तीन सत्त्वस्थान होते हैं। इनके मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है इस लिये तो इनके २२ प्रकृतिक बन्धस्थान कहा। तथा सास्वादन सम्यग्दृष्टि जीव मरकर इन जीवस्थानोंमें भी उत्पन्न होते हैं इसलिये इनके २१ प्रकृतिक बन्धस्थान कहा। इस प्रकार इन पाच जीवस्थानोंमें २२ और २१ ये दो बन्धस्थान होते हैं यह सिद्ध हुआ। इनमें से २२ प्रकृतिक बन्धस्थानके ६ और २१ प्रकृतिक बन्धस्थानके ४ भग होते हैं जिनका खुलासा पहले किया ही है। तथा इन जीवस्थानोंमें ऊपर जो चार उदयस्थान बतलाये हैं सो उनमें से २१ प्रकृतिक बन्धस्थानमें ७, ८ और ९ तथा २२ प्रकृतिक बन्धस्थानमें ८, ९ और १० ये तीन तीन उदयस्थान होते हैं। इन जीवस्थानोंमे भी एक नपुसकवेदका ही उदय होता है अत यहा भी ७ ८ और ९ प्रकृतिक उदयस्थानके क्रमश ८, १६ और ८ भग होंगे। तथा इसी प्रकार ८, ९ और १० प्रकृतिक उदयस्थानके भी ८, १६ और ८ भग होगे। किन्तु चूर्णिकारका मत है कि असज्ञि लब्धिपर्याप्तकके यथायोग्य तीन वेदोंमें से किसी एक वेदका उदय होता है, अत इस मतके अनुसार असज्ञी लब्धिपर्याप्तकके सात आदि उदयस्थानोंमें से प्रत्येकके ८ भग न होकर २४ भग होगे। तथा इन जीवस्थानो मे जो २८, २७ और २६ ये तीन सत्त्वस्थान बतलाये हैं सो इनका कारण स्पष्ट ही है। अब शेष रहा पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय जीवसमास सो

इसमें मोहनीयके १० बन्धस्थान, ६ उदयस्थान और १५ सत्त्व स्थान होते हैं जिनका खुलासा पहले किया ही है।

अब इनके संवेधका कथन करते हैं—आठ जीवस्थानोंमे एक २२ प्रकृतिक बन्धस्थान होता है और उसमें ८, ९ और १० प्रकृतिक तीन उदयस्थान होते हैं। तथा प्रत्येक उदयस्थानमे २८, २७ और २६ प्रकृतिक तीन सत्त्वस्थान होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक जीवस्थानमे कुल सत्त्वस्थान नौ हुए। पाच जीवस्थानोंमे २२ प्रकृतिक और २१ प्रकृतिक ये दो बन्धस्थान होते हैं। सो इनमें से २२ प्रकृतिक बंधस्थानमें ८, ९ और १० प्रकृतिक तीन उदयस्थान होते हैं और प्रत्येक उदयस्थानमे २८, २७ और २६ प्रकृतिक तीन सत्त्वस्थान होते हैं। इस प्रकार कुल सत्त्वस्थान नौ हुए। तथा २१ प्रकृतिक बन्धस्थानमें ७, ८ और ९ प्रकृतिक तीन उदयस्थान होते हैं और प्रत्येक उदयस्थान में २८ प्रकृतिक एक सत्त्वस्थान होता है, क्योंकि २१ प्रकृतिक बन्धस्थान सासादन गुणस्थान में होता है और सास्वादन गुणस्थान नियमसे २८ प्रकृतियोंकी सत्तावाले जीवके ही होता है, क्योंकि सासादन सम्यग्दृष्टियोंके तीन दर्शनमोहनीयका सत्त्व नियमसे पाया जाता है अत यहा एक २८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान ही होता है। इस प्रकार २१ प्रकृतिक बन्धस्थानमें तीन उदयस्थानोंकी अपेक्षा तीन सत्त्वस्थान होते हैं। दोनों बन्धस्थानोंकी अपेक्षा यहा प्रत्येक जीवस्थान में १२ सत्त्वस्थान होते हैं। तथा सज्ञी पर्याप्त जीवस्थानमे मोहनीयके बन्धादि स्थानोंके संवेधका कथन पहले के समान जानना चाहिये।

जीवस्थानोंमे मोहनीयके संवेधभंगोंका ज्ञापक कोष्ठक

[२५]

जीवस्थान	बंध स्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	उदय पद०	पदवृन्द	सत्तास्थान
सू ए अ	२२	६	८, ९, १०	३२	३६	२८८	२८, २७, २६
सू ए प	२२	६	८ ९, १०	३२	३६	२८८	२८, २७, २६
बा ए अ	२२	६	८, ९, १०	३२	३६	२८८	२८, २७ २६
बा ए प	२२ २१	६ ४	८, ९, १० ७, ८, ९	६४	६८	५४४	२८, २७, २६, २८
बेइ० अ०	२२	६	८, ९, १०	३२	३८	२८८	२८, २७, २६
बेइ० प०	२२ २१	६ ४	८, ९ १० ७, ८, ९	६४	६८	५४४	२८ २७, २६ २
तेइ० अ०	२२	६	८, ९, १०	३२	३६	२८८	२८, २७, २६
तेइ० प०	२२ २१	६ ४	८, ९, १० ७, ८, ९	६४	६८	५४४	२८, २७, २६, २८
चउरिं अ	२२	६	८ ९, १०	३२	३६	२८८	२८ २७, २६
चउरि प	२२ २१	६ ४	८ ९, १० ७, ८, ९	६४	६८	५४४	२८, २७ २६, २८
अ प अ	२२	६	८, ९, १०	३२	३६	२८८	२८, २७, २६
अ प प	२२ २१	६ ४	८, ९, १० ७ ८, ९	६४	६८	५४४	२८ २७ २६, २८
स पं अ	२२	६	८, ९, १०	३२	३६	२८८	२८, २७, २६
स प. प	सब	२१	सब	९८३	२८८	६९४७	सब

अथ जीवस्थानोंमें नाम कर्मके भग बतलाते हैं—

पंण दुग पणगं पण चउ पणगं पणगा हवंति तिन्नेर ।
पण छप्पणग छच्छप्पणग अट्ठट्ठ दसग ति ॥ ३७ ॥
सत्तेव अपज्जत्ता सामी तह सुहुम बायरा चेव ।
निगलिंदियां उ तिन्नि उ तह य असन्नी य सन्नी य ॥ ३८ ॥

अर्थ—पाच, दो, पाच, पाच, चार, पाच, पाच, पाच पाच, पाच, छह पाच, छह, छह, पाच और आठ, आठ, दस ये बन्ध, उदय और सत्त्वस्थान हैं। इनके क्रमसे सातो अपर्याप्तक सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक, तीनों विकलेन्द्रिय पर्याप्तक, असज्ञी पर्याप्तक और सज्ञी पर्याप्तक जीव स्वामी होते है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओंमें से पहली गाथामें तीन तीन सख्याओं का एक एक गट लिया गया है जिनमें से पहली सख्या बन्धस्थानकी दूसरी सख्या उदयस्थानकी और तीसरी सख्या सत्त्वस्थानकी द्योतक है। ऐसे कुल गट छह हैं। तथा दूसरी गाथा में १४ जीवस्थानों को छह भागोंमे बाट दिया है। इसका यह तात्पर्य है कि पहले भागके जीवस्थान पहले गटके स्वामी हैं और दूसरे भागका जीवस्थान दूसरे गटका स्वामी है आदि। यद्यपि

(१) 'पण दो पणग पण चदु पणग बधुदयसत्त पणग च। पण छक्क पणग च छक्क पणगमट्ठट्ठमेयार ॥ सत्तेव अपज्जत्ता सामी सुहुमो य बादरो चेव। वियलिंदिया य तिविहा होंति असण्णी कमा सण्णी ॥'—गो॰ कर्म॰ गा॰ ७०४ ७०५। (२) गो॰ कर्म॰ गा॰ ७०६-७०७। (३) गो॰ कर्म॰ गा॰ ७०७। (४) गो॰ कर्म॰ गा॰ ७०८। (५) गो॰ कर्म॰ गा॰ ७०९।

इतने कथनसे यह तो जान लिया जाता है कि अमुक जीवस्थानमें इतने बन्धस्थान इतने उदयस्थान और इतने सत्त्वस्थान होते हैं किन्तु वे कौन कौन हैं यह जानना कठिन है, अत आगे उन्हीं का मयभगोंके उक्त गाथाओंके निर्देशानुसार विस्तार से विवेचन किया जाता है—

सातो प्रकारके अपर्याप्तक जीव मनुष्यगति और तिर्यंचगति के योग्य प्रकृतियो का ही बन्ध करते हैं। यहा देवगति और नरकगतिके योग्य प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता, अत सातों अपर्याप्तक जीवस्थानोमे २८ ३१ और १ प्रकृतिक बन्धस्थान न होकर २३, २५, २६, २९ और ३० प्रकृतिक पाच ही बन्धस्थान होते हैं। सो भी इनमें मनुष्यगति और तिर्यंचगतिके योग्य प्रकृतियों का ही बन्ध होता है। यहा सब बन्धस्थानोंके मिलाकर प्रत्येक जीवस्थानमें १३९१७ भग होते हैं। तथा इन सात जीवस्थानों में से अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय और अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय इन दो जीवस्थानोमे २१ और २४ प्रकृतिक दो उदयस्थान होते हैं। सो इनमें से अपर्याप्त बादर एकेन्द्रियके २१ प्रकृतिक उदयस्थानमें तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, अगुरुलघु, वर्णादि चार, एकेन्द्रिय जाति, स्थावर, बादर, अपर्याप्तक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयश कीर्ति और निर्माण इन इक्कीस प्रकृतियोंका उदय होता है। यह उदयस्थान अपान्तराल गतिमें प्राप्त होता है। यहा भग एक ही है, क्योंकि यहा परावर्त्तमान शुभ प्रकृतियोका उदय नहीं होता। अपर्याप्तक सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवके भी यही उदयस्थान होता है। किन्तु इतनी विशेषता है कि इसके बादरके स्थानमें सूक्ष्म प्रकृति का उदय कहना चाहिये। यहा भी एक ही भग है। तथा इस उदयस्थानमें औदारिक शरीर, हुण्ड सस्थान, उपघात तथा प्रत्येक

और साधारणमें से कोई एक इन चार प्रकृतियोंके मिलाने पर और तिर्यंचगत्यानुपूर्वी इस प्रकृतिके घटा लेने पर ४ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। जो उक्त दोनो जीवस्थानोंमे समानरूपसे सम्भव है। यहा सूक्ष्म अपर्याप्तक और बादर अपर्याप्तकमें से प्रत्येकके प्रत्येक और साधारणकी अपेक्षा दो दो भग होते हैं। इस प्रकार दो उदयस्थानोंकी अपेक्षा दोनो जीवस्थानोंमे से प्रत्येक के तीन तीन भग हुए। किन्तु विकलेन्द्रिय अपर्याप्तक, असज्ञी अपर्याप्तक और सज्ञी अपर्याप्तक इन पाच जीवस्थानोंमे २१ और २६ प्रकृतिक ये उदयस्थान होते हे। इनमे से अपर्याप्तक दो इन्द्रियके तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, वर्णादि चार, दो इन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, अपर्याप्तक स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयश कीर्ति और निर्माण यह २१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। जो अपान्तराल गतिमें विद्यमान जीवके ही होता है अन्यके नहीं। यहा सभी पद अप्रशस्त हैं अत एक भग है। इसी प्रकार तीन इन्द्रिय आदि जीवस्थानोंमें भी यह २१ प्रकृतिक उदयस्थान और उसका १ भग जानना चाहिये। किन्तु इतनी विशेषता है कि प्रत्येक जीवस्थान में दो इन्द्रिय जाति न कह कर तेइन्द्रिय जाति आदि अपनी अपनी जातिका उदय कहना चाहिए। तदनन्तर शरीरस्थ जीवके औदारिक शरीर, औदारिक आगोपाग, हुण्डसस्थान, सेवार्त सहनन, उपघात और प्रत्येक इन छह प्रकृतियोंके मिलाने पर और तिर्यंचगत्यानुपूर्वीके निकाल लेने पर २६ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहा भी एक ही भग है। इस प्रकार अपर्याप्तक दो इन्द्रिय आदि प्रत्येक जीवस्थानमें दो दो उदयस्थानोंकी अपेक्षा दो दो भग होते हैं। केवल अपर्याप्त सज्ञी इसके अपवाद हैं। बात यह है कि अपर्याप्त सज्ञी यह जीवस्थान तिर्यंचगति और

हो जाने से २५ और २६ प्रकृतिक उदयस्थानमें ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान भी बन जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त कथनका सार यह है कि २१ और २४ इनमें से प्रत्येक उदयस्थानमें पाच पाच सत्त्वस्थान होते हैं और २५ तथा २६ इन दो मे से प्रत्येकमे एक अपेक्षा चार चार और एक अपेक्षा पाच पाच सत्त्वस्थान होते हैं। किस अपेक्षासे चार और किस अपेक्षासे पाच सत्त्वस्थान होते हैं इसका उल्लेख ऊपर किया ही है।

आगे गाथाकी सूचनानुसार बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीवस्थानमें बन्धादिस्थान और यथासम्भव उनके भग बतलाते हैं— बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीव भी मनुष्यगति और तिर्यंचगतिके योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करता है अत यहा भी २३, २५, २६, २९ और ३० प्रकृतिक पाच बन्धस्थान और तदनुसार इनके कुल भग १३६१७ होते हैं। तथा उदयस्थानोंकी अपेक्षा विचार करने पर यहा एकेन्द्रिय सम्बन्धी पाचो उदयस्थान सम्भव हैं, क्योंकि सामान्यसे अपान्तराल गतिकी अपेक्षा २१ प्रकृतिक, शरीरस्थ होनेकी अपेक्षा २४ प्रकृतिक, शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त होनेकी अपेक्षा २५ प्रकृतिक और श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति से पर्याप्त होने की अपेक्षा २६ प्रकृतिक ये चार उदयस्थान तो पर्याप्त एकेन्द्रिय के नियमसे होते हैं। किन्तु यह बादर है अत यहा आतप और उद्योतमें से किसी एक प्रकृतिका उदय और सम्भव है, अत यहा २७ प्रकृतिक उदयस्थान भी बन जाता है। इस प्रकार बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीवस्थानमें २१,२४,२५,२६, और २७ प्रकृतिक पाच उदयस्थान होते है यह सिद्ध हुआ। पहले बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तके २१ प्रकृतिक उदयस्थानकी प्रकृतिया गिना आये हैं उनमें अपर्याप्तकके स्थानमें पर्याप्तक के मिला देने पर बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तकके २१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। किन्तु

इसके यश कीर्ति और अयश कीर्ति इन दोमें से किसी एकका विकल्प से उदय होता है इतनी और विशेषता है। अत इस अपेक्षा से यहा २१ प्रकृतिक उदयस्थानके दो भग हुए। तदनन्तर शरीरस्थ जीवकी अपेक्षा इसमें औदारिक शरीर, हुण्डसस्थान, उपघात तथा प्रत्येक और साधारण इनमें से कोई एक ये चार प्रकृतिया मिला दो और तिर्यंचगत्यानुपूर्वी निकाल लो तो २४ प्रकृतिक उदयस्थान प्राप्त होता है। यहा पूर्वोक्त दो भगोंको प्रत्येक और साधारण के विकल्प की अपेक्षा दो से गुणित कर देने पर चार भङ्ग होते हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि शरीरस्थ विक्रिया करनेवाले बादर वायुकायिक जीवोंके साधारण और यश कीर्ति का उदय नहीं होता इसलिये वहा एक ही भग होता है। तथा दूसरी विशेषता यह है कि ऐसे जीवोंके औदारिक शरीरका उदय न होकर वैक्रिय शरीर का उदय होता है अत इनके औदारिक शरीरके स्थानमें वैक्रिय शरीर कहना चाहिये। इस प्रकार २४ प्रकृतिक उदयस्थानमें कुल पाच भग हुए। तदनन्तर इसमें पराघात के मिलाने पर शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीवके २५ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहा भी पहले के समान पाच भग होते हैं। तदनन्तर इसमें उच्छ्वासके मिलाने पर २६ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहा भी पहले के समान पाच भग होते हैं। अब यदि शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीवके आतप और उद्योत में से किसी एक प्रकृतिका उदय हो जाय तो भी २६ प्रकृतिक उदयस्थान प्राप्त होता है। किन्तु आतप का उदय साधारण के साथ नही होता है अत इस पक्ष में २६ प्रकृतिक उदयस्थान के यश कीर्ति और अयश कीर्तिकी अपेक्षा दो भग हुए। हाँ उद्योत का उदय साधारण और प्रत्येक इनमें से किसीके भी साथ होता है अत इस पक्षमें साधारण और प्रत्येक तथा यश कीर्ति और अयश कीर्ति

इनके विकल्प से चार भग हुए। इस प्रकार २६ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल भग ११ हुए। तदनन्तर प्राणापान पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीवकी अपेक्षा उच्छ्वास सहित छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थानमें आतप और उद्योतमे से किसी एक प्रकृतिके मिला देने पर २७ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहा भी पहले के समान आतप के साथ दो भग और उद्योत के साथ चार भग इस प्रकार कुल छह भग होते हैं। ये पाचो उदयस्थानो के भग एकत्र करन पर बादर पर्याप्तक के कुल भग २९ होते हैं। तथा जैसा कि हम पहले लिख आये हैं तदनुसार यहा भी ९२, ८८, ८६, ८० और ७८ प्रकृतिक पाच सत्त्वस्थान होते हैं। फिर भी पाच उदयस्थानों के जो २९ भग हैं उनमे से इक्कीस प्रकृतिक उदयस्थान के दो भग, २४ प्रकृतिक उदयस्थानमें वैक्रिय बादर वायुकायिक के एक भग को छोडकर शेप चार भग, तथा २५ और २६ प्रकृतिक उदयस्थानो मे प्रत्येक और अयश कीर्तिके साथ प्राप्त होनेवाला एक एक भग इस प्रकार इन आठ भगों में से प्रत्येकमें उपर्युक्त पाचों सत्त्वस्थान होते हैं। किन्तु शेप २१ मे से प्रत्येक भगमें ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान को छोडकर शेप चार चार सत्त्वस्थान होते हैं।

अब आगे गाथामें किये गये निर्देशानुसार पर्याप्तक विकलेन्द्रियो मे बन्धादि स्थान और यथासम्भव उनके भग बतलाते हैं—विकलेन्द्रिय पर्याप्तक जीव भी तिर्यंचगति और मनुष्यगति के योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं अत इनके भी २३, २५, २६, २९ और ३० प्रकृतिक पाच बन्धस्थान और तदनुसार इनके कुल भग १३९१७ होते हैं। तथा उदयस्थानो की अपेक्षा विचार करने पर यहा २१, २६, २८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक छह उदयस्थान बन जाते हैं। इनमें से २१ प्रकृतिक उदयस्थान मे तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, स्थिर, अस्थिर, शुभ अशुभ, वर्णादि चार,

निर्माण, तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, दो इन्द्रियजाति त्रस, बादर, पर्याप्तक, दुर्भग, अनादेय तथा यश कीर्ति और अयश कीर्तिमें से कोई एक इस प्रकार इन २१ प्रकृतियो का उदय होता है। जो अपान्तराल गतिमे प्राप्त होता है। इसके यश कीर्ति और अयश कीर्तिके विकल्पसे दो भग होते हैं। तदनन्तर शरीरस्थ जीवकी अपेक्षा इसमें औदारिक शरीर, औदारिक आगोपाग, हुण्डसस्थान, सेवार्तसहनन, उपघात और प्रत्येक इन छह प्रकृतियोंको मिला कर तिर्यंचगत्यानुपूर्वीके निकाल लेनेसे २६ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहा भी वे ही दो भग होते हैं। तदनन्तर शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीवकी अपेक्षा इसमे परा घात और अप्रशस्त विहायोगति इन दो प्रकृतियाके मिला देने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहा भी वे ही दो भग होते हैं। २९ प्रकृतिक उदयस्थान दो प्रकारसे होता है एक तो जिसने श्वासोच्छ्वास पर्याप्तिको प्राप्त कर लिया है उसके उद्योतके बिना केवल उच्छ्वास का उदय होनेसे होता है और दूसरे शरीर पर्याप्ति की प्राप्ति होनेके पश्चात् उद्योत का उदय हो जाने से होता है। सो इनमें से प्रत्येक स्थानमें पूर्वोक्त ही दो दो भग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार २९ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल चार भग हुए। इसी प्रकार ३० प्रकृतिक उदयस्थान भी दो प्रकार से प्राप्त होता है। एक तो जिसने भाषा पर्याप्तिको प्राप्त कर लिया है उसके उद्योतका उदय न होकर यदि केवल स्वरकी दो प्रकृतियोंमें से किसी एक का उदय होने से होता है और दूसरे जिसने श्वासोच्छ्वास पर्याप्तिको प्राप्त किया और अभी भाषा पर्याप्तिकी प्राप्ति नहीं हुई किन्तु इसी बीचमें उसके उद्योतका उदय हो गया तो भी ३० प्रकृतिक उदयस्थान बन जाता है। इनमें से पहले प्रकार के ३० प्रकृतिक उदयस्थानमें यश कीर्ति और अयश कीर्ति तथा

दोनो स्वरोके विकल्प से चार भग प्राप्त होते हैं। किन्तु दूसरे प्रकारके ३० प्रकृतिक उदयस्थानमें यश कीर्ति और अयश कीर्ति के विकल्पसे केवल दो ही भग होते है। इस प्रकार ३० प्रकृतिक उदयस्थानके कुल छह भग हुए। अब यदि जिसने भाषा पर्याप्ति को भी प्राप्त कर लिया है और जिसके उद्योत का भी उदय है उसके ३१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। सो यहा यश कीर्ति और अयश कीर्ति और दोनो स्वरोके विकल्पसे चार भग होते है। इस प्रकार पर्याप्तक दो इन्द्रियके सब उदयस्थानोके कुल भग २० होते है। तथा एकेन्द्रियोके समान इसके भी ९२, ८८, ८६, ८० और ७८ प्रकृतिक पाच सत्त्वस्थान होते हैं। पहले जो छह उदयस्थानो के २० भग बतला आये हैं उनमें से २१ प्रकृतिक उदयस्थानके दो भग और २६ प्रकृतिक उदयस्थानके दो भग इन चार भगोमे से प्रत्येक भगमें पाच पाच सत्त्वस्थान होते है, क्योंकि ७८ प्रकृतियोकी सत्तावाले जो अग्नि-कायिक और वायुकायिक जीव पर्याप्तक दो इन्द्रियोमे उत्पन्न होते है उनके कुछ काल तक ७८ प्रकृतियोकी सत्ता सम्भव है। तथा इस कालके भीतर द्वीन्द्रियो के क्रमश २१ और २६ प्रकृतिक उदयस्थान ही होते हैं, अत इन दो उदयस्थानोके चार भगोमे से प्रत्येक भगमे उक्त पाच सत्त्वस्थान कहे। तथा इन चार भगो के अतिरिक्त जो शेष १६ भग रह जाते हैं उनमें से किसी में भी ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान न होने से प्रत्येक में चार चार सत्त्वस्थान होते हैं क्योंकि अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोके सिवा शेष जीव शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त होनेके पश्चात् नियमसे मनुष्य-गति और मनुष्यगत्यानुपूर्वीका बन्ध करते हैं अत उनके ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान नहीं प्राप्त होता है। इसी प्रकार तेइन्द्रिय

और चारइन्द्रिय पर्याप्त जीवोंके बन्धादि स्थान और उनके भगों का कथन करना चाहिये।

अब गाथामें की गई सूचना के अनुसार असज्ञी पर्याप्त जीवस्थानमें बन्धादिस्थान और यथासम्भव उनके भग बतलाते हैं— असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव मनुष्यगति और तिर्यंचगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध तो करते ही हैं किन्तु ये नरकगति और देवगतिके योग्य प्रकृतियोंका भी बन्ध करते हैं अत इनके २३, २५, २६, २८, २९ और ३० प्रकृतिक छह बन्धस्थान और तदनुसार १३९२६ भग होते हैं। तथा उदयस्थानों की अपेक्षा विचार करनेपर यहाँ २१, २६, २८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक छह उदयस्थान होते हैं। इनमेंसे २१ प्रकृतिक उदयस्थानमें यहाँ तैजस, कार्मण, अगुरुलघु स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, वर्णादिचार, निर्माण तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, पचेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्तक, सुभग और दुर्भगमेंसे कोई एक, आदेय और अनादेयमेंसे कोई एक तथा यश कीर्ति और अयश कीर्तिमेंसे कोई एक इन २१ प्रकृतियोंका उदय होता है। यह उदयस्थान अपान्तरालगतिमें ही प्राप्त होता है। तथा इसमें सुभगादि तीन युगलोंमेंसे प्रत्येक प्रकृतिके विकल्पसे ८ भग प्राप्त होते हैं। तदनन्तर जब वह जीव शरीरको ग्रहण कर लेता है तब इसके औदारिक शरीर, औदारिक आगोपाग, छह सस्थानोंमेंसे कोई एक सस्थान, छह सहननोंमेंसे कोई एक सहनन, उपघात और प्रत्येक इन छह प्रकृतियोंका उदय और होने लगता है। किन्तु यहाँ आनुपूर्वीका उदय नहीं होता, अत उक्त २१ प्रकृतियोंमें उक्त छह प्रकृतियोंके मिलाने पर और तिर्यंचगत्यानुपूर्वीके निकाल लेने पर २६ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ छह सस्थान और छह सहननोंकी अपेक्षा भगोंके विकल्प और बढ गये हैं, अत पूर्वोक्त ८ भगोंको दो बार छहसे गुणित

कर देने पर ८×६×६=२८८ भग प्राप्त होते हैं। तदनन्तर इसके शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हो जाने पर पराघात तथा प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगतिमेंसे कोई एक इस प्रकार दो प्रकृतियोंका उदय और होन लगता है अत पूर्वोक्त २६ प्रकृतियोंमें इन दो प्रकृतियोंके मिला देने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ दोनों विहायोगतियोंकी अपेक्षा भगोंके विकल्प और बढ गये हैं अत पूर्वोक्त २८८ को २से गुणित देने पर ५७६ भग प्राप्त होते हैं। २९ प्रकृतिक उदयस्थान दो प्रकारसे प्राप्त होता है। एक तो जिसने श्वासोच्छ्वास पर्याप्तिको पूर्ण कर लिया है उसके उद्योत के विना केवल उच्छ्वासका उदय होनेसे प्राप्त होता है और दूसरे शरीर पर्याप्तिके पूर्ण होने पर उद्योतका उदय हो जानेसे होता है। सो इनमेंसे प्रत्येक स्थानमें पूर्वोक्त ५७६ भग होते हैं। इस प्रकार २९ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल ११५२ भग हुए। तथा ३० प्रकृतिक उदयस्थान भी दो प्रकारसे प्राप्त होता है। एक तो जिसने भाषा पर्याप्तिको पूर्ण कर लिया है उसके उद्योतके विना स्वरकी दो प्रकृतियोंमेंसे किसी एक प्रकृतिके उदयसे होता है है और दूसरे जिसने श्वासोच्छ्वास पर्याप्तिको पूर्ण कर लिया उसके उद्योतका उदय हो जाने से होता है। इनमेंसे पहले प्रकारके स्थानमें ११५२ भग होते हैं, क्योंकि पूर्वोक्त ५७६ भगोंका स्वरद्विकसे गुणित करने पर ११५२ ही प्राप्त होते हैं तथा दूसरे प्रकारके स्थानमें ५७६ ही भग होते हैं। इस प्रकार ३० प्रकृतिक उदयस्थानके कुल भङ्ग १७२८ हुए। इसके आगे जिसने भाषा पर्याप्तिको भी पूर्ण कर लिया है और जि के उद्योतका भी उदय है उसके ३१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ कुल भङ्ग ११५२ होते हैं। इस प्रकार असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तकके सब उदयस्थानोंके कुल भङ्ग ४९०४ होते हैं। ये जीव वैक्रिय-

लब्धिसे रहित होनेके कारण विक्रिया नहीं करते, अत इनके वैक्रियनिमित्तक उदयविकल्प नहीं प्राप्त होते। तथा इनके भी पहलेके समान ९२, ८८, ८६, ८० और ७८ प्रकृतिक पॉच सत्त्वस्थान होते हैं। सो २१ प्रकृतिक उदयस्थानके ८ भग और २६ प्रकृतिक उदयस्थानके २८८ भग इनमे प्रत्येक भगमें पूर्वोक्त पॉच पाँच सत्त्वस्थान होते हैं, क्यो कि ७८ प्रकृतियोंकी सत्तावाले जो अग्निकायिक और वायुकायिक जीव असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तकोमे उत्पन्न होते हैं उनके २१ और २६ प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका पाया जाना सम्भव है। किन्तु इनके अतिरिक्त शेप उदयस्थान और उनके सब भगोमें ७८ के बिना शेप चार चार सत्त्वस्थान ही होते है।

अब गाथामें की गई सूचनाके अनुसार सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवस्थानके बन्धादि स्थान और उनके भग बतलाना शेप है अत आगे इन्हींका विचार करते है—नाम कर्म के २३, २५, २६, २८, २९ ३०, ३१ और १ ये आठ बन्धस्थान बतलाये हैं सो सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक के ये आठो बन्धस्थान और उनके १३९४५ भग सम्भव है, क्योंकि इसके चारो गतिसम्बन्धी प्रकृतियोंका बन्ध सम्भव है इसलिये तो २३ आदि बन्धस्थान इसके कहे हैं। तीर्थकर नाम और आहारकचतुष्कका भी इसके बन्ध होता है, इसलिये ३१ प्रकृतिक बन्धस्थान इसके कहा और इसके दोनों श्रेणियाँ पाई जाती हैं, इसलिये १ प्रकृतिक बन्धस्थान भी इसके कहा। तथा उदयस्थानो की अपेक्षा विचार करने पर इसके २०, २४, ९ और ८ इन चार उदयस्थानोंको छोड़कर शेप सब उदयस्थान इसके पाये जाते हैं। यह सत्रत जीवस्थान १२ वें गुण स्थान तक ही पाया जाता है और २०, ९ और ८ ये तीन उदयस्थान केवली सम्बन्धी हैं अत इसके नहीं बताये।

तथा २४ प्रकृतिक उदयस्थान एकेन्द्रियोंके ही होता है अत वह भी इसके नहीं बतलाया। इस प्रकार इन चार उदयस्थानों को छोड कर शेष २१, २५, २६, २७, २८, २९, ३० और ३१ ये आठ उदयस्थान इसके होते हैं यह सिद्ध हुआ। अब इन उदयस्थानों के भगों का विचार करने पर इनके कुल भग ७६७१ प्राप्त होते हैं क्यों कि १२ उदयस्थानोंके कुल भग ७७९१ हैं सो इनमेंसे १२० भग कम हो जाते हैं, क्योंकि उन भगोंका सम्बन्ध सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तसे नहीं हैं। कुल सत्त्वस्थान १२ हैं पर यहाँ ९ और ८ ये दो सत्त्वस्थान सम्भव नहीं, क्योंकि वे केवली के ही पाये जाते हैं। हॉ इनके अतिरिक्त ९३, ९२, ८९, ८८, ८६, ८०, ७९, ७८, ७६ और ७५ ये दस सत्त्वस्थान यहाँ पाये जाते हैं सो २१ और २६ प्रकृतिक उदयस्थानोंके क्रमश ८ और २८८ भगोंमेंसे तो प्रत्येक भगमें ९२, ८८, ८६, ८० और ७८ ये पाँच पॉच सत्त्वस्थान ही पाये जाते है।

इस प्रकार चौदह जीवस्थानोंमे कहा कितने बन्धादिस्थान और उनके भग होते है इसका विचार किया। अब उनके परस्पर सवेधका विचार करते हैं—सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तक जीवोंके २३ प्रकृतिक बन्धस्थानमें २१ प्रकृतिक उदयके रहते हुए ९२, ८८, ८६, ८० और ७८ ये पाच सत्त्वस्थान होते हैं। तथा इसी प्रकार २४ प्रकृतिक उदयस्थानमें भी पाच सत्त्वस्थान होते है। इस प्रकार दोनों उदयस्थानोंके कुल सत्त्वस्थान १० हुए। तथा इसी प्रकार २५, २६, २९ और ३० प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले उक्त जीवोंके दो दो उदयस्थानोंकी अपेक्षा दस दस सत्त्वस्थान होते हैं। इस प्रकार कुल सत्त्वस्थान पचास हुए। इसी प्रकार बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तक आदि अन्य छह अपर्याप्तकोंके पचास पचास

सत्त्वस्थान जानने चाहिये। किन्तु सर्वत्र अपने अपने दो दो उदयस्थान कहने चाहिये।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तकके २३, २५, २६, २९ और ३० ये ही पाच बन्धस्थान होते हैं। और एक एक बन्धस्थानमें २१, २४, २५ और २६ ये चार उदयस्थान होते हैं। अत पाचको चारसे गुणा करने पर २० हुए। तथा प्रत्येक उदयस्थानमें पाच पाच सत्त्वस्थान होते हैं अत २० को ५ से गुणा करने पर १०० सत्त्व-स्थान हुए।

बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तकके भी पूर्वोक्त पाच बन्धस्थान होते हैं। और एक एक बन्धस्थानमें २१, २४, २५, २६ और २७ ये पाच पाच उदयस्थान होते हैं। अत ५ को ५ से गुणा करने पर २५ हुए। इनमेंसे अन्तिम पाच उदयस्थानोंमें ७८ के बिना चार चार सत्त्वस्थान होते हैं जिनके कुल भग २० हुए और शेष २० उदय स्थानो में पाच पाच सत्त्वस्थान होते हैं जिनके कुल भग सौ हुए। इस प्रकार यहा कुल भग १२० हुए।

दोइन्द्रिय पर्याप्तकके २३, २५, २६, २९ और ३० ये पाँच बन्धस्थान होते हैं और प्रत्येक बन्धस्थानमें २१, २६, २८, २९, ३० और ३१ ये छह उदयस्थान होते हैं। इनमेंसे २१ और २६ इन दो उदयस्थानोंमें पाच पाच सत्त्वस्थान होते हैं। तथा शेष चार उदयस्थानोंमें ७८ के बिना चार चार सत्त्वस्थान होते हैं। ये कुल मिला कर २६ सत्त्वस्थान हुए। इस प्रकार पाच बन्ध-

इसी प्रकार ३० प्रकृतिक बन्धस्थानमें भी २५ प्रकृतिक बन्धस्थानके समान ३० सत्त्वस्थानोंका ग्रहण करना चाहिये। किन्तु यहाँ भी कुछ विशेषता है जिसे आगे बतलाते हैं। बात यह है कि तीर्थंकर प्रकृतिके साथ मनुष्यगतिके योग्य ३० प्रकृतियोका बन्ध होते समय २१, २५, २७, २८, २९ और ३० ये छह उदयस्थान और प्रत्येक उदस्थानमे ९३ और ८९ ये दो सत्त्वस्थान होते हैं जिनका कुल जोड १२ होता है। इन्हें पूर्वोक्त ३० भङ्गोमें मिला देने पर ३० प्रकृतिक बन्धस्थानमें कुल सत्त्वस्थान ४२ होते हैं। तथा ३१ प्रकृतियोके बन्धमे तीर्थकर और आहारकद्विकका बन्ध अवश्य होता है अत यहाँ ९३ की ही सत्ता है। तथा एक प्रकृतिक बन्धके समय ८ सत्त्वस्थान होते हैं। सो इनमेसे ९३, ९२, ८९ और ८८ ये चार सत्त्वस्थान उपशमश्रेणीमें होते हैं और ८०, ७९, ७६ और ७५ ये चार सत्त्वस्थान क्षपकश्रेणीमें होते हैं। तथा बन्धके अभावमें सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तकके पूर्वोक्त आठ सत्त्वस्थान होते हैं। सो इनमेंसे प्रारम्भके ४ उपशान्तमोह गुणस्थानमें प्राप्त होते हैं और अन्तिम ४ क्षीणमोह गुणस्थानमे प्राप्त होते हैं। इस प्रकार सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तकके सब मिलाकर २०८ सत्त्वस्थान होते हैं।

अब यदि द्रव्यमनके सयोगसे केवलीको भी सञ्ज्ञी मान लेते हैं तो उनके भी २६ सत्त्वस्थान प्राप्त होते हैं। यथा—केवलीके २०, २१, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ९ और ८ ये दस उदयस्थान होते हैं। सो इनमेंसे २० प्रकृतिक उदयस्थानमें ७९ और ७५ ये दो सत्त्वस्थान होते हैं। तथा २६ और २८ प्रकृतिक उदयस्थानोंमें

भी ये दो सत्त्वस्थान जानने चाहिये। २१ प्रकृतिक उदयस्थानमें ८० और ७६ ये दो सत्त्वस्थान होते हैं। तथा यही दो २७ प्रकृतिक सत्त्वस्थानमें भी होते हैं। २६ प्रकृतिक उदयस्थानमें ८०, ७६, ७६ और ७५ ये चार सत्त्वस्थान होते हैं, क्योंकि २६ प्रकृतिक उदयस्थान तीर्थंकर और सामान्य केवली दोनोंके प्राप्त होता है। अब यदि तीर्थंकरके २६ प्रकृतिक उदयस्थान होगा तो ८० और ७६ ये दो सत्त्वस्थान होंगे और यदि सामान्य केवलीके २६ प्रकृतिक उदयस्थान होगा तो ७६ और ७५ ये दो सत्त्वस्थान प्राप्त होंगे। इसी प्रकार ३० प्रकृतिक उदयस्थानमें भी चार सत्त्वस्थान प्राप्त होते हैं। ३१ प्रकृतिक उदयस्थानमें ८० और ७६ ये दो सत्त्वस्थान होते हैं, क्योंकि यह उदयस्थान तीर्थंकर केवलीके ही होता है। ६ प्रकृतिक उदयस्थानमें ८०, ७६ और ६ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। इनमेंसे प्रारम्भके दो सत्त्वस्थान तीर्थंकरके अयोगिकेवली गुणस्थानके उपान्त्य समय तक होता है और अन्तिम सत्त्वस्थान अयोगिकेवली गुणस्थानके अन्तके समयमें होता है। तथा ८ प्रकृतिक उदयस्थानमें ७६, ७५ और ८ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। इनमेंसे प्रारम्भके दो सत्त्वस्थान सामान्य केवलीके अयोगिकेवली गुणस्थानके उपान्त्य समय तक प्राप्त होते हैं और अन्तिम सत्त्वस्थान अन्तके समयमें प्राप्त होता है। इस प्रकार ये २६ सत्त्वस्थान हुए। अब यदि इन्हें पूर्वोक्त २०८ सत्त्वस्थानोंमें सम्मिलित कर दिया जाय तो संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकके कुल २३४ सत्त्वस्थान प्राप्त होते हैं।

इसी प्रकार ३० प्रकृतिक बन्धस्थानमें भी २५ प्रकृतिक बन्धस्थानके समान ३० सत्त्वस्थानोंका ग्रहण करना चाहिये। किन्तु यहाँ भी कुछ विशेषता है जिसे आगे बतलाते हैं। बात यह है कि तीर्थंकर प्रकृतिके साथ मनुष्यगतिके योग्य ३० प्रकृतियोंका बन्ध होते समय २१, २५, २७, २८, २९ और ३० ये छह उदयस्थान और प्रत्येक उदयस्थानमें ९३ और ८९ ये दो सत्त्वस्थान होते हैं जिनका कुल जोड १२ होता है। इन्हें पूर्वोक्त ३० भङ्गोंमें मिला देने पर ३० प्रकृतिक बन्धस्थानमें कुल सत्त्वस्थान ४२ होते हैं। तथा ३१ प्रकृतियोंके बन्धमें तीर्थंकर और आहारकद्विकका बन्ध अवश्य होता है अत यहाँ ९३ की ही सत्ता है। तथा एक प्रकृतिक बन्धके समय ८ सत्त्वस्थान होते हैं। सो इनमेंसे ९३, ९२, ८९ और ८८ ये चार सत्त्वस्थान उपशमश्रेणीमें होते हैं और ८०, ७९, ७६ और ७५ ये चार सत्त्वस्थान क्षपकश्रेणीमें होते हैं। तथा बन्धके अभावमें संज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तकके पूर्वोक्त आठ सत्त्वस्थान होते हैं। सो इनमेंसे प्रारम्भके ४ उपशान्तमोह गुणस्थानमें प्राप्त होते हैं और अन्तिम ४ क्षीणमोह गुणस्थानमें प्राप्त होते हैं। इस प्रकार संज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तकके सब मिलाकर २०८ सत्त्वस्थान होते हैं।

अब यदि द्रव्यमनके संयोगसे केवलीको भी संज्ञी मान लेते है तो उनके भी २६ सत्त्वस्थान प्राप्त होते हैं। यथा—केवलीके २०, २१, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ९ और ८ ये दस उदयस्थान होते हैं। सो इनमेंसे २० प्रकृतिक उदयस्थानमें ७९ और ७५ ये दो सत्त्वस्थान होते हैं। तथा २६ और २८ प्रकृतिक उदयस्थानोंमें

भी ये दो सत्त्वस्थान जानने चाहिये। २१ प्रकृतिक उदयस्थानमें ८० और ७६ ये दो सत्त्वस्थान होते हैं। तथा यही दो २७ प्रकृतिक सत्त्वस्थानमें भी होते हैं। २६ प्रकृतिक उदयस्थानमें ८०, ७६, ७६ और ७५ ये चार सत्त्वस्थान होते हैं, क्योंकि २६ प्रकृतिक उदयस्थान तीर्थंकर और सामान्य केवली दोनोंके प्राप्त होता है। अब यदि तीर्थंकरके २६ प्रकृतिक उदयस्थान होगा तो ८० और ७६ ये दो सत्त्वस्थान होंगे और यदि सामान्य केवलीके २६ प्रकृतिक उदयस्थान होगा तो ७६ और ७५ ये दो सत्त्वस्थान प्राप्त होंगे। इसी प्रकार ३० प्रकृतिक उदयस्थानमें भी चार सत्त्वस्थान प्राप्त होते हैं। ३१ प्रकृतिक उदयस्थानमें ८० और ७६ ये दो सत्त्वस्थान होते हैं, क्योंकि यह उदयस्थान तीर्थंकर केवलीके ही होता है। ६ प्रकृतिक उदयस्थानमें ८०, ७६ और ६ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। इनमेंसे प्रारम्भके दो सत्त्वस्थान तीर्थंकरके अयोगिकेवली गुणस्थानके उपान्त्य समय तक होता है और अन्तिम सत्त्वस्थान अयोगिकेवली गुणस्थानके अन्तके समयमें होता है। तथा ८ प्रकृतिक उदयस्थानमें ७६, ७५ और ८ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। इनमेंसे प्रारम्भके दो सत्त्वस्थान सामान्य केवलीके अयोगिकेवली गुणस्थानके उपान्त्य समय तक प्राप्त होते हैं और अन्तिम सत्त्वस्थान अन्तके समयमें प्राप्त होता है। इस प्रकार ये २६ सत्त्वस्थान हुए। अब यदि इन्हें पूर्वोक्त २०८ सत्त्वस्थानोंमें सम्मिलित कर दिया जाय तो संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तकके कुल २३४ सत्त्वस्थान प्राप्त होते हैं।

४ जीवस्थानोंमें बन्धस्थान और उनके भंगों का

ज्ञापक कोष्ठक—

[२६]

सू० ए० अ०		सू० ए० प०		बा० ए० अ०		बा० ए० प०	
२३	४	२३	४	२३	४	२३	४
२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५
२६	१६	२६	१६	२६	१६	२६	१६
२९	९२४०	२९	९२४०	२९	९२४०	२९	९२४०
३०	४६३२	३०	४६३२	३०	४६३२	३०	४६३२
५	१३९१६	५	१३९१७	५	१३९१७	५	१३९१७

बेइन्द्रिय अ०		बेइन्द्रिय प०		तेइन्द्रिय अ०		तेइन्द्रिय प०	
२३	४	२३	४	२३	४	२३	४
२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५
२६	१६	२६	१६	२६	२६	२६	१६
२९	९२४०	२९	९२४०	२९	९२४०	२९	९२४०
३०	४६३२	३०	४६३२	३०	४६३२	३०	४६३२
५	१३९१७	५	१३९१७	५	१३९१७	५	१३९१७

चतुरिन्द्रिय अ०		चतुरिन्द्रिय प०		अ० प० अ०		अ० प० प०	
२३	४	२३	४	२३	४	२३	४
२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५
२६	१६	२६	१६	२६	१६	२६	१६
२९	९२४०	२९	९२४०	२९	९२४०	२८	९
३०	४६३२	३०	४६३२	३०	४६३२	२९	९२४०
						३०	४६३२
५	१३९१७	५	१३९१७	५	१३९१७	६	१३९२६

स० प० अ०		स० पं० प०	
२३	४	२३	२
२५	२५	२५	२५
२६	१६	२६	१६
२९	९२४०	२८	९
३०	४६३२	२९	९२४८
		३०	४६४१
		३१	१
		१	१
५	१३९१७	८	१३९४५

मिच्छासाणे बिइए नव चउ पण नव य संतंसा ॥३९॥
मिस्साइ नियट्टीओ छचउ पण नव य संतकम्मंसा ।
चउबंध तिगे चउ पण नवंस दुसु जुयल छस्संता ॥४०॥
उवसंते चउ पण नव खीणे चउरुदय छच्च चउ संतं ।

अर्थ—दर्शनावरण कर्मकी मिथ्यात्व और सास्वादनमें नौ प्रकृतियोंका बन्ध, चार या पाचका उदय और नौ की सत्ता होती है। मिश्र से लेकर अपूर्वकरणके पहले सख्यातवें भागतक छह का बन्ध, चार या पाचका उदय और नौकी सत्ता होती है। अपूर्वकरण आदि तीन गुणस्थानोंमें चारका बन्ध, चार या पाच का उदय और नौकी सत्ता होती है। क्षपकके ९ औ १० इन दो गुणस्थानोंमें चारका बन्ध, चारका उदय और छहकी सत्ता होती है। उपशान्त मोह गुणस्थानमें चार या पाचका उदय और नौकी सत्ता होती है। तथा क्षीणमोह गुणस्थानमें चारका उदय तथा छह और चारकी सत्ता होती है ॥

(१) 'मिच्छा सासयणेसुं नवबधुवलक्खिया उ दो भंगा। मीसाओ य नियट्टी आ छब्बधेण दो दो उ ॥ चउबधे नव संते दोण्णि अपुव्वाउ सुहुमरागो जा। अबंधे णव संते उवसंते हुति दो भंगा ॥ चउबधे छस्संते बायरसुहुमाणमेगुक्खवयाण। छसु चउसु य संतेसु दोण्णि अबंधमि खीणस्स ॥'—पञ्च० सप्त० गा० १०२–१०४। 'णव सासणो त्ति बधो छच्चेव अपुव्वपढमभागो त्ति। चत्तारि होंति तत्तो सुहुमकसायस्स चरिमो त्ति। खीणो त्ति चारि उदया पचसु णिद्दासु दोसु णिद्दासु। एक्के उदयं पत्ते खीणदुचरिमो त्ति पचुदया ॥ मिच्छादुवसंतो त्ति य अणियट्टी खवगपढमभागो त्ति। णव सत्ता खीणस्स दुचरिमो त्ति य छच्चदूचरिमे ॥ गो० कर्म० गा० ४६०–४६१ ॥"

विशेषार्थ—दर्शनावरण कर्मकी उत्तर प्रकृतियां नौ हैं। इनमेंसे स्त्यानर्द्धित्रिकका बन्ध सास्वादन गुणस्थान तक ही होता है। तथा चक्षुदर्शनावरण आदि चारका उदय अपनी उदयव्युच्छित्ति होने तक निरन्तर बना रहता है किन्तु निद्रादि पांचका उदय कदाचित् होता है और कदाचित् नहीं होता। उसमें भी एक कालमें एकका ही उदय होता है युगपत् दो या दो से अधिकका नहीं। अत इस हिसाबसे मिथ्यात्व और सास्वादन इन दो गुणस्थानोंमें ९ प्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व तथा ९ प्रकृतिक बन्ध, पाच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व ये दो भंग प्राप्त होते हैं। इन दो गुणस्थानों से आगे मिश्रसे लेकर अपूर्वकरणके प्रथम भाग तक उदय और सत्तामें तो कोई फरक नहीं पड़ता किन्तु बन्धमें छह प्रकृतिया ही रह जाती हैं। अत इन गुणस्थानोंमें छहप्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व तथा छह प्रकृतिक बन्ध, पाच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व ये दो भंग प्राप्त होते हैं। यद्यपि स्त्यानर्द्धित्रिकका उदय प्रमत्तसंयत गुणस्थानके अन्तिम समयतक ही हो सकता है फिर भी इससे पाच प्रकृतिक उदयस्थान के कथनमें कोई अन्तर नहीं आता। केवल विकल्प रूप प्रकृतियोंमें ही अन्तर पड़ता है। छठे गुणस्थान तक निद्रादि पाचों प्रकृतिया विकल्पसे प्राप्त होती हैं और आगे निद्रा और प्रचला ये दो प्रकृतिया ही विकल्पसे प्राप्त होती हैं। अपूर्वकरणके प्रथम भागमें निद्रा और प्रचलाकी बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है, अत आगे सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान तक बन्धमें चार ही प्रकृतिया रह जाती हैं किन्तु उदय और सत्ता पूर्ववत् चालू रहती है। अत अपूर्वकरणके दूसरे भागसे लेकर सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान तक तीन गुणस्थानोंमें चार प्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और नौ

प्रकृतिक सत्त्व तथा चार प्रकृतिक बन्ध पाच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व प्राप्त होते हैं। किन्तु ऐसा नियम है कि निद्रा या प्रचलाका उदय उपशमश्रेणीमें ही होता है क्षपकश्रेणीमें नहीं, अत एक तो क्षपकश्रेणीमें पाच प्रकृतिक उदयरूप भग नहीं प्राप्त होता और दूसरे अनिवृत्ति करणके कुछ भागों के व्यतीत होने पर स्त्यानर्द्धित्रिकका सत्त्वनाश हो कर छहकी ही सत्ता रहती है, अत अनिवृत्तिकरणके अन्तिम सख्यात भाग और सूक्ष्मसम्पराय इन दो क्षपक गुणस्थानोंमें चार प्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्त्व यह एक भग प्राप्त होता है। चाहे उपशम श्रेणीवाला हो या क्षपकश्रेणीवाला सभीके दसवें गुणस्थानके अन्तमें दर्शनावरणका बन्ध विच्छेद हो जाता है इसलिये आगेके गुणस्थानोंमे बन्धकी अपेक्षा दर्शनावरण कर्मके भग नहीं प्राप्त होते किन्तु उपशान्तमोह यह गुणस्थान उपशमश्रेणी का है अत इसमें उदय और सत्ता उपशमश्रेणीके दसवें गुणस्थानके समान बनी रहती है और क्षीणमोह यह गुणस्थान क्षपकश्रेणीका है इसलिये इसमें उदय और सत्ता क्षपकश्रेणीके दसवें गुणस्थानके समान बनी रहती है। अत उपशान्त मोह गुणस्थानमें चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व तथा पाच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व ये दो भग प्राप्त होते हैं। और क्षीणमोह गुणस्थानमें चार प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्त्व यह भग प्राप्त होता है। किन्तु जब क्षीणमोह गुणस्थानमें निद्रा और प्रचलाका उदय ही नहीं होता है तब इनका क्षीणमोह गुणस्थानके अन्तिम समयमें सत्त्व नहीं प्राप्त हो सकता, क्यो कि ऐसा नियम है कि जो अनुदय प्रकृतिया होती हैं उनका प्रत्येक निषेक स्तिवुकसक्रमणके द्वारा सजातीय उदयवती प्रकृतिरूप परिणमता जाता है। इस हिसाबसे निद्रा और प्रचलाका अन्तिम निषेक बारहवें गुणस्थानके

उपान्त्य समयमें ही चक्षुदर्शनावरण आदि रूप परिणम जायगा और इस प्रकार क्षीणमोह गुणस्थानके अन्तिम समयमें निद्रा और प्रचलाका सत्त्व न रह कर केवल चारकी ही सत्ता रहेगी। अतः ऊपर जो क्षीणमोह गुणस्थानमें चार प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्त्व यह भंग बतलाया है वह क्षीणमोहके उपान्त्य समय तक ही प्राप्त होता है तथा अन्तिम समयमें चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग और प्राप्त होता है। इस प्रकार क्षीणमोहमें भी दो भंग होते हैं यह सिद्ध हुआ।

अब गुणस्थानोंमें वेदनीय आदि कर्मोंके भंग बतलाते हैं—

वेयणियाउयगोए विभज्ज मोहं परं वोच्छं ॥ ४१ ॥

अर्थ—गुणस्थानोंमें वेदनीय आयु और गोत्र कर्मके भंगोंका विभाग करके तदनन्तर मोहनीयका कथन करेंगे।

विशेषार्थ—यहाँ ग्रन्थकारने वेदनीय, आयु और गोत्र कर्मोंके भंगोंके विभाग करनेकी सूचना की है किन्तु किस गुणस्थानमें किस कर्मके कितने भंग होते हैं यह नहीं बतलाया है, जिनका बतलाया जाना जरूरी है।

यद्यपि मलयगिरि आचार्यने अपनी टीकामें इन कर्मोंके भंगोंका विवेचन किया है पर उनका वह कथन अन्तर्भाष्य सम्बन्धी गाथाओं पर आधारित है। उन्होंने स्वयं अन्तर्भाष्यकी गाथाओंको उद्धृत करके तदनुसार गुणस्थानोंमें वेदनीय गोत्र और आयु कर्मके भंग बतलाये हैं। यद्यपि सूत्रकारने वेदनीय, आयु और गोत्र इस क्रमसे विभाग करनेका निर्देश किया है परन्तु अन्तर्भाष्यगाथामें पहले वेदनीय और गोत्रके भंग बतलाये हैं अतः यहाँ भी इसी क्रमसे खुलासा किया जाता है। [illegible] लिखा है—

प्रकृतिक सत्त्व तथा चार प्रकृतिक बन्ध पाच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व प्राप्त होते है। किन्तु ऐसा नियम है कि निद्रा या प्रचलाका उदय उपशमश्रेणीमें ही होता है, क्षपकश्रेणीमे नहीं, अत एक तो क्षपकश्रेणीमे पाच प्रकृतिक उदयरूप भग नहीं प्राप्त होता और दूसरे अनिवृत्ति करणके कुछ भागों के व्यतीत होने पर स्त्यानर्द्धित्रिकका सत्त्वनाश हो कर छहकी ही सत्ता रहती है, अत अनिवृत्तिकरणके अन्तिम सख्यात भाग और सूक्ष्मसम्पराय इन दो क्षपक गुणस्थानोंमें चार प्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्त्व यह एक भग प्राप्त होता है। चाहे उपशम श्रेणीवाला हो या क्षपकश्रेणीवाला सभीके दसवें गुणस्थानके अन्तमें दर्शनावरणका बन्ध विच्छेद हो जाता है इसलिये आगेके गुणस्थानोंमें बन्धकी अपेक्षा दर्शनावरण कर्मके भग नहीं प्राप्त होते किन्तु उपशान्तमोह यह गुणस्थान उपशमश्रेणी का है अत इसमें उदय और सत्ता उपशमश्रेणीके दसवें गुणस्थानके समान बनी रहती है और क्षीणमोह यह गुणस्थान क्षपकश्रेणीका है इसलिये इसमें उदय और सत्ता क्षपकश्रेणीके दसवें गुणस्थानके समान बनी रहती है। अत उपशान्त मोह गुणस्थानमे चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व तथा पाच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व ये दो भग प्राप्त होते हैं। और क्षीणमोह गुणस्थानमे चार प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्त्व यह भग प्राप्त होता है। किन्तु जब क्षीणमोह गुणस्थानमें निद्रा और प्रचलाका उदय ही नहीं होता है तब इनका क्षीणमोह गुणस्थानके अन्तिम समयम सत्त्व नहीं प्राप्त हो सकता, क्यों कि ऐसा नियम है कि जो अनुदय प्रकृतिया होती हैं उनका प्रत्येक निषेक स्तिबुकसक्रमणके द्वारा सजातीय उदयवती प्रकृतिरूप परिणमता जाता है। इस हिसाबसे निद्रा और प्रचलाका अन्तिम निषेक बारहवें गुणस्थानके

उपान्त्य समयमें ही चक्षुदर्शनावरण आदि रूपे परणम जायगा और इस प्रकार क्षीणमोह गुणस्थानके अन्तिम समयमें निद्रा और प्रचलाका सत्त्व न रह कर केवल चारकी ही सत्ता रहेगी। अत ऊपर जो क्षीणमोह गुणस्थानमें चार प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्त्व यह भग वतलाया है वह क्षीणमोहके उपान्त्य समय तक ही प्राप्त होता है तथा अन्तिम समयमे चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्त्व यह एक भग और प्राप्त होता है। इस प्रकार क्षीणमोहमे भी दो भग होते हैं यह सिद्ध हुआ।

अब गुणस्थानोंमें वेदनीय आदि कर्मो के भग बतलाते हैं—

वेयणियाउयगोए विभज्ज मोहं परं वोच्छं ॥ ४१ ॥

अर्थ—गुनस्थानोंमें वेदनीय आयु और गोत्र कर्मके भगोंका विभाग करके तदनन्तर मोहनीयका कथन करेंगे ॥

विशेषार्थ—यहा ग्रन्थकारने वेदनीय, आयु और गोत्र कर्मके भगोंके विभाग करने मात्रकी सूचना की है किन्तु किस गुणस्थानमें किस कर्मके कितने भंग होते हैं यह नहीं वतलाया है, जिनका बतलाया जाना जरूरी है।

यद्यपि मलयगिरि आचार्यने अपनी टीकामे इन कर्मोंके भगोंका विवेचन किया है पर उनका यह कथन अन्तर्भाष्य सम्वन्धी गाथाओं पर अवलम्बित है। उन्होंने स्वय अन्तर्भाष्यकी गाथाओंको उद्धृत करके तदनुसार गुणस्थानोंमें वेदनीय, गोत्र और आयु कर्मके भग बतलाये हैं। यद्यपि सूत्रकारने वेदनीय, आयु और गोत्र इस क्रमसे विभाग करनेका निर्देश किया है किन्तु अन्तर्भाष्यगाथामें पहले वेदनीय और गोत्रके भग बतलाये हैं। अत यहा भी इसी क्रमसे खुलासा किया जाता है। अन्तर्भाष्यमे लिखा है—

'चउ छस्सु दोण्णि सत्तसु एगे चउ गुणिसु वेयणियभंगा ।
गोए पण चउ दो तिसु एगऽट्ठसु दोण्णि एक्कम्मि ॥'

अर्थात्-'वेदनीय कर्मके छह गुणस्थानोंमें चार, सातमें दो और एकमें चार भंग होते हैं। तथा गोत्र कर्मके मिथ्यात्वमें पांच, सास्वादनमें चार, मिश्र आदि तीनमें दो प्रमत्तादि आठमें एक और अयोगिकेवली में एक भंग होता है ॥'

बात यह है कि बन्ध और उदय की अपेक्षा साता और असाता ये प्रतिपक्षभूत प्रकृतियां हैं। इनमें से एक कालमें किसी एक का बन्ध और किसी एकका ही उदय होता है किन्तु दोनोंकी एक साथ सत्ताके पाये जानेमें कोई विरोध नहीं है। दूसरे असाता का बन्ध प्रारम्भके छह गुणस्थानोंमें ही होता है आगे नहीं, अत प्रारम्भके छह गुणस्थानोंमें निम्न चार भंग प्राप्त होते हैं। यथा—(१) असाताका बन्ध, असाताका उदय और साता असाताका सत्त्व, (२) असाताका बन्ध, साताका उदय और असाता का सत्त्व (३) साताका बन्ध, असाताका उदय और साता असाताका सत्त्व तथा (४) साताका बन्ध, साताका उदय और साता असाताका सत्त्व। सातवें गुणस्थानसे तेरहवें तक बन्ध केवल साताका ही होता है किन्तु उदय और सत्त्व दोनोंका पाया जाता है, अत इन गुणस्थानों में निम्न दो भंग प्राप्त होते हैं। यथा—(१) साता का बन्ध, साताका उदय और साता असाताका सत्त्व (२) साता का बन्ध असाताका उदय और साता असाताका सत्त्व। अयोगि केवली गुणस्थानमें साताका भी बन्ध नहीं होता अतएव वहा बन्धकी अपेक्षा कोई भंग न प्राप्त होकर उदय और सत्त्वकी अपेक्षा ही भंग प्राप्त होते हैं। फिर भी जिसके इस गुणस्थानमें असाताका उदय है उसके उपान्त्य समयमें साताका सत्त्व नाश हो जाता है और जिसके साताका उदय है उसके उपान्त्य समयमें

असाताका सत्त्वनाश हो जाता है अत इस गुणस्थानमें उपान्त्य समय तक (१) साताका उदय और साता असाताका सत्त्व तथा (२) असाताका उदय और साता असाताका सत्त्व ये दो भग प्राप्त होते हैं और अन्तिम समयमें (३) साता का उदय और साताका सत्त्व तथा (४) असाताका उदय और असाताका सत्त्व ये दो भग प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार गुणस्थानोंमे वेदनीयके भगों का कथन किया। अब गोत्र कर्मके भगोंका विचार करते हैं—गोत्र कर्मके विषयमें एक विशेषता तो यह है कि साता और असाताके समान बन्ध और उदयकी अपेक्षा उच्च और नीच गोत्र भी प्रतिपक्षभूत प्रकृतियां हैं। एक कालमे इनमें से किसी एक का ही बन्ध और एकका ही उदय होता है किन्तु सत्त्व दोनोंका एक साथ पाया जाता है। तथा दूसरी विशेषता यह है कि अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंके उच्चगोत्र की उद्वलना होने पर बन्ध, उदय और सत्त्व एक नीच गोत्रका ही होता है और जिनमें ऐसे अग्निकायिक और वायुकायिक जीव उत्पन्न होते हैं उनके भी कुछ काल तक बन्ध, उदय और सत्त्व नीच गोत्र का ही होता है। अब यदि इन दोनों विशेषताओं को ध्यानमें रख कर मिथ्यात्व गुणस्थानमें भगोंका विचार करते हैं तो निम्न पाच भग प्राप्त होते हैं। यथा—(१) नीचका बन्ध, नीचका उदय तथा नीच और उच्च का सत्त्व (२) नीचका बन्ध, उच्च का उदय तथा नीच और उच्चका सत्त्व (३) उच्चका बन्ध, उच्चका उदय तथा उच्च और नीचका सत्त्व। (४) उच्चका बन्ध, नीचका उदय, तथा उच्च और नीचका सत्त्व। तथा (५) नीचका बन्ध, नीचका उदय और नीचका सत्त्व। नीच गोत्रका बन्ध सास्वादन गुणस्थान तक ही होता है, क्योंकि मिश्र आदि गुणस्थानोंमे एक उच्च गोत्र का ही

१४ गुणस्थानोंमें छह कर्मोंके भंगोंका ज्ञापक कोष्ठक—

[२९]

गुणस्थान	ज्ञानावरण	दर्शनाव०	वेदनीय	आयु	गोत्र	अन्तराय
मिथ्या०	१	२	४	२८	५	१
सास्वा०	१	२	४	२६	४	१
मिश्र०	१	२	४	१६	२	१
अविरत०	१	२	४	२०	२	१
देशवि०	१	२	४	१२	२	१
प्रमत्तस०	१	२	४	६	१	१
अप्रमत्त०	१	२	२	६	१	१
अपूर्वक०	१	४	२	२	१	१
अनिवृ०	१	३	२	२	१	१
सूक्ष्म०	१	३	२	२	१	१
उपशान्त०	१	२	२	२	१	१
क्षीणमो०	१	२	२	१	१	१
सयोगिके०	०	०	२	१	१	०
अयोगिके०	०	०	४	१	२	०

अब पूर्व सूचनानुसार गुणस्थानोंमें मोहनीयके भगोंका विचार करते हैं उसमें भी पहले बन्धस्थानोंके भगोंको बतलाते हैं—

गुणठाणगेसु अट्ठसु एक्केक्कं मोहबंधठाणेसु।
पंचानियट्टिठाणे बंधोवरमो परं तत्तो ॥ ४२ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वादि आठ गुणस्थानोंमें मोहनीयके बन्धस्थानोंमेंसे एक एक बन्धस्थान होता है। तथा अनिवृत्तिकरणमें पाच बन्धस्थान होते हैं। तदनन्तर अगले गुणस्थानोंमें बन्धका अभाव है।

विशेषार्थ—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें एक २२ प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। सास्वादनमें एक २१ प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि और अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें एक १७ प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। देशविरतमें एक १३ प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। प्रमतसयत, अप्रमत्तसयत और अपूर्वकरणमें एक ९ प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। यहाँ इतना विशेष है कि अरति और शोक की बन्धव्युच्छित्ति प्रमत्तसयत गुणस्थानमें ही हो जाती है, अत अप्रमत्तसयत और अपूर्वकरणके नौ प्रकृतिक बन्धस्थानमें एक एक ही भग प्राप्त होता है। पहले जो ९ प्रकृतिक बन्धस्थानमें २ भग कह आये हैं वे प्रमत्तसयत गुणस्थानकी अपेक्षा कहे हैं। अनिवृत्तिकरणमें ५, ४, ३, २ और १ ये पाच बन्धस्थान होते हैं। तथा आगेके गुणस्थानोंमें मोहनीयका बन्ध नहीं होता, अत उसका निषेध किया है।

अब गुणस्थानोंमें मोहनीयके उदयस्थानोंका कथन करते हैं—

सत्ताइ दस उ मिच्छे सासायण मीसए नवुक्कोसा।
छाई नव उ अविरए देसे पचाइ अट्ठेव ॥ ४३ ॥

विरए खओवसमिए चउराई सत्त छच्चऽपुव्वम्मि ।
अनियट्टिबायरे पुण इक्को व दुवे व उदयंसा ॥ ४४ ॥
एगं सुहुमसरागो वेएइ अवेयगा भवे सेसा ।
भंगाणं च पमाणं पुव्वुद्दिट्ठेण नायव्वं ॥ ४५ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वमें ७ से लेकर १० तक ४, सास्वादन और मिश्रमें ७से लेकर ९ तक ३, अविरत सम्यक्त्वमे ६से लेकर ९ तक ४, देशविरतमें ५ से लेकर ८ तक ४, प्रमत्त और अप्रमत्तविरतमें ४ से लेकर ७ तक ४, अपूर्वकरणमें ४ से लेकर ६ तक ३ और अनिवृत्तिबादर सम्परायमे दो प्रकृतिक और एक प्रकृतिक इस प्रकार दो उदयस्थान होते हैं । तथा सूक्ष्मसम्पराय जीव एक प्रकृतिका वेदन करता है और शेष गुणस्थानवाले जीव अवेदक होते हैं । इनके भगों का प्रमाण पहले कहे अनुसार जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—मोहनीयकी कुल उत्तरप्रकृतिया २८ हैं । उनमेंसे एक साथ अधिक से अधिक १० प्रकृतियोंका और कमसे कम १ प्रकृति का एक कालमें उदय होता है । इस प्रकार १ से लेकर १० तक १० उदयस्थान प्राप्त होते हैं किन्तु केवल ३ प्रकृतियों का

(१) 'मिच्छे सगाइचउरो सासणमीसे सगाइ तिण्णुदया । छप्पंचचउरपुव्वा तिअ चउरो अविरयाईणं ॥' पञ्च० सप्त० गा० २६ 'दसादि-दसयकस्सं मिच्छे सण (सासण) मिस्सए णवुक्कस्स । छादी य णवुक्कस्स अविरदसम्मत्तमादिस्स ॥ पचादि अट्ठणिहणा विदाविरदे उदीरणट्ठाणा । एगादी तिगरहिदा सत्तुक्कस्सा य विरदस्स ॥' धव० उद० आ० प० १०२२ । दसणवणवादि चउतियतिट्ठाण णवट्ठसगसगादि चउ । ठाणा छादि तिय च य चदुवीसगदा अपुव्वो त्ति ॥४८०॥ उदयट्ठाणं दोण्हं पणबंधे होदि दोण्हमेकस्स। चदुविहबंधट्ठाणे सेसेसेयं हवे ठाणं ॥४८१॥' गो० कर्म०

उदय कहीं प्राप्त नहीं होता अत ३ प्रकृतिक उदयस्थान नहीं बतलाया और इसलिए मोहनीयके कुल उदयस्थान ६ बतलाये हैं। ४४ नम्बरकी गाथामें 'विरए खओवसमिए' पद आया है, जिसका अर्थ 'क्षायोपशमिक विरत' होता है। सो इससे यहाँ प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयत लेना चाहिये, क्यो कि क्षायोपशमिक विरत यह सज्ञा इन दो गुणस्थानवाले जीवोंकी ही है। इसके आगे जीवकी या तो उपशामक सज्ञा हो जाती है या क्षपक। जो उपशमक श्रेणि पर चढता है वह उपशमक और जो क्षपक श्रेणिपर चढता है वह क्षपक कहलाता है। इनमें से किस गुणस्थानमें कितनी प्रकृतियोके कितने उदयस्थान होते हैं इसका स्पष्ट निर्देश गाथामें किया ही है। हम भी इन उदयस्थानो की सामान्य विवेचना करते समय इनका विशेष खुलासा कर आये हैं इसलिये यहाँ इस विषय मे अधिक न लिखकर केवल गाथाओं के अर्थका स्पष्टीकरण मात्र किये देते हैं—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमे ७, ८, ९, और १० प्रकृतिक चार उदयस्थान होते हैं। यहा इनके भगोकी ८ चौबीसी प्राप्त होती हैं। सास्वादन और मिश्र में ७, ८, और ९ प्रकृतिक तीन तीन उदयस्थान होते हैं। यहाँ इनके भगोकी क्रमसे ४ और ४ चौबीसी प्राप्त होती हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमे ६, ७, ८ और ९ प्रकृतिक चार उदयस्थान होते हैं। यहाँ इनके भगोकी ८ चौबीसी प्राप्त होती हैं। देशविरत गुणस्थानमे ५, ६, ७ और ८ प्रकृतिक चार उदयस्थान होते हैं। यहा इनके भगोकी ८ चौबीसी प्राप्त होती हैं। प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयत गुणस्थानमे ४,

५, ६, और ७ प्रकृतिक चार उदयस्थान होते हैं। यहा इनके भगोकी क्रमश आठ चौबीसी प्राप्त होती हैं। अपूर्वकरण गुणस्थानमे ४, ५, और ६ प्रकृतिक तीन उदयस्थान होते हैं। यहाँ इनके भगोकी चार चौबीसी प्राप्त होती हैं। अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें दो प्रकृतिक और एक प्रकृतिक इस प्रकार दो उदयस्थान होते हैं। यहाँ दो प्रकृतिक उदयस्थानमे क्रोधादि चारमेंसे कोई एक और तीन वेदोंमें से कोई एक इस प्रकार दो प्रकृतियोंका उदय होता है। सो यहाँ तीन वेदोंसे सज्वलन क्रोधादि चारको गुणित करने पर १२ भग प्राप्त होते हैं। तदनन्तर वेदकी उदयव्युच्छित्ति हो जाने पर एक प्रकृतिक उदयस्थान होता है। जो चार, तीन, दो और एक प्रकृतिक बन्धके समय प्राप्त होता है। यद्यपि एक प्रकृतिक उदयमें चार, प्रकृतिक बन्धकी अपेक्षा चार, तीन प्रकृतिक बन्धकी अपेक्षा तीन, दो प्रकृतिक बन्धकी अपेक्षा दो और एक प्रकृतिक बन्धकी अपेक्षा एक इस प्रकार कुल १० भग कह आये हैं किन्तु यहा बन्धस्थानोके भेदकी अपेक्षा न करके कुल ४ भग ही विवक्षित हैं। तथा सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानमें एक सूक्ष्म लोभका उदय होता है अत वहा एक ही भग है। इस प्रकार एक प्रकृतिक उदय में कुल पाँच भग होते हैं। इसके आगे उपशान्त मोह आदि गुणस्थानोमें मोहनीयका उदय नहीं होता अत उनमें उदयकी अपेक्षा एक भी भग नहीं होता। इस प्रकार यहाँ उक्त गाथाओंके निर्देशानुसार किस गुणस्थानमें कौन कौन उदयस्थान और उनके कितने भग होते हैं इसका विचार

किया। अन्तिम गाथामें जो भंगोंका प्रमाण पूर्वोद्दिष्ट क्रमसे जानने की सूचना की है सो उसका इतना ही मतलब है कि जिस प्रकार पहले सामान्यसे मोहनीयके उदयस्थानोंका कथन करते समय उनके भंग बतला आये हैं उसी प्रकार यहाँ भी उनका प्रमाण समझ लेना चाहिये जिनका निर्देश हमने प्रत्येक गुणस्थानके उदयस्थान बतलाते समय किया ही है।

अब मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंकी अपेक्षा दससे लेकर एक पर्यन्त गुणस्थानोंमें अगली गाथा द्वारा भंगोंकी संख्या बतलाते हैं—

एक्कं छड्डेकारेक्कारसेव एक्कारसेव नव तिन्नि।
एए चउवीसगया बार दुगे पंच एक्कम्मि ॥ ४६ ॥

अर्थ—१० से लेकर ४ प्रकृतिक तकके उदयस्थानोंमें क्रमसे एक, छह, ग्यारह, ग्यारह, ग्यारह, नौ और तीन चौबीसी भंग होते हैं। तथा दो प्रकृतिक उदयस्थानमें १२ और एक प्रकृतिक उदयस्थानमें पाँच भंग होते हैं।

विशेषार्थ—दस प्रकृतिक उदयस्थान एक ही है अतः इसमें भंगोंकी एक चौबीसी कही। नौ प्रकृतिक उदयस्थान छह हैं अतः इसमें भंगोंकी छह चौबीसी कहीं। ८, ७ और ६ प्रकृतिक उदयस्थान ग्यारह ग्यारह हैं अतः इनमें भंगोंकी ग्यारह ग्यारह चौबीसी कहीं। पांच प्रकृतिक उदयस्थान नौ हैं अतः इनमें भंगोंकी नौ चौबीसी कहीं और चार प्रकृतिक उदयस्थान तीन हैं अतः इनमें भंगोंकी तीन चौबीसी कहीं। तथा दो प्रकृतिक और एकप्रकृतिक

(१) 'एक्क य छक्केयार एयारेयारसेव णव तिण्णि। एदे चउवीसगदा बदुवीसेयार दुगठाणे ॥' गो० कर्म० गा० ४८१।

उदयस्थानमें क्रमसे बारह और पाच भग होते हैं इसका स्पष्टीकरण पहले कर ही आये हैं, अत इन दो उदयस्थानोंमें क्रमसे १२ और ५ भग कहे। इस प्रकार सब उदयस्थानों मे कुल मिलाकर ५२ चौबीसी और १७ भग प्राप्त होते है। इन्हीं भगोंका गुणस्थानोंकी अपेक्षा अन्तर्भाष्य गाथामें निम्नप्रकारसे विवेचन किया गया है—

'अट्ठग चउ चउ चउरट्ठगा य चउरो य होंति चउवीसा।
मिच्छाइ अपुव्वता बारस पणग च अनियट्टे ॥'

अर्थात्—'मिथ्यादृष्टिसे लेकर अपूर्वकरण तक आठ गुणस्थानोंमें भगोंकी क्रमसे आठ, चार चार, आठ आठ, आठ आठ और चार चौबीसी होती हैं तथा अनिवृत्तिकरणमें १२ और ५ भग होते हैं।'

इस प्रकार भगोके प्राप्त होने पर १२६५ उदय विकल्प और ८४४७ पदवृन्द प्राप्त होते हैं जिनसे सब ससारी जीव मोहित हो रहे हैं, क्योंकि ५२ को २४ से गुणित कर देने पर जो १२४८ प्राप्त हुए उनमें १७ और जोड देने पर कुल उदयविकल्पोंकी कुल सख्या १२६५ ही प्राप्त होती है। तथा १० से लेकर ४ प्रकृतिक उदयस्थान तकके सब पद ३५२ होते हैं अत इन्हें २४ से गुणित कर देने पर ८४४८ प्राप्त हुए। तदनन्तर इनमें दो प्रकृतिक उदयस्थानके २ × १२ = २४ और एक प्रकृतिक उदयस्थानके ५ इसप्रकार २९ और मिला देने से पदवृन्दोंकी कुल सख्या ८४७७ प्राप्त होती है। कहा भी है—

'बारसपणसट्ठसया उदयविगप्पेहिं मोहिया जीवा।
चुलसीईसत्तत्तरिपयविंदसएहिं विन्नेया ॥'

अर्थात्—'ये ससारी जीव १२६५ उदय विकल्पोंसे और ८४७७ पद वृन्दोंसे मोहित हो रहे है।'

गुणस्थानों की अपेक्षा उदयविकल्पों का ज्ञापक कोष्ठक—

[३०]

गुणस्थान	उदयस्थान	भग
मिथ्यात्व०	७, ८, ९, १०	८ चौबीसी
सास्वादन	७, ८, ९	४ चौबीसी
मिश्र	७, ८, ९	४ चौबीसी
अविरत०	६, ७, ८, ९	८ चौबीसी
देशविरत	५, ६, ७, ८	८ चौबीसी
प्रमत्त०	४, ५, ६, ७	८ चौबीसी
अप्रमत्त०	४, ५, ६, ७,	८ चौबीसी
अपूर्व०	४, ५, ६,	४ चौबीसी
अनिवृ०	२, १	१६
सूक्ष्म०	१	१

१२६५ उदयविकल्प

गुणस्थानों की अपेक्षा पदवृन्दों का ज्ञापक कोष्ठक—

[३१]

गुणस्थान	गुण्य (पद)	गुणाकार	गुणनफल (पदवृन्द)
मिथ्यात्व	६८	२४	१६३२
सास्वा०	३२	२४	७६८
मिश्र	३२	२४	७६८
अविरत	६०	२४	१४४०
देशवि०	५२	२४	१२४८
प्रमत्त०	४४	२४	१०५६
अप्रमत्त०	४४	२४	१०५६
अपूर्व०	२०	२४	४८०
अनिवृ०	२ १	१२ ४	२४ ४
सूक्ष्म०	१	१	१

८४७७ पदवृन्द

१३. योग, उपयोग और लेश्याओंमें संवेध भङ्ग

अब योग और उपयोगादिकी अपेक्षा इन भगोंका कथन करनेके लिये आगेकी गाथा कहते हैं—

जोगोवओगलेसाइएहिं गुणिया हवंति कायव्वा।
जे जत्थ गुणट्ठाणे हवंति ते तत्थ गुणकारा ॥४७॥

अर्थ—इन उदयभगोंको योग, उपयोग और लेश्या आदि से गुणित करना चाहिये। इसके लिये जिस गुणस्थानमें जितने योगादि हों वहाँ गुणकारकी सख्या उतनी होती है॥

विशेषार्थ—किस गुणस्थानमें कितने उदय विकल्प और कितने पदवृन्द होते हैं इसका निर्देश पहले कर ही आये हैं। किन्तु अभीतक यह नहीं बतलाया कि योग, उपयोग और लेश्याओंकी अपेक्षा उनकी सख्या कितनी हो जाती है, अत आगे इसी बातके बतानेका प्रयत्न किया जाता है।

इस विषयमें सामान्य नियम तो यह है कि जिस गुणस्थानमें योगादिक की जितनी सख्या हो उससे उस गुणस्थानके उदय-विकल्प और पदवृन्दों को गुणित कर देने पर योगादिकी अपेक्षा प्रत्येक गुणस्थानमें उदयविकल्प और पदवृन्द आ जाते हैं। अत

---

(१) 'एव जोगुवओगा लेसाई भेयओ बहुभेया। जा जस्स जमि उ गुणे संखा सा तमि गुणगारो ॥'—पञ्च० सप्त० गा० ११५। 'उदयट्ठाणं पयडिं सगसगउवजोगजोग आदीहिं। गुणयित्ता मेलविदे पदसखा पयडिसखा य॥'—गो० कर्म० गा० ४९०।

यह जानना जरूरी है कि किस गुणस्थानमें कितने योगादिक होते हैं। परन्तु एक साथ इनका कथन करना अशक्य है अत पहले योगकी अपेक्षा विचार करते हैं—मिथ्यात्व गुणस्थानमें १३ योग और भगोंकी ८ चौबीसी होती हैं। सो इनमेंसे चार मनोयोग, चार वचनयोग, औदारिक काययोग, और वैक्रियकाययोग इन दस योगोमेंसे प्रत्येक में भगोंकी आठो चौबीसी होती हैं अत १० से ८ को गुणित करने पर ८० चौबीसी हुईं। किन्तु औदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रियमिश्रकाययोग और कार्मणकाययोग इनमें अनन्तानुबन्धी की उदयवाली ही चार चौबीसी प्राप्त होती हैं, क्यों कि ऐसा नियम है कि अनन्तानुबन्धीचतुष्ककी विसयोजना करनेपर जीव मिथ्यात्व गुणस्थानमें जाता है उसका जब तक अनन्तानुबन्धीका उदय नहीं होता तब तक मरण नहीं होता, अत यहा इन तीन योगों में अनन्तानुबन्धीके उदयसे रहित चार चौबीसी सम्भव नहीं। विशेष खुलासा इस प्रकार है कि जिसने अनन्तानुबन्धीकी विसयोजना की है ऐसा जीव जब मिथ्यात्वको प्राप्त होता है। तब उसके अनन्तानुबन्धी चतुष्कका बन्ध और अन्य सजातीय प्रकृतियोका अनन्तानुबन्धीरूपसे सक्रमण तो पहले समयसे ही होने लगता है किन्तु अनन्तानुबधीका उदय एक आवलि कालके पश्चात् होता है। ऐसे जीवका अनन्तानुन्धीका उदय होने पर ही मरण होता है पहले नहीं अत उक्त तीनों योगोंमें अनन्तानुबन्धीके उदयसे रहित ४ चौबीसी नहीं पाई जातीं। इस प्रकार इन तीनों योगोंमें भगोंकी कुल चौबीसी १२ हुईं। इनको पूर्वोक्त ८० चौबीसियोंमें मिला देने पर मिथ्यात्व गुणस्थानमें भगोंकी कुल ६२ चौबीसी प्राप्त होती हैं। जिनके कुल भग २२०८ होते हैं। सास्वादनमें १३ योग और भगोंकी ४ चौबीसी होती हैं। इसलिये कुल भगोंकी ५२ चौबीसी होनी चाहिये

थी। किन्तु सास्वादनके वैक्रिय मिश्रकाययोगमें नपुंसकवेदका उदय नहीं होता, अत १२ योगोंकी तो ४८ चौबीसी हुईं और वैक्रिय मिश्रके ४ षोडशक हुए। इस प्रकार यहा सब भग १२१६ होते हैं। सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें ४ मनोयोग, ४ वचनयोग, औदारिककाययोग और वैक्रियकाययोग ये १० योग और भगोंकी ४ चौबीसी होती हैं, अत ४ चौबीसी को १० से गुणित करने पर यहा कुल भग ६६० होते है। अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें १३ योग और भगोंकी ८ चौबीसी होती हैं। किन्तु ऐसा नियम है कि चौथे गुणस्थानके वैक्रियमिश्रकाययोग और कार्मणकाययोगमें स्त्रीवेद नहीं होता, क्योंकि अविरत सम्यग्दृष्टि जीव मरकर स्त्रीवेदियोंमे नहीं उत्पन्न होता। इसलिये इन दो योगोंमें भगोंकी आठ चौबीसी प्राप्त न होकर आठ षोडशक प्राप्त होते हैं। यहा पर मलयगिरि आचार्य लिखते हैं कि स्त्रीवेदी सम्यग्दृष्टि जीव वैक्रियमिश्रकाय योगी और कार्मण काययोगी नहीं होता यह कथन बहुलताकी अपेक्षासे किया है। वैसे तो कदाचित् इनमें भी स्त्रीवेदके साथ सम्यग्दृष्टियोंका उत्पाद देखा जाता है इसके लिये उन्होंने चूर्णिका निम्न वाक्य उद्धृत किया है। यथा—

'कयाइ होज्ज इत्थिवेयगेसु वि।'

अर्थात्—'कदाचित् सम्यग्दृष्टि जीव स्त्रीवेदियोंमे भी उत्पन्न होता है।'

(१) दिगम्बर परपरामें यही एक मत मिलता है कि स्त्री वेदियोंमें सम्यग्दृष्टि जीव मरकर नहीं उत्पन्न होता।

तथा चौथे गुणस्थानके औदारिकमिश्रकाययोगमें स्त्रीवेद और नपुंसकवेद नहीं होता क्योंकि स्त्रीवेदी और नपुंसकवेदी तिर्यंच और मनुष्योंमें अविरत सम्यग्दृष्टि जीव नहीं उत्पन्न होते, अतः औदारिकमिश्रकाययोगमें भंगोंकी ८ चौबीसी प्राप्त न होकर आठ अष्टक प्राप्त होते हैं। यहाँ पर भी मलयगिरि आचार्य अपनी टीकामें लिखते हैं कि स्त्रीवेदी और नपुंसकवेदी सम्यग्दृष्टि जीव औदारिक मिश्रकाययोगी नहीं होता यह बहुलताकी अपेक्षासे कहा है। इस प्रकार अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें कुल २२४० भंग प्राप्त होते हैं। देशविरतमें औदारिकमिश्र कार्मणकाययोग और आहारकद्विकके बिना ११ योग और भंगोंकी ८ चौबीसी होती हैं। यहाँ प्रत्येक योगमें भंगोंकी ८ चौबीसी सम्भव हैं, अतः यहाँ कुल भंग २११२ होते हैं। प्रमत्तसंयतमें औदारिकमिश्र और कार्मणके बिना १३ योग और ८ भंगोंकी चौबीसी होती हैं। किन्तु ऐसा नियम है कि स्त्रीवेदमें आहारककाययोग और आहारकमिश्रकाययोग नहीं होता, क्योंकि आहारक समुद्घात चौदह पूर्वधारी जीव ही करते हैं। परन्तु स्त्रियोंके चौदह पूर्वोंका ज्ञान नहीं पाया जाता। कहा भी है—

> 'तुच्छा गारवबहुला चलिंदिया दुब्बला य धीईए।
> इय अइसेसज्झयणा भूयावाओ य नो थीए॥'

अर्थात्—'स्त्रीवेदी जीव तुच्छ, गारवबहुल, चंचल इन्द्रिय और बुद्धिसे दुर्बल होते हैं अतः वे बहुत अध्ययन करनेमें समर्थ नहीं हैं और उनके दृष्टिवाद अंगका भी ज्ञान नहीं पाया जाता।'

इसलिये ११ योगोंमें तो भगोंकी ८ चौबीसी प्राप्त होती हैं किन्तु आहारक और आहारकमिश्रकाययोगमें भगोंके कुल ८ षोडशक ही प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यहाँ कुल भग २३६८ होते हैं। अप्रमत्तसयतमें ४ मनोयोग, ४ वचनयोग, औदारिक काययोग, वैक्रियकाययोग और आहारकाययोग ये ११ योग और भगोंकी ८ चौबीसी होती हैं। किन्तु आहारक काययोगमें स्त्रीवेद नहीं है, अत यहाँ १० योगोंमें भगोंकी ८ चौबीसी और आहारकाययोगमें ८ षोडशक प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यहा कुल भग २०४८ होते हैं। जो जीव प्रमत्तसयत गुणस्थानमें वैक्रियकाययोग और आहारककाययोगको प्राप्त करके अप्रमत्तसयत हो जाता है उसके अप्रमत्तसयत अवस्थाके रहते हुए ये दो योग होते हैं। वैसे अप्रमत्तसयत जीव वैक्रिय और आहारक समुद्घातका प्रारम्भ नहीं करता, अत इस गुणस्थानमें वैक्रिय मिश्रकाययोग और आहारक मिश्रकाययोग नहीं कहे। अपूर्वकरण गुणस्थानमें ६ योग और ४ चौबीसी होती हैं, अत यहां कुल भग ८,४ होते हैं। अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें योग ६ और भग १६ होते हैं, अत १६ से ६ के गुणित करने पर यहा कुल १४४ भग प्राप्त होते हैं। तथा सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानमें योग ६ और भग १ है। अत यहाँ कुल ६ भग प्राप्त होते हैं। अब यदि उपर्युक्त दसों गुणस्थानोंके कुल भग जोड दिये जाते हैं तो उनका कुल प्रमाण १४१६६ होता है। कहा भी है—

'चउद्दस य सहस्साइ सय च गुणहत्तर उदयमाण।'[1]

अर्थात्—'योगोंकी अपेक्षा मोहनीयके कुल उदय विकल्पोंका प्रमाण १४१६६ होता है।'

---

(१) पञ्च स० सप्त० गा० १२०।

योगों की अपेक्षा उदयविकल्पों का ज्ञापक कोष्ठक—

[३२]

गुणस्थान	योग	गुणाकार	
मिथ्यात्व	१० ३	८×२४=१९२ ४×२४=९६	१९२० २८८
सास्वादन	१२ १	४×२४=९६ ४×१६=६४	११५२ ६४
मिश्र	१०	४×२४=९६	९६०
अविरत०	१० २ १	८×२४=१९२ ८×१६=१२८ ८×८=६४	१९२० ५६ ६४
देशविरत	११	८×२४=१९२	२११२
प्रमत्तस०	११ २	८×२४=१९२ ८×१६=१२८	२११२ २५६
अप्रमत्तसं०	१० १	८×२४=१९२ ८×१६=१२८	१९२० १२८
अपूर्वकरण	३	४×२४=९६	८६४
अनिवृत्ति०	९	१६	१४४
सूक्ष्मसम्प०	९	१	९
			१४१६९

अब योगोंकी अपेक्षा पदवृन्दोंका विचार अवसर प्राप्त है सो इसके लिये पहले अन्तर्भाष्य गाथा उद्धृत करते हैं।—

'अट्ठट्ठी वत्तीस वत्तीस सट्ठिमेव वावन्ना।
चोयाल चोयाल वीसा वि य मिच्छमाईसु॥'

अर्थात्—'मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंमें क्रमसे अरसठ, वत्तीस, साठ, वत्तीस, साठ वावन, चवालीस, चवालोस और वीस उदयपद होते है।'

यहाँ उदयपदसे उदयस्थानो की प्रकृतियाँ ली गई हैं। जैसे, मिथ्यात्वमें १०, ९ ८ और ७ ये चार उदयस्थान हैं। सो इनमेंसे १० उदयस्थान एक है अत इसकी १० प्रकृतियाँ हुई। ९ प्रकृतिक उदय स्थान तीन है अत इसकी २७ प्रकृतियाँ हुई। ८ प्रकृतिक उदयस्थान भी तीन हैं अत इसकी २४ प्रकृतियाँ हुई। और ७ प्रकृतिक उदयस्थान एक है अत इसकी ७ प्रकृतियाँ हुई। इस प्रकार मिथ्यात्वमें ४ उदयस्थानो की ६८ प्रकृतियाँ होती हैं। सास्वादन आदिमे जो ३२ आदि उदयपद बतलाये हैं उनका भी रहस्य इसी प्रकार समझना चाहिये। अब यदि इन आठ गुणस्थानोंके सब उदयपदोंको जोड दिया जाय तो उनका कुल प्रमाण ३५२ होता है। किन्तु इनमें से प्रत्येक उदयपदमें चौबीस चौबीस भङ्ग होते हैं अत ३५२ को २४ से गुणित कर देने पर ८४४८ प्राप्त होते हैं। यह विवेचन अपूर्वकरण गुणस्थान तक का है अभी अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान का विचार शेष है अत इन दो गुणस्थानों के २९ भङ्ग पूर्वोक्त संख्यामें मिला देने पर कुल ८४७७ प्राप्त होते हैं। इस प्रकार योगादिक की अपेक्षाके बिना मोहनीयके कुल पदवृन्द ८४७७ होते हैं यह सिद्ध हुआ। अब जब कि हम योगोंकी अपेक्षा दसों गुणस्थानोंमें पदवृन्द लाना चाहते हैं तो हमें दो बातों पर विशेष ध्यान देना होगा। एक तो यह कि किस गुण-

स्थानमें पदवृन्द और योगोकी मख्या कितनी है और दूसरी यह कि उन योगोमें से किस योगमें कितने पदवृन्द सम्भव हैं। आगे इसी व्यवस्थाके अनुसार प्रत्येक गुणस्थानमें कितने पदवृन्द प्राप्त होते हैं यह बतलाते है। मिथ्यात्वमे ४ उदयस्थान और उनके कुल पद ६८ है यह तो हम पहले ही बतला आये हैं। सो इनमेंसे एक ७ प्रकृतिक उदयस्थान, दो आठ प्रकृतिक उदयस्थान और एक नौ प्रकृतिक उदयस्थान अनन्तानुबन्धीके उदयसे रहित हैं जिनके कुल उदयपद ३२ होते हैं और एक आठ प्रकृतिक उदयस्थान, दो ६ प्रकृतिक उदयस्थान और एक १० प्रकृतिक उदयस्थान ये चार उदयस्थान अनतानुबधीके उदयसे सहित है जिनके कुल उदयपद ६३ होते है। इनमेंसे पहले के ३२ उदयपद ४ मनोयोग, ४ वचनयोग, औदारिक काययोग और वैक्रिकाय योग इन दस योगोंके साथ पाये जाते है, क्योंकि यहाँ अन्य योग सम्भव नही, अत इन्हें १० से गुणित कर देने पर ३२० होते हैं। और ३६ उदयपद पूर्वोक्त दस तथा औदारिक मिश्र, वैक्रियमिश्र और कार्मण इन १३ योगोंके साथ पाये जाते है, क्योकि ये पद पर्याप्त और अपर्याप्त दोनो अवस्थाओंमें सम्भव हैं अत ३६ को १३ से गुणित कर देने पर ४६८ प्राप्त होते हैं। चूंकि हमें मिथ्यात्व गुणस्थानके कुल पदवृन्द प्राप्त करना है अत इनको इकट्ठा कर दें और २४ से गुणित कर दें तो मिथ्यात्व गुणस्थानके कुल पदवृन्द आ जाते हैं जो ३२०+४६८=७८८×२४=,८६१२ होते हैं। सास्वादनमें योग १३ और उदयपद ३२ हैं। सो १२ योगोंमें तो ये सब उदयपद सम्भव है किन्तु सास्वादनके वैक्रियमिश्रमें नपुसकवेदका उदय नहीं होता, अत यहाँ नपुसकवेदके भग कम कर देना चाहिये। तात्पर्य यह है कि १२

योगोकी अपेक्षा १२ से ३२ को गुणित करके २४ से गुणित करे और वैक्रियमिश्र की अपेक्षा ३२ को १६ से गुणित करे। इस प्रकार गुणनक्रियाके करने पर सास्वादनमे कुल पदवृन्द ९७२८ प्राप्त होते हैं। मिश्रमे १० योग और उदय पद ३२ हैं। किन्तु यहाँ सब योगोंमे सब उदयपद और उनके कुल भग सम्भव हैं अत यहाँ १० से ३२ को गुणित करके २४ से गुणित करने पर ७६८० पदवृंद प्राप्त होते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमे योग १३ और उदयपद ६० हैं। सो यहाँ १० योगोंमे तो सब उदयपद और उनके कुल भग सम्भव हैं अत १० से ६० को गुणित करके २४ से गुणित कर देने पर १० योगो सबधी कुल भग १४४०० प्राप्त होते हैं। किन्तु वैक्रियमिश्र काययोग और कार्मणकाययोगमे स्त्रीवेदका उदय नहीं होता अत यहाँ स्त्रीवेदसबधी भग नहीं प्राप्त होते, इसलिए यहाँ २ को ६० से गुणित करके १६ से गुणित करने पर उक्त दो दो योगो सबधी कुल भग १९२० प्राप्त होते हैं। तथा औदारिकमिश्रकाययोगमे स्त्रीवेद और नपुसकवेदका उदय नहीं होनेसे दो योगो सबधी भग नहीं प्राप्त होते, इसलिये यहाँ ६० से ८ को गुणित करने पर औदारिकमिश्र काययोगकी अपेक्षा ४८० भग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार चौथे गुणस्थानोमे १३ योग सबधी कुल पदवृन्द १४४००+१९२०+४८०=१६८०० होते हैं। देशविरत गुणस्थानमें योग ११ और पद ५२ हैं। किन्तु यहाँ सब योगों में सब उदयपद और उनके भग सम्भव हैं अत यहाँ ११ से ५२ को गुणित करके २४ से गुणित करने पर कुल भग १३७२८ होते

हैं। प्रमत्तसयत में योग १३ और पद ४४ हैं। किन्तु आहारकद्विक में स्त्रीवेद का उदय नहीं होता इसलिये ११ योगों की अपेक्षा तो ११ को ४४ से गुणित करके २४ से गुणित करे और आहारकद्विक की अपेक्षा २ से ४४ को गुणित करके १६ से गुणित करे। इस प्रकार क्रिया के करने पर प्रमत्तसयतमें कुल पदवृन्द १३०२४ प्राप्त होते हैं। अप्रमत्त सयतमें योग ११ और पद ४४ हैं किन्तु आहारक काययोगमें स्त्रीवेदका उदय नहीं होना इसलिये १० योगोंकी अपेक्षा १० से ४४ को गुणित करके २४ से गुणित करे और आहारकाययोग की अपेक्षा ४४से १६ को गुणित करे। इस प्रकार करने पर अप्रमत्त सयतमें कुल परवृन्द ११२६४ होते हैं। अपूर्वकरणमें योग ६ और पद २० होते हैं, अत २० से ६ को गुणित करके २४ से गुणित करने पर यहाँ कुल पदवृन्द ४३२० प्राप्त होते हैं। अनिवृत्तिकरणमें योग ६ और भङ्ग २८ हैं। यहाँ योगपद नहीं हैं, अत पद न कह कर भग कहे हैं। सो ६ से २८ को गुणित कर देने पर अनिवृत्तिकरणमें २५२ पदवृन्द होते हैं। तथा सूक्ष्म सम्परायमें योग ६ और भग १ हैं। अत ६ से १ को गुणित करने करने पर ६ भग होते हैं। अब प्रत्येक गुणस्थानके इन पदवृन्दों को जोड देने पर सब पदवृन्दोंकी कुल सख्या ६५७१७ होती है। कहा भी है—

'सत्तरसा सत्तसया पणनउइसहस्स पयमरा।'[1]

अर्थात्—'योगोंकी अपेक्षा मोहनीयके सब पदवृन्द पचानवे हजार सातसौ सत्रह होते हैं।'

---

(१) पञ्च० सप्त० गा० १२०।

योगो की अपेक्षा पदवृन्दो का ज्ञापक कोष्ठक—

[३३]

गुणस्थान	योग	उदयपद	गुणाकार	गुणनफल
मिथ्यात्व	१२ १०	३६ ३२	२४ २४	११२३२ ७६८०
सास्वादन	१२ १	३२ ३२	२४ १६	९२१६ ५१२
मिश्र	१०	३२	२४	७६८०
अविरत०	१० २ १	६० ६० ६०	२४ १६ ८	१४४०० १९२० ४८०
देशवि०	११	५२	२४	१३७२८
प्रमत्तसयत	११ २	४४ ४४	२४ १६	११६१६ १४०८
अप्रमत्तसं०	१० १	४४ ४४	२४ १६	१०५६० ७०४
अपूर्वक०	९	२०	२४	४३२०
अनिवृत्ति०	९	२ १	१२ ४	२१६ ३६
सूक्ष्मस०	९	१	१	१

९५७१७ पदवृन्द

अब उपयोगोंकी अपेक्षा उदयस्थानोंका विचार करते हैं—मिथ्यादृष्टि और सासादनमें मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान, विभंगज्ञान, चक्षुदर्शन,और अचक्षुदर्शन ये पांच उपयोग होते हैं। मिश्रमें तीन मिश्र ज्ञान तथा चक्षु और अचक्षुदर्शन इस प्रकार ये पांच उपयोग होते हैं। किन्तु अविरतसम्यग्दृष्टि और देशविरत इनमें प्रारम्भके तीन सम्यग्ज्ञान और तीन दर्शन ये छह उपयोग होते हैं। तथा प्रमत्तसे लेकर सूक्ष्मसम्पराय तक पाँच गुणस्थानोंमें मन पर्ययज्ञान सहित सात उपयोग होते हैं। यह तो हुई गुणस्थानोंमें उपयोग व्यवस्था। अब किस गुणस्थानमें कितने उदयस्थान भंग होते हैं यह जानना शेष है सो इसका कथन पहले पृष्ठाकमें कर ही आये हैं अत वहाँसे जान-लेना चाहिये। इस प्रकार जिस गुणस्थानमें जितने उपयोग हों उनसे उस गुणस्थानके उदयस्थानोंको गुणित करके अनन्तर भंगोंसे गुणित कर देने पर उपयोगोंकी अपेक्षा उस उस गुणस्थानके कुल भंग आ जाते हैं। यथा—मिथ्यात्व और सासादनमें क्रमसे ८ और ४ चौबीसी तथा ५ उपयोग हैं अत ८+४=१२ को ५से गुणित कर देने पर ६० हुए। मिश्रमें ४ चौबीसी और ५ उपयोग हैं, अत ४ को ५ से गुणित कर देने पर २० हुए। अविरत सम्यग्दृष्टि और देशविरतमें आठ आठ चौबीसी और ६ उपयोग हैं अत ८+८=१६ को छहसे गुणित कर देने पर ९६ हुए। प्रमत्त, अप्रमत्त और अपूर्वकरणमें आठ, आठ और ४ चौबीसी और ७ उपयोग हैं अत ८+८+४=२० को सातसे गुणित कर देने पर १४०

हुए। तथा इन सबका जोड ३१६ हुआ। इनमें से प्रत्येक चौवीसी में २४ २४ भग होते हैं अत इन्हें २४ से गुणित कर देने ७५८४ होते हैं। तथा दो प्रकृतिक उदयस्थानमें १२ भग और एक प्रकृतिक उदयस्थानमें ५ भग होते हैं जिनका कुल जोड १७ हुआ। सो इन्हें यहाँ सम्भव उपयोगोंकी संख्या ७ से गुणित करदेने पर ११९ होते हैं। अब इन्हें पूर्व राशिमें मिला देने पर कुल भग ७७०३ होते हैं। कहा भी है—

'उदयाणुवओगेसु सयसयरिसया तिउत्तरा होंति।'

अर्थात्—'मोहनीय के उदयस्थान विकल्पोंको यहा सम्भव, उपयोगोंसे गुणित करने पर उनका कुल प्रमाण ७७०३ होता है।'

किन्तु एक मत यह भी पाया जाता है कि सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में अवधिदर्शनके साथ छह उपयोग होते हैं, अत इस मतके स्वीकार करने पर इस गुणस्थानमें ९६ भग बढ जाते हैं जिससे कुल भगोंकी संख्या ७७९९ प्राप्त होती है। इस प्रकार ये उपयोग गुणित उदयस्थान भग जानना चाहिये।

---

(१) पञ्च० सप्त० गा० ११८।

(२) गोम्मटसार कर्मकाण्डमें योगोंकी अपेक्षा उदयस्थान १२६५३ और पदवृन्द ८८९४५ बतलाये हैं। तथा उपयोगों की अपेक्षा उदयस्थान ७७९९ और पदवृन्द ५१०८३ बतलाये हैं।

उपयोगों की अपेक्षा उदयविकल्पों का ज्ञापक कोष्ठक—

[३४]

गुणस्थान	उपयोग	गुणकार	गुणनफल (उदयविकल्प)
मिथ्यात्व	५	८×२४	९६०
सास्वादन	५	४×२४	४८०
मिश्र	५	४×२४	४८०
अविरत०	६	८×२४	११५२
देशविरत	६	८×२४	११५२
प्रमत्तवि०	७	८×२४	१३४४
अप्रमत्त०	७	८×२४	१३४४
अपूर्व०	७	४×२४	६७२
अनिवृ०	७	१२ ४	८४ २८
सूक्ष्म०	७	१	७

७७०३ उदयविकल्प

सूचना—एक मत यह है कि मिश्र गुणस्थान में अवधिदर्शन भी होता है अतः इसकी अपेक्षा प्राप्त हुए ९६ भंग ७७०३ भङ्गों में मिला देने पर दूसरे मत की अपेक्षा कुल उदयविकल्प ७७९९ होते हैं।

अब उपयोगोंसे गुणित करने पर पदवृन्दोका कितना प्रमाण होता है यह बतलाते हैं—मिथ्यात्वमें ६८, सास्वादन मे ३२ और मिश्रमें ३२ उदयस्थानपद हैं जिनका जोड १३२ होता है अब इन्हें यहाँ सम्भव ५ उपयोगो से गुणित करने पर ६६० हुए। अविरतसम्यग्दृष्टिमे ६० और देश विरतमे ५२ उदयस्थान पद हैं जिनका जोड ११२ होता है। इन्हें यहाँ सम्भव ६ उपयोगोंसे गुणित करने पर ६७२ हुए। तथा प्रमत्तमें ४४ अप्रमत्तमें ४४ और अपूर्वकरणमे २० उदयस्थान पद हैं जिनका जोड १८० होता है। अब इन्हें यहाँ सम्भव ७ उपयोगोसे गुणित करने पर ७५६ हुए। तथा इन सबका जड २०८८ हुआ। इन्हें भगो की अपेक्षा २४ से गुणित कर देने पर आठ गुणस्थानोके कुल पदवृन्दोंका प्रमाण ५०११२ होता है। तदनन्तर दो प्रकृतिक उदयस्थानके पदवृन्द २४ और एक प्रकृतिक उदयस्थानके पदवृन्द ५ इनका जोड २६ हुआ। सो इन्हें यहाँ सम्भव ७ उपयोगोंसे गुणित कर देने पर २०३ पदवृन्द और प्राप्त हुए जिन्हें पूर्वोक्त पदवृन्दोमे सम्मिलित कर देने पर कुल पदवृन्दोंका प्रमाण ५०३१५ होता है। कहा भी है—

'पन्नास च सहस्सा तिन्नि सया चेह पन्नरसा।'

अर्थात्—'मोहनीयके पदवृन्दोको वहाँ सम्भव उपयोगोसे गुणित करने पर उनका कुल प्रमाण ५०३१५ होता है।'

किन्तु जब मतान्तरकी अपेक्षा मिश्र गुणस्थानमें ६ उपयोग स्वीकार कर लिये जाते हैं तब इन पदवृन्दोंका प्रमाण ५१०८३ हो जाता है, क्योंकि तब १×३२×२४=७६८ भग बढ जाते हैं।

(१) पञ्च० सप्त० गा० ११८।

उपयोगों की अपेक्षा पदवृन्दों का ज्ञापक कोष्ठक—

[३५]

गुणस्थान	उपयोग	उदयपद	गुणकार	गुणनफल
मिथ्यात्व	५	६८	२४	८१६०
सास्वादन	५	३२	२४	३८४०
मिश्र	५	३२	२४	३८४०
अविरत०	६	६०	२४	८६४०
देशविरत	६	५२	२४	७४८८
प्रमत्तवि०	७	४४	२४	७३९२
अप्रमत्त०	७	४४	२४	७३९२
अपूर्व०	७	२०	२४	३३६०
अनिवृ०	७	२ १	१२ ४	१६८ २८
सूक्ष्म०	७	१	१	७
				५०३१५

सूचना—मतान्तर से मिश्र-गुणस्थान में अवधिदर्शन के स्वीकार कर लेने पर ७६८ भंग और प्राप्त होते हैं। अत इस अपेक्षा से कुल पदवृन्द ५११८३ होते हैं।

अब लेश्याओंसे गुणित करने पर उदयस्थान विकल्प कितने होते हैं इसका विचार करते हैं—

मिथ्यात्वसे लेकर अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक प्रत्येक स्थानमें छहों लेश्याएं हैं। देशविरत आदि तीन गुणस्थानोमे तीन शुभ लेश्याएँ हैं। तथा मिथ्यात्व आदि किस गुणस्थानमें कितने चौबीसी होती हैं यह पहले बतला ही आये हैं तदनुसार मिथ्यात्वमे ८ सास्वादन में ४ मिश्रमे ४ और अविरत सम्यग्दृष्टिमें ८ चौबीसी हुई जिनका जोड २४ हुआ। अब इन्हें ६ से गुणित कर देने पर १४४ हुए। देशविरतमे ८ प्रमत्तमें ८ और अप्रमत्तमे ८ चौबीसी हैं जिनका जोड २४ हुआ। अब इन्हें ३से गुणित कर देने पर ७२ हुए। तथा अपूर्वकरण ४ चौबीसी हैं। किन्तु यहाँ एक ही लेश्या है अत ४ ही प्राप्त हुए। तथा इन सबका जोड २२० हुआ। अब इन्हें २४ से गुणित कर देने पर आठ गुणस्थानोके कुल उदयस्थान विकल्प ५२८० होते हैं। तदनन्तर इनमें दो प्रकृतिक उदयस्थानके १२ और एक प्रकृतिक उदयस्थानके ५ इस प्रकार १७ भगोंके मिला देने पर कुल उदयस्थान विकल्प ५२९७ होते हैं। ये लेश्याओंकी अपेक्षा उदयस्थान विकल्प कहे।

(१) गोम्मटसार कर्मकाण्डमें लेश्याओं की अपेक्षा उदयविकल्प ५२६० और पदवृन्द ३८२१७ बतलाये हैं।

लेश्याओं की अपेक्षा उदयविकल्पों का ज्ञापक कोष्ठक—

[३६]

गुणस्थान	लेश्या	गुणकार	गुणनफल
मिथ्यात्व	६	८×२४	११५२
सास्वादन	६	४×२४	५७६
मिश्र०	६	४×२४	५७६
अविरत०	६	८×२४	११५२
देशवि०	३	८×२४	५७६
प्रमत्त०	३	८×२४	५७६
अप्रमत्त०	३	८×२४	५७६
अपूर्व०	१	४×२४	९६
अनिवृ०	१	१२ ४	१२, ४
सूक्ष्म	१	१	१
			५२९७

अब लेश्याओंकी अपेक्षा पदवृन्द बतलाते हैं—

मिथ्यात्व के ६८ सास्वादनके ३२ मिश्रके ३२ और अविरत सम्यग्दृष्टिके ६० पदोंका जोड १९२ हुआ। सो इन्हें यहाँ सम्भव ६ लेश्याओंसे गुणित कर देने पर ११५२ होते हे। देशविरतके ५२ प्रमत्तके ४४ और अप्रमत्तके ४४ पदोंका जोड १४० हुआ। सो इन्हे यहाँ सम्भव ३ लेश्याओंसे गुणित कर देने पर ४२० होते हैं। तथा अपूर्वकरणमें पद २० हैं। किन्तु यहाँ एक ही लेश्या है अत इनका प्रमाण २० ही हुआ। इन सबका जोड १५९२ हुआ। अब इन्हें भगो की अपेक्षा २४ से गुणित कर देने पर आठ गुणस्थानोंके कुल पदवृन्द ३८२०८ होते हैं। तदनन्तर इनमे दो प्रकृतिक और एक प्रकृतिक पदवृन्द मिला देने पर कुल पदवृन्द ३८२३७ होते हैं। कहा भी है—

तिगहीणा तेवन्ना सया य उदयाण होंति लेसाण।
अडतीस सहस्साइ पयाण सय दो य सगतीसा ॥'

अर्थात्—'मोहनीयके उदयस्थान और पदवृन्दोंको लेश्याओंसे गुणित करने पर उनका कुल प्रमाण क्रमसे ५२६७ और ३८२३७ होता है।

(१) पञ्चस० सप्त० गा० ११७।

लेश्याओं की अपेक्षा उदयविकल्पों का ज्ञापक कोष्ठक—

[३६]

गुणस्थान	लेश्या	गुणकार	गुणनफल
मिथ्यात्व	६	८×२४	११५२
सास्वादन	६	४×२४	५७६
मिश्र०	६	४×२४	५७६
अविरत०	६	८×२४	११५२
देशवि०	३	८×२४	५७६
प्रमत्त०	३	८×२४	५७६
अप्रमत्त०	३	८×२४	५७६
अपूर्व०	१	४×२४	९६
अनिवृ०	१	१२ ४	१२ ४
सूक्ष्म	१	१	१
			५२९७

अब लेश्याओंकी अपेक्षा पदवृन्द बतलाते हैं—

मिथ्यात्व के ६८ सासादनके ३२ मिश्रके ३२ और अविरत सम्यग्दृष्टिके ६० पदोंका जोड़ १९२ हुआ। सो इन्हें यहाँ सम्भव ६ लेश्याओंसे गुणित कर देने पर ११५२ होते हैं। देशविरतके ५२ प्रमत्तके ४४ और अप्रमत्तके ४४ पदोंका जोड़ १४० हुआ। सो इन्हें यहाँ सम्भव ३ लेश्याओंसे गुणित कर देने पर ४२० होते हैं। तथा अपूर्वकरणमें पद २० हैं। किन्तु यहाँ एक ही लेश्या है अत इनका प्रमाण २० ही हुआ। इन सबका जोड़ १५९२ हुआ। अब इन्हें भगों की अपेक्षा २४ से गुणित कर देने पर आठ गुणस्थानोंके कुल पदवृन्द ३८२०८ होते हैं। तदनन्तर इनमें २९ प्रकृतिक और एक प्रकृतिक पदवृन्द मिला देने पर कुल पदवृन्द ३८२३७ होते हैं। कहा भी है—

ति'गहीणा तेवन्ना सया य उदयाण होंति लेसाण।
अडतीस सहस्साइं पयाण सय दो य सगतीसा ॥'

अर्थात्—'मोहनीयके उदयस्थान और पदवृन्दोंको लेश्याओंसे गुणित करने पर उनका कुल प्रमाण क्रमसे ५२९७ और ३८२३७ होता है।

(१) पञ्चसं० सप्त० गा० ११७।

लेश्याओं की अपेक्षा पदवृन्दों का ज्ञापक कोष्ठक—

[३७]

गुणस्थान	लेश्या	उदयपद	गुणकार	गुणनफल
मिथ्यात्व	६	६८	२४	१६३२
सास्वादन	६	३२	२४	४६०८
मिश्र०	६	३२	२४	४६०८
अविरत०	६	६०	२४	८६४०
देशविरत	३	५२	२४	३७४४
प्रमत्त०	३	४४	२४	३१६८
अप्रमत्त०	३	४४	२४	३१६८
अपूर्व०	१	२०	२४	४८०
अनिवृ०	१	२ १	१२ ४	२४ ४
सूक्ष्म०	१	१	१	१
				३८२३७

इस प्रकार मोहनीयके प्रत्येक गुणस्थान सम्बन्धी उदयस्थ विकल्प और पदवृन्दोंको वहाँ सम्भव योग, उपयोग ■ लेश्याओंसे गुणित करने पर उनका कुल प्रमाण कितना होत इसका विचार किया।

१४. गुणस्थानोंमें मोहनीयके सवेधभग

अब सत्तास्थानोंका विचार क्रम प्राप्त है—

तिण्णेगे एगेग तिग मीसे पच चउसु नियट्टिए तिन्नि।
एक्कार बायरम्मी सुहुमे चउ तिन्नि उवसते ॥ ४८ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मके मिथ्यात्वमें तीन, सास्वादनमें ए मिश्रमें तीन, अविरत सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानोंमें प पाँच, अपूर्वकरणमें तीन अनिवृत्तिकरणमें ग्यारह, सूक्ष्मसम्परा में चार और उपशान्तमोहमें तीन सत्त्वस्थान होते हैं ॥

विशेषार्थ—किस गुणस्थानमें कितने सत्त्वस्थान होते और उनके वहाँ होनेका कारण क्या है इसका विचार पह कर आये हैं। यहाँ सकेतमात्र किया है। मिथ्यात्वमें २ २७ और २६ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। सास्वादनमें : प्रकृतिक एक ही सत्त्वस्थान होता है। मिश्रमें २८, २७ और : ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि आदि च गुणस्थानोंमेंसे प्रत्येकमें २८, २४, २३, २२ और २१ ये पाँ सत्त्वस्थान होते हैं। अपूर्वकरणमें २८, २४ और २१ ये ती सत्त्वस्थान होते हैं। अनिवृत्तिकरणमें २८ २४, २१, १३ १२ ११, ५, ४, ३, २ और १ ये ग्यारह सत्त्वस्थान होते हैं। सूक्ष्म सम्परायमें २८ २४, २१, और १ ये चार सत्त्वस्थान होते हैं

(१) तिण्णेगे एगेग दो मिस्से चदुसु पण णियट्टिए। तिण्णि थूलेक्कार सुहुमे चत्तारि तिण्णि उवसते ॥'—गो० कर्म० गा० ५०६।

तथा उपशान्तमोहमें २८, २४ और २१ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। यह उक्त गाथाका सार है।

अब प्रसगानुसार संवेधभगोंका विचार करते हैं –

मिथ्यात्वमें २२ प्रकृतिक बन्धस्थान और ७, ८, ९ तथा १० प्रकृतिक चार उदयस्थान हैं। सो इनमेंसे ७ प्रकृतिक उदयस्थानमें एक २८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान ही होता है किन्तु शेष तीन उदयस्थानोंमें २८, २७ और २६ ये तीनों सत्त्वस्थान सम्भव हैं। इस प्रकार मिथ्यात्वमें कुल सत्त्वस्थान १० हुए।

सास्वादनमें २१ प्रकृतिक बन्धस्थान और ७, ८ और ९ इन तीन उदयस्थानोंके रहते हुए प्रत्येकमें २८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान है। इस प्रकार यहाँ ३ सत्त्वस्थान हुए। मिश्रमें १७ प्रकृतिक बन्धस्थान तथा ७ ८ और ९ इन तीन उदयस्थानोंके रहते हुए प्रत्येकमें २८, २७ और २४ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। इस प्रकार यहाँ कुल ९ सत्त्वस्थान हुए। अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें एक १७ प्रकृतिक बन्धस्थान तथा ६ ७, ८ और ९ ये चार उदयस्थान होते हैं। सो इनमें से ६ प्रकृतिक उदयस्थानमें २८, २४ और २१ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। ७ और ८ मेंसे प्रत्येक उदयस्थानमें २८, २४, २३, २२ और २१ ये पाँच-पाँच सत्त्वस्थान होते हैं। तथा ९ प्रकृतिक उदयस्थानमें २८, २४, २३ और २२ ये चार सत्त्वस्थान होते हैं। इस प्रकार यहाँ कुल १७ सत्त्वस्थान हुए। देशविरतमें १३ प्रकृतिक बन्धस्थान तथा ५, ६, ७ और ८ ये चार उदयस्थान होते हैं। सो इनमेंसे ५ प्रकृतिक उदयस्थानमें २८, २४ और २१ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। ६ और ७ मेंसे प्रत्येक उदयस्थानमें २८, २४, २३ २२ और २१ ये पाँच-पाँच सत्त्वस्थान होते हैं तथा आठ प्रकृतिक उदय स्थानमें २८, २४, २३ और २२ ये चार सत्त्वस्थान होते हैं।

इस प्रकार यहाँ कुल सत्त्वस्थान १७ हुए। प्रमत्तविरत में ९ प्रकृतिक बन्धस्थान तथा ४, ५, ६ और ७ ये चार उदयस्थान होते हैं। सो इनमेंसे ४ प्रकृतिक उदयस्थानमे २८, २४ और २१ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। ५ और ६ मेसे प्रत्येक उदयस्थानमें २८, २४ २३ २२ और २१ ये पॉच पॉच सत्त्वस्थान होते हैं। तथा सात प्रकृतिक उदयस्थानमे २८ २४, २३ और २२ ये चार सत्त्वस्थान होते हैं। इस प्रकार यहाँ कुल १७ सत्त्वस्थान हुए। अप्रमत्त संयतमे भी इसी प्रकार सत्रह सत्त्वस्थान होते हैं। अपूर्वकरणमें ९ प्रकृतिक बन्धस्थान और ४, ५ तथा ६ इन तीन उदयस्थानोंके रहते हुए प्रत्येक में २८, २४ और २१ ये तीन-तीन सत्त्वस्थान होते हैं। इस प्रकार यहाँ कुल सत्त्वस्थान ६ हुए। अनिवृत्तिकरणमें ५ ४, ३, २ और १ प्रकृतिक पॉच बन्धस्थान तथा २ और १ प्रकृतिक दो उदयस्थान होते हैं सो इनमेंसे ५ प्रकृतिक बंधस्थान और २ प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए २८, २४, २१ १३, १२ और ११ ये छह सत्त्वस्थान होते हैं। चार प्रकृतिक बन्धस्थान और एक प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए २८, २४ २१, ११, ५ और ४ ये छह सत्त्वस्थान होते हैं। तीन प्रकृतिक बन्धस्थान और एक प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए २८, २४, २१ ४ और ३ ये पांच सत्त्वस्थान होते हैं। २ प्रकृतिक बन्धस्थान और एक प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए २८, २४, २१ ३ और २ ये पॉच सत्त्वस्थान होते हैं। एक प्रकृतिक बन्धस्थान और एक प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए २८, २४, २१ २ और १ ये पॉच सत्त्वस्थान होते हैं। इस प्रकार यहाँ कुल २७ सत्त्वस्थान हुए। सूक्ष्मसम्परायमें बन्धके अभावमें एक प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए २८ २४, २१ और १ ये चार सत्त्वस्थान होते हैं। तथा उपशान्त मोह गुणस्थानमें बन्ध और उदयके बिना २८, २४

और २१ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। किस बन्धस्थान और उदयस्थानके रहते हुए कितने सत्त्वस्थान होते हैं इसकी विशेष कथनी पहले ओघप्ररूपणाके समय कर आये हैं, अत वहाँसे जान लेना चाहिये। इस प्रकार मोहनीय की प्ररूपणा समाप्त हुई।

१५. गुणस्थानों में नामकर्म के संवेध भंग

अब गुणस्थानोंमे नामकर्मके बन्ध, उदय और सत्त्वस्थानोंका विचार करते हैं—

छण्णव छक्क तिग सत्त दुग दुग तिग दुगं तिगऽट्ठ चऊ।
दुग छचउ दुग पण चउ चउ दुग चउ पणग एग चऊ ॥४९॥
एगेगमट्ठ एगेगमट्ठ छउमत्थ केवलिजिणाण।
एग चऊ एग चऊ अट्ठ चउ दु छक्कमुदयंसा ॥५०॥

अर्थ— नामकर्मके क्रमसे मिथ्यात्वमें छह, नौ छह, सास्वादनमें तीन, सात, दो, मिश्रमें दो, तीन, दो, अविरत सम्यग्दृष्टिमें तीन, आठ, चार, देशविरतमें दो, छह, चार, प्रमत्तविरतमें दो, पाँच, चार, अप्रमत्तविरतमें चार, दो, चार, अपूर्वकरणमें पाँच, एक, चार, अनिवृत्तिकरणमें एक, एक, आठ और सूक्ष्म सम्परायमें एक, एक, आठ बन्ध, उदय और सत्त्वस्थान होते हैं। छद्मस्थ जिनके क्रमसे उपशान्तमोहमें एक, चार तथा क्षीणमोहमें एक, चार उदय और सत्त्वस्थान होते हैं। तथा केवली जिनके सयोगिकेवली गुणस्थानमें आठ, चार और अयोगिकेवली गुणस्थानमे दो, छह क्रमसे उदय और सत्त्वस्थान होते हैं।

---

(१) 'छण्णव छत्तिय सग इगि दुग तिग दुग तिण्णि अट्ठ चत्तारि। दुग दुग चदु दुग पण चदु चदुरेयचदू पणेयचदू॥ एगेगमट्ठ एगेगमट्ठ चदुमट्ठ केवलिजिणाणं। एग चदुरेग चदुरो दो चदु दो छक्क बंधउदयंसा॥' —गो० कर्म० गा० ६९३-६९४।

विशेपार्थ—इन दो गाथाओंमें किस गुणस्थानमें नामकर्मके कितने बन्ध, उदय और सत्त्वस्थान होते हैं यह बतलाया है। अब आगे विस्तारसे उन्हींका विचार करते हैं—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें २३, २५, २६, २८, २९ और ३० ये छह बन्धस्थान होते हैं। इनमेंसे २३ प्रकृतिक बन्धस्थान अपर्याप्तक एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवके होता है। इसके बादर और सूक्ष्म तथा प्रत्येक और साधारणके विकल्पसे चार भङ्ग होते हैं। २५ प्रकृतिक बन्धस्थान पर्याप्त एकेन्द्रिय तथा अपर्याप्त दोइन्द्रिय तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्यगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवोंके होता है। सो इनमेंसे पर्याप्तक एकेन्द्रियके योग्य बन्ध होते समय २० भंग होते हैं और शेषकी अपेक्षा एक एक भंग होता है। इस प्रकार २५ प्रकृतिक बन्धस्थानके कुल २५ भंग हुए। २६ प्रकृतिक बन्धस्थान पर्याप्त एकेन्द्रियके योग्य बन्ध करनेवाले जीवके होता है। इसके १६ भंग होते हैं। २८ प्रकृतिक बन्धस्थान देवगति या नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवके होता है। सो देवगतिके योग्य २८ प्रकृतियोंका बन्ध होते समय ८ भंग होते हैं और नरकगतिके योग्य प्रकृतियों का बन्ध होते समय १ भंग होता है। इस प्रकार २८ प्रकृतिक बन्धस्थानके कुल नौ भंग होते हैं। २९ प्रकृतिक बन्धस्थान पर्याप्त दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्यगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवोंके होता है। सो पर्याप्त दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय और चार इन्द्रियके योग्य २९ प्रकृतियोंका बन्ध होते समय प्रत्येककी अपेक्षा आठ, आठ भंग होते हैं। तिर्यंचपचेन्द्रियके योग्य २९ प्रकृतियोंका बन्ध होते समय ४६०८ भंग होते हैं। तथा मनुष्यगतिके योग्य २९ प्रकृतियोंका बन्ध

होते समय भी ४६०८ भग होते हैं। इस प्रकार यहाँ २९ प्रकृतिक बन्धस्थानके कुल भग ९२४० होते हैं। तीर्थंकर प्रकृतिके साथ देवगतिके योग्य २९ प्रकृतिक बन्धस्थान मिथ्यादृष्टिके नहीं होता, क्योंकि तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध सम्यक्त्वके निमित्तसे होता है, अत यहाँ देवगतिके योग्य २६ प्रकृतिक बन्धस्थान नहीं कहा। तथा ३० प्रकृतिक बन्धस्थान पर्याप्त दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और तिर्यंच पचेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवोंके होता है। सो पर्याप्त दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय और चार इन्द्रियके योग्य ३० प्रकृतियोंका बन्ध होते समय प्रत्येकके आठ आठ भग होते हैं। और तिर्यंच पचेन्द्रियके योग्य ३० प्रकृतियोंका बन्ध होते समय ४६०८ भग होते हैं। इस प्रकर यहाँ ३० प्रकृतिक बन्धस्थानके कुल भग ४६३२ होते हैं। यद्यपि तीर्थंकर प्रकृतिके साथ मनुष्यगतिके योग्य और आहारकद्विकके साथ देवगतिके योग्य ३० प्रकृतियोंका बन्ध होता है पर ये दोनों ही स्थान मिथ्यादृष्टिके सम्भव नहीं, क्योंकि तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध सम्यक्त्वके निमित्तसे और आहारकद्विकका बन्ध सयमके निमित्तसे होता है। कहा भी है—

'समत्तगुणनिमित्त तित्थयर सजमेण आहार।'

अर्थात्—'तीर्थंकरका बन्ध सम्यक्त्वके निमित्तसे और आहारक द्विकका बन्ध सयमके निमित्तसे होता है।'

अत यहाँ मनुष्यगति और देवगतिके योग्य ३० प्रकृतिक बन्धस्थान नहीं कहा।

इसी प्रकार अन्तर्भाष्य गाथामें भी मिथ्यादृष्टिके २३ प्रकृतिक आदि बन्धस्थानोंके भग बतलाये हैं। यथा—

'चउ पणवीसा सोलस नव चत्ताला सया य बाणउया।
बत्तीसुत्तरछायालसया मिच्छस्स बन्धविही॥'

अर्थात्— मिथ्यादृष्टि जीवके २३ २५, २६, २८, २९ और ३० प्रकृतिक बन्धस्थानके क्रमसे ४, २५, १६ ९, ९२४० और ४६३२ भग होते हैं।'

मिथ्यादृष्टि जीवके ३१ और १ प्रकृतिक बन्धस्थान सम्भव नहीं, अत उनका यहाँ विचार नहीं किया।

मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें उदयस्थान ९ होते हैं। जो इस प्रकार हैं—२१, २४, २५, २६, २७, २८, २९ ३० और ३१। इनका नाना जीवोंकी अपेक्षासे पहले विस्तारसे वर्णन किया ही है उसी प्रकार यहाँ भी समझना। केवल यहाँ आहारकसयत, वैक्रियसयत और केवलीसम्बन्धी भग नहीं कहना चाहिये, क्योंकि ये मिथ्यादृष्टि जीवके नहीं होते हैं। मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमे इन उदयस्थानोंके भग क्रमश ४१, ११, ३२ ६००, ३१, ११९९, १७८१, २९१४ और ११६४ होते हैं। जिनका कुल जोड ७७७३ होता है। वैसे इन उदयस्थानोंके कुल भग ७७९१ होते हैं जिनमेंसे केवलीके ८, आहारक साधुके ७ और उद्योत सहित वैक्रिय मनुष्यके ३ इन १८ भगोंके कम कर देने पर ७७७३ भग प्राप्त होते हैं।

तथा मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमे ९२, ८९, ८८, ८६, ८० और ७८ ये छह सत्त्वस्थान होते हैं। मिथ्यात्वमें आहारक चतुष्क और तीर्थंकरकी एक साथ सत्ता नहीं होती, अत यहाँ ९३ प्रकृतिक सत्त्वस्थान नहीं कहा। ९२ प्रकृतिक सत्त्वस्थान चारों गतियोंके मिथ्यादृष्टि जीवके सम्भव है, क्योंकि आहारक चतुष्ककी सत्तावाला किसी भी गतिमें उत्पन्न होता है। मिथ्यात्वमें ८९ प्रकृतियोंकी सत्ता सबके नहीं होती किन्तु नरकायुका बन्ध करनेके पश्चात् वेदक सम्यग्दृष्टि होकर जो तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध करता है और जो अन्त समयमें मिथ्यात्वको प्राप्त होकर नरकमे जाता

है उसीके अन्तर्मुहूर्त कालतक मिथ्यात्वमें ८६ प्रकृतियोंकी सत्ता होती है। ८८ प्रकृतियोंकी सत्ता चारों गतियोंके मिथ्यादृष्टि जीवोंके सम्भव है क्योंकि चारों गतियोंके मिथ्यादृष्टि जीवोंके ८८ प्रकृतियोंकी सत्ता होनेमें कोई बाधा नहीं है। ८६ और ८० प्रकृतियोंकी सत्ता उन एकेन्द्रिय जीवोंके होती है जिन्होंने यथायोग्य देवगति या नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंकी उद्वलना की है। तथा ये जीव जब एकेन्द्रिय पर्यायसे निकलकर विकलेन्द्रिय, तिर्यंचपचेन्द्रिय और मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं तब इनके भी सब पर्याप्तियोंके पर्याप्त होनेके अनन्तर अन्तर्मुहूर्त कालतक ८६ और ८० प्रकृतियोंकी सत्ता पाई जाती है। किन्तु इसके आगे वैक्रिय शरीर आदिका बन्ध होने के कारण इन स्थानोंकी सत्ता नहीं रहती। ७८ प्रकृतियोंकी सत्ता उन अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंके होती है जिन्होंने मनुष्यगति और मनुष्यगत्यानुपूर्वीकी उद्वलना कर दी है। तथा जब ये जीव मरकर विकलेन्द्रिय और तिर्यंच पचेन्द्रिय जीवोंमें उत्पन्न होते हैं तब इनके भी अन्तर्मुहूर्त कालतक ७८ प्रकृतियोंकी सत्ता पाई जाती है।

इस प्रकार सामान्यसे मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें बन्ध, उदय और सत्त्वस्थानोंका कथन करके अब उनके संवेधका विचार करते हैं—

२३ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवके पूर्वोक्त नो ही उदयस्थान सम्भव हैं। किन्तु २१, २५ २७, २८, २९ और ३० इन छह उदयस्थानोंमें देव और नारकियों सम्बन्धी जो भंग हैं वे यहाँ नहीं पाये जाते हैं क्योंकि २३ में अपर्याप्त एकेन्द्रियोंके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध होता है, परन्तु देव अपर्याप्त एकेन्द्रियोंके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध नहीं करते, क्योंकि देव अपर्याप्त एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न नहीं होते। इसी प्रकार नारकी भी २३ प्रकृतियोंका

बन्ध नहीं करते क्योंकि नारकियोंके सामान्यसे ही एकेन्द्रियोंके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता। अतः यह सिद्ध हुआ कि २३ प्रकृतिक बन्धस्थानोंमें देव और नारकियोंके उदयस्थान सम्बन्धी भंग नहीं प्राप्त होते। तथा यहाँ ९२, ८८, ८६, ८० और ७८ ये पाँच सत्त्वस्थान होते हैं। सो २१, २४, २५ और २६ इन चार उदयस्थानोंमें उक्त पाँचों ही सत्त्वस्थान होते हैं। तथा २७, २८, २९, ३० और ३१ इन पाँच उदयस्थानोंमें ७८ के बिना पूर्वोक्त चार, चार सत्त्वस्थान होते हैं। इस प्रकार यहाँ सब उदयस्थानोंकी अपेक्षा कुल ४० सत्त्वस्थान होते हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि २५ प्रकृतिक उदयस्थानमें ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंके ही होता है। तथा २६ प्रकृतिक उदयस्थानमें ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंके भी होता है और जो अग्निकायिक तथा वायुकायिक जीव मरकर विकलेन्द्रिय और तिर्यंच पचेन्द्रियोंमें उत्पन्न होते हैं कुछ काल तक उनके भी होता है। २५ और २६ प्रकृतिक बन्धस्थानोंमें भी इसी प्रकार कथन करना चाहिये। किन्तु इतनी विशेषता है कि देव भी अपने सब उदयस्थानोंमें रहते हुए पर्याप्त एकेन्द्रियके योग्य २५ और २६ प्रकृतिक स्थानोंका बन्ध करता है। परन्तु इसके २५ प्रकृतिक बन्धस्थानके बादर, पर्याप्त और प्रत्येक प्रायोग्य आठ ही भंग होते हैं बाकीके १२ भंग नहीं होते, क्योंकि देव सूक्ष्म, साधारण और अपर्याप्तकोंमें नहीं उत्पन्न होता इससे उसके इनके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध भी नहीं होता। इस प्रकार यहाँ भी चालीस चालीस सत्त्वस्थान होते हैं। २८ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले मिथ्यादृष्टिके ३० और ३१ ये दो उदयस्थान होते हैं। इनमेंसे ३० प्रकृतिक उदयस्थान तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्य दोनोंके

होता है और ३१ प्रकृतिक उदयस्थान तिर्यंचपचेन्द्रिय जीवोंके ही होता है। इसके ९०, ८६, ८८ और ८६ ये चार सत्त्वस्थान होते हैं सो इनमेंसे ३० प्रकृतिक उदयस्थानमें चारों सत्त्वस्थान होते हैं। उसमें भी ८९ प्रकृतिक सत्त्वस्थान उसीके जानना चाहिये जिसके तीर्थकर प्रकृतिकी सत्ता है और जो मिथ्यात्वमें आकर नरकगतिके योग्य २८ प्रकृतियोंका बन्ध करता है। शेप तीन सत्त्वस्थान प्राय सब तिर्यंच और मनुष्योंके सम्भव हैं तथा ३१ प्रकृतिक उदयस्थानमें ८९ को छोडकर शेप तीन सत्त्वस्थान पाये जाते हैं। ८९ प्रकृतिक सत्त्वस्थान तीर्थंकर प्रकृति सहित होता है परन्तु तिर्यंचोंमें तीर्थंकर प्रकृतिका सत्त्व सम्भव नहीं, अत ३१ प्रकृतिक उदयस्थानमें ८९ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका निषेध किया है। इस प्रकार २८ प्रकृतिक बन्धस्थानमें ३० और ३१ इन दो उदयस्थानोंकी अपेक्षा ७ सत्त्वस्थान होते हैं। देवगति प्रायोग्य २६ प्रकृतिक बन्धस्थानको छोडकर शेप विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्यगतिके योग्य २६ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवके सामान्यसे पूर्वोक्त ९ उदयस्थान और ९२, ८९, ८८, ८६, ८० तथा ७८ ये छह सत्त्वस्थान होते हैं। इनमेंसे २१ प्रकृतिक उदयस्थानमें ये सभी सत्त्वस्थान प्राप्त होते हैं। उनमें भी ८९ प्रकृतिक सत्त्वस्थान उसी जीवके होता है जिसने नरकायुका वन्ध करनेके पश्चात् वेदकसम्यक्त्वको प्राप्त करके तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध कर लिया है। तदनन्तर जो मिथ्यात्वमें जाकर और मरकर नारकियोंमें उत्पन्न हुआ है। तथा ९२ और ८८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान देव, नारकी, मनुष्य, विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पचेन्द्रिय और एकेन्द्रियोंकी अपेक्षा जानना चाहिये। ८६ और ८० प्रकृतिक सत्त्वस्थान विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पचेन्द्रिय, मनुष्य और एकेन्द्रियोंकी अपेक्षा जानना चाहिये।

तथा ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और तिर्यंच पचेन्द्रियोंकी अपेक्षा जानना चाहिये। २४ प्रकृतिक उदयस्थानमें ८६ को छोडकर शेष ५ सत्त्वस्थान होते हैं। जो सब एकेन्द्रियोंकी अपेक्षा जानना चाहिये, क्योंकि एकेन्द्रियोंको छोडकर शेष जीवोंके २४ प्रकृतिक उदयस्थान नहीं होता। २५ प्रकृतिक उदयस्थानमें पूर्वोक्त छहों सत्त्वस्थान होते हैं। सो इनका विशेष विचार २१ प्रकृतिक उदयस्थानके समान जानना चाहिये। २६ प्रकृतिक उदयस्थानमें ८६ को छोडकर शेष पाँच सत्त्वस्थान होते हैं। यहाँ ८६ प्रकृतिक सत्त्वस्थानके नहीं प्राप्त होनेका कारण यह है कि मिथ्यात्वमें उस जीवके यह सत्त्वस्थान होता है जो नारकियोंमें उत्पन्न होनेवाला है पर नारकियोंके २६ प्रकृतिक उदयस्थान नहीं होता। २७ प्रकृतिक उदयस्थानमें ७८ के बिना शेष ५ सत्त्वस्थान होते हैं। ८६ प्रकृतिक सत्त्वस्थान किसके होता है इसका व्याख्यान तो पहलेके समान जानना चाहिये। ९२ और ८८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान देव, नारकी, मनुष्य, विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पचेन्द्रिय और एकेन्द्रियोंकी अपेक्षा जानना चाहिये। तथा ८६ और ८० सत्त्वस्थान एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, तिर्यंचपचेन्द्रिय और मनुष्योंकी अपेक्षा जानना चाहिये। यहाँ ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान इसलिये सम्भव नहीं है, क्योंकि २७ प्रकृतिक उदयस्थान अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंको छोडकर आतप या उद्योतके साथ अन्य एकेन्द्रियोंके होता है या नारकियोंके होता है पर इनके ७८ की सत्ता नहीं पाई जाती। २८ प्रकृतिक उदयस्थानमें ये ही पाँच सत्त्वस्थान होते हैं। सो इनमेंसे ९२, ८६ और ८८ का विवेचन पूर्ववत् है। तथा ८६ और ८० ये सत्त्वस्थान विकलेन्द्रिय, तिर्यंचपचेन्द्रिय और मनुष्योंके जानना चाहिये। २६ प्रकृतिक

उदयस्थानमें भी इसी प्रकार ५ सत्त्वस्थान जानना चाहिये। ३० प्रकृतिक उदयस्थानमें ९२ ८८ ८६ और ८० ये ४ सत्त्वस्थान होते हैं। सो य चारों ही विकलेन्द्रिय तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्योंकी अपेक्षा जानना चाहिये। नारकियोंके ३० प्रकृतिक उदयस्थान नहीं होता अत यहाँ ८९ प्रकृतिक सत्त्वस्थान नहीं कहा। तथा ३१ प्रकृतिक उदयस्थानमें भी ये ही चार सत्त्वस्थान होते हैं जो विकलेन्द्रिय और तिर्यंच पचेन्द्रियोंकी अपेक्षा जानना चाहिये। इस प्रकार २६ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवके ४५ सत्त्वस्थान होते हैं। तथा मनुष्य और देवगतिके योग्य ३० प्रकृतिक बन्धस्थानको छोडकर शेष विकलेन्द्रिय और तिर्यंच पचेन्द्रियके योग्य ३० प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवके सामान्यसे पूर्वोक्त ६ उदयस्थान और ८९ को छाडकर पाँच-पाँच सत्त्वस्थान होते हैं। यहाँ ८६ प्रकृतिक सत्त्वस्थान सम्भव नहीं क्योंकि ८६ प्रकृतिक सत्त्व स्थानवाले जीवके तिर्यंचगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता। यहाँ २१, २४, २५, २६ इन चार उदयस्थानोंमें उन पाँचों सत्त्वस्थानोंका कथन तो पहलेके समान करना चाहिये। अब शेष रहे २७, २८, २९, ३० और ३१ ये पाँच उदयस्थान सो इनमेंसे प्रत्येकमें ७८ के बिना शेष चार सत्त्वस्थान होते हैं। इस प्रकार ३० प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवके कुल ४० सत्त्वस्थान होते हैं। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीवके बन्ध, उदय और सत्ताका सवेध समाप्त हुआ।

मिथ्यात्वमें नामकर्मके बन्धादिस्थानोंके संवेधका ज्ञापक कोष्ठक—

[३८]

बन्धस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२३	४	२१	३२	९२,८८ ८६ ८०,७८
		२४	११	९२,८८,८६,८०,७८
		२५	२३	९२ ८८ ८६, ०,७८
		२६	६००	९२,८८,८६ ८० ७८
		२७	२२	९२,८८,८६,८०
		२८	११८२	९२ ८८ ८६,८०
		२९	१७६४	९२ ८८,८६ ८०
		३०	२९०६	९२ ८८ ८६,८०
		३१	११६०	९२,८८,८६,८०
२५	२५	२१	४०	९२ ८८,८६ ८०,७८
		२४	११	९२ ८८ ८६ ८०,७८
		२५	३१	९२ ८८ ८६ ८० ७८
		२६	६००	९२ ८८,८६ ८० ७८
		२७	३०	९२ ८८,८६,८०
		२८	११९८	९२ ८८,८६,८०
		२९	१७८०	९२ ८८ ८६ ८०
		३०	२९१४	९२ ८८,८६,८०
		३१	११६४	९२,८८ ८६,८०
२६	१६	२१	४०	९२,८८ ८६,८० ७८
		२४	११	९२ ८८ ८६,८०,७८
		२५	३१	९२ ८८ ८६ ८०,७८
		२६	६००	९२,८८,८६ ८०,७८
		२७	३०	९२ ८८ ८६ ८०
		२८	११९८	९२,८८ ८६ ८०
		२९	१७८०	९२ ८८,८६,८०
		३०	२९१४	९२,८८ ८६ ८०
		३१	११६४	९२,८८,८६ ८०

बन्धस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२८	९	२१	१०	९०,८०
		२५	१७	९२ ८८
		२६	५७६	९२ ८८
		२७	१७	९२,८८
		२८	११७६	९२ ८८
		२९	१७४४	९२,८८
		३०	२८९०	९२,८९,८८,८६
		३१	११५२	९२,८८ ८६
२९	९२४०	२१	४१	९२,८९,८८,८६,८० ७८
		२४	११	९२ ८८,८६ ८० ७८
		२५	३२	९२,८९,८८,८६,८०,७८
		२६	६००	९२,८९ ८८,८६,८० ७८
		२७	३१	९२,८९,८८,८६,८०
		२८	११९९	९२ ८९ ८८,८६,८०
		२९	१७८१	९२ ८९,८८ ८६,८०
		३०	२९१४	९२,८९,८८,८६ ८०
		३१	११६४	९२ ८९ ८८,८६,
३०	४६३२	२१	४१	९२,८९,८८,८६,८०,७८
		२४	११	९२,८८,८६,८० ७८
		२५	३२	९२,८९,८८,८६ ८०,७८
		२६	६००	९२ ८८ ८६ ८० ७८
		२७	३१	९२,८९,८८ ८६ ८०
		८	११९९	९२,८९,८८ ८६ ८०
		२९	१७८१	९२ ८९ ८८,८६ ८०
		३०	२९१४	९२,८९,८८ ८६,८०
		३१	११६४	९२ ८८ ८६ ८०
६	१३९२६	५३	४६३८८	७३३

सास्वादनमें बन्धस्थान तीन हैं—२८, २९ और ३०। इनमेंसे २८ प्रकृतिक बन्धस्थान दो प्रकार का है नरक गति प्रायोग्य और देवगति प्रायोग्य। सास्वादन जीवों के नरकगति प्रायोग्य का तो बन्ध होता नहीं। देवगति प्रायोग्य का होता है सो उसके बन्धक पर्याप्त तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्य होते हैं। इसके आठ भंग होते हैं। यद्यपि २९ प्रकृतिक बन्धस्थानके अनेक भेद हैं किन्तु सास्वादन में बंधने योग्य इसके दो भेद हैं—तिर्यंच गतिप्रायोग्य और मनुष्यगतिप्रायोग्य। जो इन दोनों को सास्वादन एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पचेन्द्रिय, मनुष्य, देव और नारकी जीव बाँधते हैं। यहाँ इसके कुल भंग ६४०० होते हैं, क्योंकि यद्यपि सास्वादन तिर्यंचगतिप्रायोग्य या मनुष्यगति प्रायोग्य २९ प्रकृतियों को बाँधते हैं तो भी वे हुंडसंस्थान और सेवार्त संहनन का बन्ध नहीं करते, क्योंकि इन दो प्रकृतियों का बन्ध केवल मिथ्यात्व गुणस्थान में ही होता है, अत यहाँ पाँच संहनन, पाँच संस्थान प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति युगल, स्थिर अस्थिर युगल, शुभ-अशुभ युगल, सुभग-दुर्भगयुगल, सुस्वर दुःस्वरयुगल, आदेय अनादेय-युगल और यश कीर्ति अयश कीर्ति युगल इस प्रकार इनके परस्पर गुणित करने पर ३२०० भंग होते हैं। ये ३२०० भंग तिर्यंच-गतिप्रायोग्यके भी होते हैं और मनुष्यगति प्रायोग्यके भी होते हैं। इस प्रकार कुल भंग ६४०० हुए। तथा यद्यपि ३० प्रकृतिक बन्धस्थानके अनेक भेद हैं किन्तु सास्वादनमें बंधने योग्य यह एक उद्योतसहित तिर्यंचगति प्रायोग्य ही है। जिसे सास्वादन एकेन्द्रिय,

विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पचेन्द्रिय, मनुष्य, देव और नारकी जीव बाधते हैं। इसके कुल भग ३२०० होते हैं। इस प्रकार सास्वादनमें तीन बन्धस्थान और उनके भग ९६०८ होते हैं। अन्तर्भाष्य गाथामें भी कहा है—

'अट्ठ य सय चोवट्ठिं बत्तीस सया य सासणे भेया।
अट्ठावीसाईसु सव्वाणट्ठहिग छण्णाउई ॥'

अर्थात्—'सास्वादनमें २८ आदि बन्धस्थानोंके क्रमसे ८, ६४०० और ३२०० भेद होते हैं। तथा ये सब मिल कर ९६०८ होते हैं।'

सास्वादनमें उदयस्थान ७ हैं—२१, २४, २५, २९, २९, ३० और ३१। इनमेंसे २१प्रकृतियोंका उदय एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, तिर्यंचपचेन्द्रिय, मनुष्य और देवोंके होता है। नारकियोंमें सास्वादन सम्यग्दृष्टि जीव नहीं उत्पन्न होते अत सास्वादनमें नारकियोंके २१ प्रकृतिक उदयस्थान नहीं कहा। एकेन्द्रियोंके २१ प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए बादर और पर्याप्तकके साथ यश कीर्तिके विकल्पसे दो भग ही सम्भव हैं, क्यों कि सूक्ष्म और अपर्याप्तकोंमें सास्वादन जीव नहीं उत्पन्न होता और इसीलिये विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्योंके प्रत्येक और अपर्याप्तकके साथ जो एक एक भग होता है वह वहा सम्भव नहीं है। हा शेष भग सम्भव हैं। जो विकलेन्द्रियोंके दो, दो इस प्रकार छह तिर्यंचपचेन्द्रियोंके ८, मनुष्योंके ८ और देवोंके ८ होते हैं। इस प्रकार २१ प्रकृतिक—

उदयस्थानके कुल मिला कर ३२ भंग हुए। २४ प्रकृतिक उदयस्थान उन्हीं जीवोंके होता है जो एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होते हैं। सो यहा इसके बादर और पर्याप्तकके साथ यश कीर्ति और अयश कीर्तिके विकल्पसे दो ही भंग होते हैं, शेष भंग नहीं होते, क्योंकि सूक्ष्म, साधारण अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंमें सास्वादन सम्यग्दृष्टि जीव नहीं उत्पन्न होता। सास्वादनमें २५ प्रकृतिक उदय-स्थान उसीके प्राप्त होता है जो देवोंमें उत्पन्न होता है। सो इसके यहा स्थिर अस्थिर, शुभ अशुभ और यश कीर्ति-अयश कीर्तिके विकल्पसे ८ भंग होते हैं। २६ प्रकृतिक उदयस्थान उन्हींके होता है जो विकलेन्द्रिय, तिर्यंचपंचेन्द्रिय और मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं। इस स्थानमें अपर्याप्तकके साथ जो एक एक भंग पाया जाता है वह यहाँ सम्भव नहीं है, क्योंकि अपर्याप्तकोंमें सास्वादन सम्यग्दृष्टि जीव नहीं उत्पन्न होते। किन्तु शेष भंग सम्भव हैं। जो विकलेन्द्रियोंके दो, दो इस प्रकार छह, तिर्यंच पंचेन्द्रियोंके २८८ और मनुष्योंके २८८ होते हैं। इस प्रकार यहा २६ प्रकृतिक उदयस्थानमें कुल मिलाकर ५८२ भंग होते हैं। यहा २७ और २८ प्रकृतिक उदयस्थान सम्भव नहीं है, क्यों कि वे नवीन भव ग्रहणके एक अन्तर्मुहूर्त कालके जाने पर होते हैं। किन्तु सास्वादनभाव उत्पत्तिके बाद अधिकसे अधिक कुछ कम ६ आवलिकाल तक ही प्राप्त होता है। अत उक्त दोनों स्थान सास्वादनसम्यग्दृष्टिके नहीं होते यह सिद्ध हुआ। २९ प्रकृतिक उदयस्थान प्रथम सम्यक्त्वसे च्युत होनेवाले पर्याप्तक स्वस्थानगत देव और नारकियोंके प्राप्त होता है। २९ प्रकृतिक

उदयस्थानमें देवोंके ८ और नारकियोंके १ इस प्रकार इसके यहां कुल ९ भंग होते हैं। सास्वादनमें ३० प्रकृतिक उदयस्थान प्रथम सम्यक्त्वसे च्युत होनेवाले पर्याप्तक तिर्यंच और मनुष्योंके या उत्तर विक्रियामें विद्यमान देवोंके होता है। ३० प्रकृतिक उदयस्थानमें तिर्यंच और मनुष्योंमेंसे प्रत्येकके ११५२ और देवोंके ८ इस प्रकार कुल २३१२ भंग होते हैं। तथा ३१ प्रकृतिक उदयस्थान प्रथम सम्यक्त्वसे च्युत होनेवाले पर्याप्तक तिर्यंचोंके होता है। यहां इसके कुल भंग ११५२ होते हैं। इस प्रकार सास्वादन में ७ उदयस्थान होते हैं। अन्तर्भाष्य गाथामें भी इनके भंग निम्न प्रकारसे गिनाये हैं—

'बत्तीस दोन्नि अट्ठ य बासीस सया य पंच नव उदया।
बारहिगा तेवीसा बावन्नेक्कारस सया य॥'

अर्थात्—'सास्वादनमें २१, २४, २५, २६, २९, ३० और ३१ इन उदयस्थानोंके क्रमसे ३२, २, ८, ५८२, ९, २३१२ और ११५२ भंग होते हैं।'

तथा सास्वादनमें दो सत्तास्थान होते हैं—९२ और ८८। इनमें से जो आहारक चतुष्कका बन्ध करके उपशमश्रेणीसे च्युत होकर सास्वादन भावको प्राप्त होता है उसके ९२ की सत्ता पाई जाती है अन्यके नहीं। ८८ की सत्ता चारों गतियोंके सास्वादन जीवोंके पाई जाती है। इस प्रकार सास्वादनमें बन्ध उदय और सत्त्व स्थानोंका विवेचन समाप्त हुआ।

अब इनके संवेधका विचार करते हैं—२८ प्रकृतियोंका बन्ध

करनेवाले सासादनके २ उदयस्थान होते हैं ३० और ३१। यह नियम है कि सासादन जीव देवगति प्रायोग्य ही २८ का बन्ध करता है नरकगति प्रायोग्य २८ का नहीं। उसमें भी करण-पर्याप्त सासादन जीव ही देवगतिप्रायोग्यको बांधता है अतः यहां ३० और ३१ इन दो उदयस्थानोंको छोड़कर शेष उदयस्थान सम्भव नहीं। अब यदि मनुष्योंकी अपेक्षा ३० प्रकृतिक उदयस्थानका विचार करते हैं तो यहां ६२ और ८८ ये दोनों सत्तास्थान सम्भव हैं। और यदि तिर्यंच पंचेन्द्रियोंकी अपेक्षा ३० प्रकृतिक उदय-स्थानका विचार करते हैं तो यहां ८८ यह एक ही सत्तास्थान सम्भव है, क्योंकि ६२ की सत्ता उसीके प्राप्त होती है जो उपशम-श्रेणिसे च्युत होकर सास्वादनभावको प्राप्त होता है किन्तु तिर्यंचोंमें उपशमश्रेणि सम्भव नहीं अतः यहां उनके ९२ प्रकृतिक सत्तास्थानका निषेध किया। तथा ३१ प्रकृतिक उदयस्थानमें ८८ की ही सत्ता रहती है, क्यों कि ३१ प्रकृतिक उदयस्थान तिर्यंचोंके ही प्राप्त होता है। तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्योंके योग्य २९ का बन्ध करनेवाले सास्वादन जीवोंके पूर्वोक्त सातों ही उदयस्थान सम्भव हैं। सो इनमेंसे और सब उदयस्थानोंमें तो एक ८८ की ही सत्ता होती है किन्तु ३० के उदयमें मनुष्योंके ६२ और ८८ ये दोनों ही सत्तास्थान सम्भव हैं। २६ के समान ३० प्रकृतिक बन्धस्थानका भी कथन करना चाहिये इस प्रकार सास्वादनमें कुल ८ सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार सास्वादनमें बन्ध, उदय और सत्तास्थानोंका संवेध समाप्त हुआ।

उदयस्थानमें देवोंके ८ और नारकियोंके १ इस प्रकार इसके यहा कुल ६ भंग होते हैं। सास्वादनमें ३० प्रकृतिक उदयस्थान प्रथम सम्यक्त्वसे च्युत होनेवाले पर्याप्तक तिर्यंच और मनुष्योंके या उत्तर विक्रियामें विद्यमान देवोंके होता है। ३० प्रकृतिक उदयस्थानमें तिर्यंच और मनुष्योंमेंसे प्रत्येकके ११५२ और देवोंके ८ इस प्रकार कुल २३१२ भंग होते हैं। तथा ३१ प्रकृतिक उदयस्थान प्रथम सम्यक्त्वसे च्युत होनेवाले पर्याप्तक तिर्यंचोंके होता है। यहा इसके कुल भंग ११५२ होते हैं। इस प्रकार सास्वादन में ७ उदयस्थान होते हैं। अन्तर्भाष्य गाथामें भी इनके भंग निम्न प्रकारसे गिनाये हैं—

'बत्तीस दोन्नि अट्ठ य बासीस सया य पंच नव उदया।
बारहिगा तेवीसा बावन्नेक्कारस सया य॥'

अर्थात्—'सास्वादनमें २१, २४, २५, २६, २९, ३० और ३१ इन उदयस्थानोंके क्रमसे ३२, २, ८, ५८२, ९, २३१२ और ११५२ भंग होते हैं।'

तथा सास्वादनमें दो सत्तास्थान होते हैं—९२ और ८८। इनमें से जो आहारक चतुष्कका बन्ध करके उपशमश्रेणीसे च्युत होकर सास्वादन भावको प्राप्त होता है उसके ९२ की सत्ता पाई जाती है अन्यके नहीं। ८८ की सत्ता चारों गतियोंके सास्वादन जीवोंके पाई जाती है। इस प्रकार सास्वादनमें बन्ध उदय और सत्त्वस्थानोंका विवेचन समाप्त हुआ।

अब इनके संवेधका विचार करते हैं—२८ प्रकृतियोंका बन्ध

करनेवाले सास्वादनके ७ उदयस्थान होते हैं ३० और ३१। यह नियम है कि सास्वादन जीव देवगति प्रायोग्य ही २८ का बन्ध करता है नरकगति प्रायोग्य २८ का नहीं। उसमें भी करण-पर्याप्त सास्वादन जीव ही देवगतिप्रायोग्यको बांधता है अत यहा ३० और ३१ इन दो उदयस्थानोंको छोडकर शेष उदयस्थान सम्भव नहीं। अत यदि मनुष्योकी अपेक्षा ३० प्रकृतिक उदयस्थानका विचार करते है तो वहा ९२ और ८८ ये दोनों सत्तास्थान सम्भव हैं। और यदि तिर्यंच पचेन्द्रियोकी अपेक्षा ३० प्रकृतिक उदय-स्थानका विचार करते हैं तो वहा ८८ यह एक ही सत्तास्थान सम्भव हैं क्योंकि ९२ की सत्ता उसीके प्राप्त होती है जो उपशम-श्रेणिसे च्युत होकर सास्वादनभावको प्राप्त होता है किन्तु तिर्य-चोंमें उपशमश्रेणि सम्भव नहीं अत यहा उनके ९२ प्रकृतिक सत्तास्थानका निषेध किया। तथा ३१ प्रकृतिक उदयस्थानमें ८८ की ही सत्ता रहती है, क्यो कि ३१ प्रकृतिक उदयस्थान तिर्यंचोके ही प्राप्त होता है। तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्योके योग्य २९ का बन्ध करनेवाले सास्वादन जीवोंके पूर्वोक्त सातों ही उदयस्थान सम्भव हैं। सो इनमेंसे और सब उदयस्थानोंमें तो एक ८८ की ही सत्ता होती है किन्तु ३० के उदयमें मनुष्योंके ९२ और ८८ ये दोनों ही सत्तास्थान सम्भव है। २९ के समान ३० प्रकृतिक बन्धस्थानका भी कथन करना चाहिये इस प्रकार सास्वादनमें कुल ८ सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार सास्वादनमें बन्ध, उदय और सत्तास्थानोंका संवेध समाप्त हुआ।

सास्वादनमें नामकर्मके बन्ध, उदय और सत्तास्थानोंके संवेधका ज्ञापक कोष्ठक—

[३९]

बन्धस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२८	८	३० ३१	२३१२ ११५२	९२, ८८ ८८
२९	६४००	२१ २४ २५ २६ २९ ३० ३१	३२ २ ८ ५८२ ९ २३१२ ११५२	८८ ८८ ८८ ८८ ८८ ९२, ८८ ८८
३०	३२००	२१ २४ २५ २६ २९ ३० ३१	३२ २ ८ ५८२ ९ २३१२ ११५२	८८ ८८ ८८ ८८ ८८ ९२, ८८ ८८
३	९६०८	१६	११६५८	१९

मिश्र गुणस्थानमें बन्धस्थान २ हैं—२८ और २९। इनमें से २८ प्रकृतिक बन्धस्थान तिर्यंच और मनुष्योंके होता है, क्योंकि ये मिश्र गुणस्थानमें देवगतिके योग्य प्रकृतियों का ही बन्ध करते हैं। इसके यहाँ ८ भंग होते हैं। तथा २९ प्रकृतिक बन्धस्थान देव और नारकियोंके होता है, क्योंकि ये मिश्र गुणस्थानमें मनुष्य गतिके योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं। इसके भी आठ ही भंग होते हैं। दोनो स्थानोंमें ये ८ भंग स्थिर-अस्थिर, शुभ अशुभ और यश कीर्ति अयश कीर्त्तिके विकल्पसे प्राप्त होते हैं।

यहाँ उदयस्थान तीन होते हैं—२९, ३० और ३१। २९ प्रकृतिक उदयस्थान देव और नारकियोंके होता है। इस स्थानके देवो के ८ और नारकियोके १ इस प्रकार ९ भंग होते हैं। ३० प्रकृतिक उदयस्थान तिर्यंच और मनुष्योंके होता है। इसमें तिर्यंचोंके ११५२ और मनुष्योंके ११५२ इस प्रकार कुल २३०४ भंग होते हैं। ३१ प्रकृतिक उदयस्थान तिर्यंच पंचेन्द्रियोंके ही होता है। इसके यहाँ कुल भंग ११५२ होते हैं। इस प्रकार मिश्रमें तीनों उदयस्थानोंके भंग ३४६५ होते हैं।

तथा मिश्रमें सत्तास्थान २ होते हैं—९२ और ८८। इस प्रकार मिश्रमें बन्ध, उदय और सत्तास्थानो का विवेचन समाप्त हुआ।

अब इनके संवेधका विचार करते हैं—२८ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले सम्यग्मिथ्यादृष्टिके २ उदयस्थान होते हैं—३० और ३१। तथा प्रत्येक उदयस्थानमें ९२ और ८८ ये दो दो सत्तास्थान होते

हैं। २९ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवालेके एक २९ प्रकृतिक ही उदयस्थान होता है। यहाँ भी ९२ और ८८ ये दो सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार मिश्र गुणस्थानमें तीन उदयस्थानों की अपेक्षा छह सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार मिश्रमें बन्ध, उदय और सत्तास्थानोंका संवेध समाप्त हुआ।

मिश्रमें नामकर्मके बन्ध, उदय और सत्तास्थानोंके संवेधका ज्ञापक कोष्ठक—

[४०]

बन्धस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२८	८	३०	२३०४	९२, ८८
		३१	११५२	९२, ८८
२९	८	२९	९	९२, ८८
२	१६	३	३४६५	६

अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमे तीन वन्धस्थान हैं—२८, २६ और ३०। देवगतिके योग्य प्रकृतियोंका वन्ध करनेवाले अविरत सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्योके २८ प्रकृतिक वन्धस्थान होता है। इसके आठ भग हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्य शेष गतियोके योग्य प्रकृतियोका वन्ध नहीं करते इसलिये यहाँ नरक गतिके योग्य २८ प्रकृतिक वन्धस्थान नहीं प्राप्त होता। २९ प्रकृतिक वन्धस्थान दो प्रकारसे होता है। एक तो तीर्थंकर प्रकृतिके साथ देवगतिके योग्य प्रकृतियोका वन्ध करनेवाले मनुष्योके होता है। इसके भी आठ भग होते हैं। दूसरा मनुष्यगतिके योग्य प्रकृतियोंका वन्ध करनेवाले देव और नारकियोंके होता है। यहाँ भी वे ही आठ भग होते हैं। तथा तीर्थंकर प्रकृतिके साथ मनुष्यगतिके योग्य प्रकृतियोंका वन्ध करनेवाले देव और नारकियोके ३० प्रकृतिक वन्धस्थान होता है। इसके भी वे ही आठ भग होते हैं।

यहाँ उदयस्थान ८ होते हैं—२१, २५, २६, २७, २८, २९, ३० और ३१। इनमेसे २१ प्रकृतियोंका उदय नारकी, तिर्यंच पचेन्द्रिय मनुष्य और देवोंके जानना चाहिये। क्योंकि जिसने आयुकर्मके वन्धके पश्चात् क्षायिकसम्यग्दर्शन को प्राप्त किया है उसके चारों गतियोंमें २१ प्रकृतिक उदयस्थान सम्भव है। किन्तु अविरतसम्यग्दृष्टि जीव अपर्याप्तकोंमें उत्पन्न नहीं होता अतः यहाँ अपर्याप्तक सम्बन्धी भगोंको छोड़कर शेष भग पाये जाते है। जो तिर्यंच पचेन्द्रियोंके ८, मनुष्योंके ८, देवोंके ८ और नारकियोंका १ इस

प्रकार २५ होते हैं। २५ और २७ प्रकृतिक उदयस्थान देव और नारकियोंके तथा विक्रिया करनेवाले तिर्यंच और मनुष्योंके जानना चाहिये। यहाँ जो २५ और २७ प्रकृतिक स्थानोंका नारकी और देवोंको स्वामी बतलाया है सो यह नारकी वेदकसम्यग्दृष्टि या क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही होता है और देव तीनमें से किसी भी सम्यग्दर्शनवाला होता है। चूर्णि में भी कहा है—

पणवीस-सत्तावीसोदया देवनेरइए विउव्वियतिरिय-मणुए य पडुच्च। नेरइगो खइगवेयगसम्मद्दिट्ठी देवो तिविहसम्मद्दिट्ठी वि ॥'

अर्थात्—'अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें २५ और २७ प्रकृतिक उदयस्थान देव, नारकी और विक्रिया करने वाले तिर्यंच और मनुष्योंके होता है। सो ऐसा नारकी या तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है या वेदक सम्यग्दृष्टि किन्तु देवके तीन सम्यग्दर्शनोंमें से कोई एक होता है।'

२६ प्रकृतिक उदयस्थान क्षायिक सम्यग्दृष्टि या वेदक सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्योंके होता है। औपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव तिर्यंच और मनुष्योंमें उत्पन्न नहीं होता, अत यहाँ तीनों प्रकारके सम्यग्दृष्टियोंके होता है ऐसा नहीं कहा। उसमे भी तिर्यंचोंके मोहनीय की २२ प्रकृतियों की सत्ता की अपेक्षा ही यहाँ वेदक सम्यक्त्व जानना चाहिये। २८ और २९ प्रकृतियोंका उदय चारों गतिके अविरत सम्यग्दृष्टि जीवोंके होता है। ३० प्रकृतिक उदयस्थान तिर्यंच पचेन्द्रिय, मनुष्य और देवोंके होता है। तथा ३१ प्रकृतिक उदयस्थान तिर्यंच पचेन्द्रियोंके ही होता है।

यहाँ सत्तास्थान चार हैं—९३, ९२, ८९ और ८८। सो जिस अप्रमत्तसंयत और अपूर्वकरण जीवने तीर्थंकर और आहारकके साथ ३१ प्रकृतियोंका बन्ध किया और पश्चात् मर कर अविरत सम्यग्दृष्टि देव हो गया उसके ९३ की सत्ता है। जिसने पहले आहारक चतुष्कका बन्ध किया और तदनन्तर परिणाम बदल जानेसे मिथ्यात्वमें जाकर जो चारों गतियोंमें से किसी एक गतिमें उत्पन्न हुआ उसके उस गतिमें पुन सम्यग्दर्शनके प्राप्त हो जानेपर ९२ प्रकृतिक सत्त्वस्थान चारों गतियोंमें बन जाता है। किन्तु देव और मनुष्योंके मिथ्यात्वको विना प्राप्त किये ही इस गुणस्थानमें ९२ की सत्ता बन जाती है। ८९ प्रकृतिक सत्त्वस्थान अविरत सम्यग्दृष्टि देव, नारकी और मनुष्योंके होता है। क्योंकि इन तीनों गतियोंमें तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध होता रहता है। तीर्थंकर प्रकृति की सत्तावाला जीव तिर्यंचोंमें नहीं उत्पन्न होता है अत यहाँ तिर्यंचोंका ग्रहण नहीं किया। तथा ८८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान चारों गतिके अविरत सम्यदृष्टि जीवोंके होता है। इस प्रकार अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें बन्ध, उदय और सत्त्वस्थानोंका चिन्तन किया।

अब इनके संवेधका विचार करते हैं—२८ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले अविरत सम्यग्दृष्टि जीवके तिर्यंच और मनुष्योंकी अपेक्षा पूर्वोक्त आठों उदयस्थान होते हैं। उसमें भी २५ और २७ प्रकृतिक उदयस्थान विक्रिया करनेवाले तिर्यंच और मनुष्योंके ही होते हैं शेष छह सामान्यके होते हैं। इन उदयस्थानोंमें से प्रत्येक

उदयस्थानमे ६२ और ८८ ये दो दो सत्तास्थान होते हैं। २६ प्रकृतिक बन्धस्थान दो प्रकारका है—देवगतिप्रायोग्य और मनुष्यगतिप्रायोग्य। इनमेसे देवगति प्रायोग्य तीर्थंकर प्रकृति सहित है, अत इसका बन्ध मनुष्य ही करते हैं। किन्तु मनुष्योंके उदयस्थान सात हैं—२१, २५ २६, २७, २८, २६ और ३०, क्योंकि मनुष्योंके ३१ प्रकृतिक उदयस्थान नहीं होता। यहाँ भी प्रत्येक उदयस्थानमे ९३ और ८६ य दो-दो सत्तास्थान होते हैं। तथा मनुष्य गतियोग्य २६ प्रकृतियोका देव और नारकी बाँधते हैं। सो इनमेंसे नारकियोंके २१ २५, २७, २८ और २६ ये पाँच उदयस्थान होते हैं। तथा देवोंके पूर्वोक्त पाँच और ३० ये छह उदयस्थान होते हैं। सो इन सब उदयस्थानोंमे ६२ और ८८ ये दो दो सत्तास्थान होते हैं। तथा मनुष्यगतिके योग्य ३० को देव और नारकी बाँधते हैं। सो इनमें से देवोंके पूर्वोक्त छह उदयस्थान होते हैं और उनमेसे प्रत्येकमे ६३ और ८६ ये दो दो सत्तास्थान होते हैं। नारकियोंके उदयस्थान तो पूर्वोक्त पाँचों ही होते हैं किन्तु इनमे सत्तास्थान ८६ प्रकृतिक एक एक ही होता है, क्योंकि तीर्थंकर और आहारक चतुष्क की युगपत् सत्तावाले जीव नारकियोमें नहीं उत्पन्न होते। इस प्रकार २१ से लेकर ३० तक प्रत्येक उदयस्थानमे सामान्यसे ९३, ६२, ८६ और ८८ ये चार-चार सत्तास्थान होते हैं और ३१ प्रकृतिक उदयस्थानमे ६२ और ८८ ये दो सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमे सामान्यसे कुल ३० सत्तास्थान हुए।

अविरत सम्यग्दृष्टिके बन्ध, उदय और सत्तास्थानोंके संवेधका ज्ञापक कोष्ठक—

[४१]

बन्धस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२८	८	२१	१६	९२ ८८
		२५	१६	९२ ८८
		२६	५७६	९२ ८८
		२७	१६	९२, ८८
		२८	११७६	९२, ८८
		२९	१७५२	९२, ८८
		३०	२८८८	९२, ८८
		३१	११५२	९२ ८८
२९	१६	२१	१७	९३, ९२, ८९, ८८
		२५	१७	९३, ९२, ८९, ८८
		२६	२८८	९३, ९२, ८९ ८८
		२७	१७	९३, ९२ ८९, ८८
		२८	६०१	९३, ९२, ८९, ८८
		२९	५०१	९३, ९२ ८९, ८८
		३०	११६०	९३ ९२, ८९ ८८
३०	८	२१	९	९३ ८९
		२५	९	९३ ८९
		२७	९	९३ ८९
		२८	१७	९३, ८९
		२९	१७	९३ ८९
		३०	८	९३ ८९
३	३२	२१		

अब देशविरतमें बन्ध, उदय और सत्तास्थानोंका विचार करते हैं—देशविरतमें बन्धस्थान दो हैं—२८ और २९। इनमेंसे २८ प्रकृतिक बन्धस्थान तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्योंके होता है। इतना विशेष है कि इस गुणस्थानमें देवगति प्रायोग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध होता है। तथा इस स्थानके ८ भंग होते हैं। इसमें तीर्थंकर प्रकृतिके मिला देने पर २९ प्रकृतिक बन्धस्थान होता है जो मनुष्योंके ही होता है, क्योंकि तिर्यंचोंके तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध नहीं होता। इस स्थान के भी आठ भंग होते हैं।

यहाँ उदयस्थान ६ होते हैं—२५, २७, २८, २९, ३० और ३१। इनमेंसे प्रारम्भके ४ उदयस्थान विक्रिया करनेवाले तिर्यंच और मनुष्योंके होते हैं। मनुष्योंके इन चारों उदयस्थानोंमें एक एक ही भंग होता है। किन्तु तिर्यंचोंके प्रारम्भके दो उदयस्थानों का एक एक भंग होता है और अन्तिम दो उदयस्थानोंके दो दो भंग होते हैं। ३० प्रकृतिक उदयस्थान स्वभावस्थ तिर्यंच और मनुष्योंके और विक्रिया करनेवाले तिर्यंचोंके होता है। सो यहाँ प्रारम्भके दो में से प्रत्येकके १४४ भंग होते हैं। जो छह संहनन छह संस्थान, सुस्वर-दुःस्वर और प्रशस्त-अप्रशस्त विहायोगतिके विकल्पसे प्राप्त होते हैं तथा अन्तिमका १ भंग होता है। इस प्रकार ३० प्रकृतिक उदयस्थानके कुल २८९ भंग होते हैं। तथा ३१ प्रकृतिक उदयस्थान तिर्यंचोंके ही होता है। यहाँ भी १४४ भंग होते हैं। इस प्रकार देशविरतमें सब उदयस्थानोंके कुल ४४३ भंग होते हैं।

सत्तास्थान यहाँ चार होते हैं—९३, ९२, ८९ और ८८। जो तीर्थंकर और आहारक चतुष्कका बन्ध करके देशविरत हो जाता है उसके ९३ का सत्ता होती है। तथा शेष का विचार सुगम है। इस प्रकार देशविरतमें बन्ध, उदय और सत्तास्थानों का विचार किया।

अब इनके संवेधका विचार करते हैं—यदि देशविरत मनुष्य २८ प्रकृतियोंका बन्ध करता है तो उसके २५, २७, २८, २९ और ३० ये पाँच उदयस्थान और इनमेंसे प्रत्येकमें ९२ और ८८ ये दो सत्तास्थान होते हैं। किन्तु यदि तिर्यंच २८ प्रकृतियोंका बन्ध करता है तो उसके ३१ सहित छह उदय स्थान और प्रत्येकमें ९२ और ८८ ये दो दो सत्तास्थान होते हैं। तथा २९ प्रकृतियोंका बन्ध देशविरत मनुष्यके होता है। अतः इसके पूर्वोक्त पाँच उदयस्थान और प्रत्येक उदयस्थानमें ९३ और ८९ ये दो दो सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार देशविरतके सामान्यसे प्रारम्भके ५ उदयस्थानोंमें चार चार और अन्तिम उदयस्थानमें दो कुल मिलाकर २२ सत्तास्थान होते हैं।

देशविरतमें बन्ध, उदय और सत्तास्थानोंके संवेधका ज्ञापक कोष्ठक—

[४२]

बन्धस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२८	८	२५	२	९२, ८८
		२७	२	९२, ८८
		२८	३	९२, ८८
		२९	३	९२, ८८
		३०	२८९	९२, ८८
		३१	१४४	९२, ८८
२९	८	२५	१	९३, ८९
		२७	१	९३, ८९
		२८	१	९३, ८९
		२९	१	९३, ८९
		३०	१४४	९३, ८९

अप्रमत्तसयतके चार वन्धस्थान होते हैं—२८, २९, ३० और ३१। तीर्थंकर और आहारक द्विकके विना २८ प्रकृतिक वन्धस्थान होता है। इसमें तीर्थंकर प्रकृतिके मिलाने पर २९ प्रकृतिक वन्धस्थान है। तीर्थंकरको अलग करके आहारक द्विकके मिलाने पर ३० प्रकृतिक वन्धस्थान होता है और तीर्थंकर तथा आहारक द्विक इनके मिलाने पर ३१ प्रकृतिक वन्धस्थान होता है। इन सब वन्धस्थानोंमें एक एक ही भग होता है, क्योंकि अप्रमत्तसयतके अस्थिर, अशुभ और अयश कीर्तिका वन्ध नहीं होता।

यहा उदयस्थान दो होते हैं—२९ और ३०। जिसने पहले प्रमत्तसयत अवस्थामें आहारक या वैक्रिय समुद्घातको करके पश्चात् अप्रमत्तस्थानको प्राप्त किया है। उसके २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसके यहा दो भग होते हैं, एक वैक्रियकी अपेक्षा और दूसरा आहारककी अपेक्षा। इसी प्रकार ३० प्रकृतिक उदयस्थानमें भी दो भग होते हैं। तथा ३० प्रकृतिक उदयस्थान स्वभावस्थ जीवके भी होता है सो इसकी अपेक्षा यहा १४४ भग होते हैं। इस प्रकार अप्रमत्तसयतके दो उदयस्थानोंके कुल १४८ भग होते हैं।

तथा यहा पहलेके समान ९३, ९२, ८९ और ८८ ये चार सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार अप्रमत्त सयतके वन्ध, उदय और सत्तास्थानोंका विचार किया।

(१) गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ७०१ में अप्रमत्तसयतके ३० प्रकृतिक एक ही उदयस्थान बतलाया है। कारण यह है कि दिगम्बर परपरामें यही एक मत पाया जाता है कि आहारक समुद्घातको करनेवाले जीवको स्वयोग्य पर्याप्तियोंके पूर्ण हो जाने पर भी सातवाँ गुणस्थान प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार दिगम्बर परपराके अनुसार वैक्रिय समुद्घातको करनेवाला जीव भी अप्रमत्तसंयत गुणस्थानको नहीं प्राप्त होता। यही सबब है कि कर्मकाण्डमें अप्रमत्तसयत गुणस्थानमें एक ३० प्रकृतिक उदयस्थान ही बतलाया है।

अथ इनके संवेधका विचार करते हैं—२८ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवालेके उदयस्थान दोनों होते हैं किन्तु सत्तास्थान एक ८८ प्रकृतिक ही होता है। २६ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवालेके उदयस्थान दोनों होते हैं किन्तु सत्तास्थान एक ८६ प्रकृतिक ही होता है। ३० प्रकृतियोंका बन्ध करनेवालेके भी उदयस्थान दोनों होते हैं किन्तु सत्तास्थान दोनों के एक ६२ प्रकृतिक ही होता है। तथा ३१ प्रकृतियोंका बन्ध करने वालेके उदयस्थान दोनों होते हैं किन्तु सत्तास्थान एक ९३ प्रकृतिक ही होता है। यहाँ तीर्थंकर या आहारक द्विक इनमेंसे जिसके जिसकी सत्ता होती है वह नियमसे उसका बन्ध करता है इसलिये एक एक बन्धस्थानमें एक एक सत्तास्थान कहा है। यहाँ कुल सत्तास्थान ८ होते हैं। इस प्रकार अप्रमत्तसंयत के बन्ध, उदय और सत्तास्थानोंके संवेधका विचार किया।

अप्रमत्तसंयतके बन्ध, उदय और सत्तास्थानोंके संवेधका ज्ञापक कोष्ठक—

[४४]

बन्धस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२८	१	२६	१	८८
		३०	१४४	८८
२६	१	२६	१	८६
		३०	१४४	८६
३०	१	२९	१	६२
		३०	१४६	६२
३१	१	२९	१	६३
		३०	१४६	६३

अनिवृत्ति बादसम्परायमें एक यश कीर्तिका ही वन्ध होता है, अत यहा एक प्रकृतिक एक ही वन्धस्थान है। उदयस्थान भी एक ३० प्रकृतिक ही है। सत्तास्थान ८ हैं—६३, ९२, ८६, ८८, ८०, ७६, ७६ और ७५। इनमेसे प्रारम्भके चार उपशमश्रेणिमें होते हैं और जब तक नाम कर्म की तेरह प्रकृतियोंका क्षय नहीं होता तब तक क्षपकश्रेणीमें भी होते हैं। तथा उक्त चारो स्थानोंकी सत्तावाले जीवोंके १३ प्रकृतियोंके क्षय होने पर क्रमसे ८, ७६, ७६ और ७५ प्रकृतियोकी सत्ता प्राप्त होती है। अर्थात् ६३ की सत्तावालेके १३ के क्षय होने पर ८० की ६२ की सत्तावालेके १३ के क्षय होने पर ७६ की, ८६ की सत्तावालेके १३ के क्षय होने पर ७६ की और ८८ की सत्तावालेके १३ के क्षय होने पर ७५ की सत्ता शेप रहती है। इस प्रकार यहाँ आठ सत्तास्थान होते हैं। यहा वन्धस्थान और उदयस्थानोंमें भेद नहीं होनेसे सवेध सम्भव नहीं है अत उसका पृथक्से कथन नहीं किया। तात्पर्य यह है कि यद्यपि यहा सत्तास्थान आठ हैं पर वन्धस्थान और उदयस्थान एक एक ही है, अत सवेधका पृथक्से कथन करनेकी आवश्यकता नहीं है।

सूक्ष्मसम्परायमें भी यश कीर्तिरूप एक प्रकृतिक एक वन्धस्थान ३० प्रकृतिक एक उदयस्थान और पूर्वोक्त आठ सत्तास्थान होते है। किन्तु ६३ आदि प्रारम्भके ४ सत्तास्थान उपशमश्रेणिमें होते है और शेप ४ क्षपकश्रेणिमें होते हैं। यहा शेप कथन अनिवृत्ति बादर सम्परायके समान है।

उपशान्तमोह आदि गुणस्थानोंमे वन्धस्थान नहीं है किन्तु

सयोगिकेवलीके उदय और सत्तास्थानोंके संवेधका ज्ञापक कोष्ठक—

[४६]

बन्धस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
		२०	१	७९,७५
०	०	२१	१	८०,७६
		२६	६	७९,७५
		२७	१	८०,७६
		२८	१२	७९,७५
		२९	१३	८० ७९,७६,७५
		३०	२५	८०,७९,७६,७५
		३१	१	८०,७६

अयोगिकेवलीके उदयस्थान दो हैं—९ और ८। सो इनमेंसे ९ का उदय तीर्थंकरकेवलीके और आठका उदय सामान्य केवलीके होता है।

सत्तास्थान छह हैं—८०, ७९, ७६, ७५, ९ और ८। इनमेंसे प्रारम्भके चार सत्तास्थान उपान्त्य समय तक होते हैं और अन्तिम दो सत्तास्थान अन्तिम समयमें होते हैं। इस प्रकार इस गुणस्थानमें उदयस्थान और सत्तास्थानका विचार किया।

अब संवेधका विचार करते हैं—आठके उदयमें ७९, ७५ और

८ ये तीन सत्तास्थान प्राप्त होते हैं। इनमेंसे आदिके दो उपान्त्य समय तक होते हैं और ८ प्रकृतिक सत्तास्थान अन्तिम समयमें होता है। तथा नौके उदयमें ८०, ७६ और ९ ये तीन सत्तास्थान होते हैं। सो यहा भी प्रारम्भके दो उपान्त्य समय तक होते हैं। और अन्तिम सत्तास्थान अन्तके समयमें होता है।

अयोगिकेवलीके उदय और सत्तास्थानोंके संवेधका ज्ञापक कोष्ठक—

[४७]

बन्धस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
०	०	९	१	८०,७६,९
		८	१	७९,७५,८

इस प्रकार गुणस्थानोंमें बन्ध उदय और सत्तास्थानोंका विचार समाप्त हुआ।

अब गति आदि मार्गणाओंमें इन बन्ध, उदय और सत्तास्थानोंका विचार अवसर प्राप्त है। उसमें भी पहले गतिमार्गणामें उनका कथन करते हैं—

दो छक्कऽट्ठ चउक्कं पण नव एक्कार छक्कग उदया।
नेरइआइसु संता ति पंच एक्कारस चउक्कं ॥ ५१ ॥

(१) 'दो छक्कट्ठ चउक्कं णिरयादिसु णामबंधठाणाणि। पण णव एगार पणयं ति पंच बारस चउक्कं च ॥'—गो० कर्म० गा० ७१०।

अर्थ—नारकी आदिके, क्रमसे दो, छह, आठ और चार बन्धस्थान, पाँच, नौ, ग्यारह और पाँच उदयस्थान तथा तीन, पाँच, ग्यारह और चार सत्त्वस्थान होते है।

विशेषार्थ—इस गाथामें, किस गतिमे कितने बन्ध, उदय और सत्त्वस्थान होते हैं इसका निर्देश किया है। तदनुसार आगे इसीका विशेष खुलासा करते हैं—नरकगतिमें दो बन्धस्थान हैं—२९ और ३०। इनमेंसे २९ प्रकृतिक बन्धस्थान तिर्यंचगति और मनुष्यगति प्रायोग्य दोनों प्रकार का है। तथा उद्योत सहित ३० प्रकृतिक बन्धस्थान तिर्यंचगति प्रायोग्य है और तीर्थंकर सहित ३० प्रकृतिक बन्धस्थान मनुष्यगति प्रायोग्य है।

तिर्यंचगतिमें छह बन्धस्थान हैं—२३, २५, २६, २८, २६ और ३०। इनका विशेष खुलासा पहलेके समान यहाँ भी करना चाहिये। किन्तु केवल यहाँ पर २९ प्रकृतिक बन्धस्थान तीर्थंकर सहित और ३० प्रकृतिक बन्धस्थान आहारकद्विक सहित नहीं कहना चाहिये क्योंकि तिर्यंचोंके तीर्थंकर और आहारकद्विक का बन्ध नहीं होता।

मनुष्यगतिके आठ बन्धस्थान हैं—२३, २५, २६, २८, २६, ३०, ३१ और १। सो इनका भी विशेष खुलासा पहलेके समान यहाँ भी करना चाहिये।

देवगतिमें चार बन्धस्थान हैं—२५, २६, २६ और ३०। इनमेंसे २५ प्रकृतिक बन्धस्थान पर्याप्त, बादर और प्रत्येकके साथ

केन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले देवोंके जानना चाहिये। तथा इसमें आतप या उद्योतके मिला देने पर २६ प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। यहाँ २५ प्रकृतिक बन्धस्थानके ८ भग और २६ प्रकृतिक बन्धस्थानके १६ भग होते हैं। २९ प्रकृतिक बन्धस्थान मनुष्यगति प्रायोग्य या तिर्यंचगति प्रायोग्य दोनो प्रकार का है। तथा उद्योत सहित ३० प्रकृतिक बन्धस्थान तिर्यंचगति प्रायोग्य है, और तीर्थकर प्रकृति सहित ३० प्रकृतिक बन्धस्थान मनुष्यगति प्रायोग्य है।

अब उदयस्थानोका विचार करते हैं—नरकगतिमे पाँच उदयस्थान हैं—२१, २५, २७, २८ और २९। तिर्यंचगतिमें नौ उदयस्थान हैं—२१, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३० और ३१। मनुष्यगतिमे ग्यारह उदयस्थान हैं—२०, २१, २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ९, और ८। देवगतिमें छह उदयस्थान हे—२१, २५, २७, २८, २९ और ३०।

अब सत्तास्थानोको बतलाते हैं—नरकगतिमे तीन सत्तास्थान हैं—९२, ८९ और ८८। तिर्यंचगतिमें पाँच सत्तास्थान हे—९२, ८८, ८६, ८० और ७८। मनुष्यगतिमे ग्यारह सत्तास्थान हैं—९३, ९२, ८९, ८८ ८६, ८०, ७९, ७६, ७५, ९ और ८। देवगतिमे चार सत्तास्थान हैं—९३, ९२, ८९ और ८८।

अब नरक गतिमें सवेधका विचार करते हैं—पचेंद्रिय तिर्यंचगतिके योग्य २९ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले नारकियोंके पूर्वोक्त

स्थानवाले जीवोंके भी कथन करना चाहिये। किन्तु इतनी विशेषता है कि मनुष्यगति प्रायोग्य २६ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवके सब उदयस्थानोंमें ७८ के बिना चार चार सत्तास्थान ही सम्भव हैं, क्योंकि जो मनुष्य द्विकका बन्ध कर रहा है उसके ७८ प्रकृतिक सत्तास्थान सम्भव नहीं। २८ प्रकृतिक बन्धस्थानवाले जीवके आठ उदयस्थान होते हैं २१, २५, २६, २७, २८, २६, ३० और ३१। इसके चौबीस प्रकृतिक उदयस्थान नहीं होता, क्योंकि २४ प्रकृतिक उदयस्थान एकेन्द्रियोंके ही होता है पर एकेन्द्रियोंके २८ प्रकृतिक बंधस्थान नहीं होता। इन उदयस्थानोंमेंसे २१, २६, २८, २९ और ३० ये पाँच उदयस्थान क्षायिक सम्यग्दृष्टि या मोहनीय की २२ प्रकृतियों की सत्तावाले वेदक सम्यग्दृष्टियोंके होते हैं। तथा इनमेंसे प्रत्येक उदयस्थानमें ९२ और ८८ ये दो दो सत्तास्थान होते हैं। २५ और २७ ये दो उदयस्थान विक्रिया करनेवाले तिर्यंचोंके होते हैं। यहाँ भी प्रत्येक उदयस्थानमें ९२ और ८८ ये दो दो सत्तास्थान होते हैं। तथा ३० और ३१ ये दो उदयस्थान सब पर्याप्तियोंसे पर्याप्त हुए सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि तिर्यंचोंके होते हैं। सो इनमेंसे प्रत्येक उदयस्थानमें ९२, ८८ और ८६ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। किन्तु यहाँ इतनी विशेषता है कि ८६ प्रकृतिक सत्त्वस्थान मिथ्यादृष्टियोंके ही होता है सम्यग्दृष्टियोंके नहीं, क्योंकि सम्यग्दृष्टि तिर्यंचोंके नियमसे देवद्विकका बन्ध सम्भव है। इस प्रकार यहाँ सब बन्धस्थान और सब उदयस्थानों की अपेक्षा २१८ सत्त्वस्थान होते हैं, क्योंकि ऊपर बतलाये अनुसार २३, २५, २६ २९ और ३० इन पाँच बन्धस्थानोंमेंसे प्रत्येकमें चालीस चालीस और २८ प्रकृतिक बन्धस्थानमें अठारह सत्तास्थान प्राप्त होते हैं जिनका कुल जोड़ २१८ होता है।

तिर्यंचगतिमें नाम कर्म के बन्ध, उदय और सत्तास्थानोंके संवेधका ज्ञापक कोष्ठक—

[४९]

बन्धस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२३	४	२१	२३	९२,८८,८६,८०,७८
		२४	११	९२,८८,८६,८०,७८
		२५	१५	९२ ८८ ८६,८०,७८
		२६	३११	९२,८८,८६,८०,७८
		२७	१४	९२,८८,८६,८०
		२८	५९८	९२,८८,८६,८०
		२९	११८०	९२,८८,८६ ८०
		३०	१७५४	९२,८८ ८६,८०
		३१	११६४	९२,८८,८६,८०
२५	२५	२१		९२,८८,८६,८०,७८
		२४		९२ ८८,८६ ८०,७८
		२५	"	९२,८८,८६,८०,७८
		२६		९२,८८,८६,८०,७८
		२७		९२,८८,८६,८०
		२८		९२,८८,८६,८०
		२९		९२,८८ ८६,८०
		३०		९२,८८,८६,८०
		३१		९२,८८ ८६,८०
२६	१६	२१		९२,८८ ८६,८०,७८
		२४		९२ ८८,८६,८०,७८
		२५	"	९२,८८ ८६ ८०,७८
		२६		९२,८८,८, ८०,७८
		२७		९२,८८,८६ ८०
		२८		९२,८८ ८६ ८०
		२९		९२,८८,८६,८०
		३०		९२,८८ ८६ ८०
		३१		९२,८८,८६ ८०

२८ प्रकृतिक बन्धस्थानके समान सात उदयस्थान होते हैं। किन्तु यहाँ इतनी विशेषता है कि ३० प्रकृतिक उदयस्थान सम्यग्दृष्टियोंके ही कहना चाहिये, क्योंकि २९ प्रकृतिक बन्धस्थान तीर्थंकर प्रकृति सहित है और तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध सम्यग्दृष्टिके ही होता है। इन सब उदयस्थानोंमेंसे प्रत्येकमें ६३ और ८६ ये दो दो सत्तास्थान होते हैं। इसमें भी आहारक संयतके ६३ की ही सत्ता होती है। इस प्रकार तीर्थंकर प्रकृति सहित २६ प्रकृतिक बन्धस्थानमें चौदह सत्तास्थान होते हैं। तथा आहारकद्विक सहित ३० का बन्ध होने पर २६ और ३० ये दो उदयस्थान होते हैं। इसमेंसे जो आहारक संयत स्वयोग्य सर्व पर्याप्ति पूर्ण करनेके बाद अंतिमकालमें अप्रमत्त संयत होता है उसकी अपेक्षा २६ का उदय लेना चाहिये, क्योंकि अन्यत्र २६ के उदयमें आहारकद्विकके बन्ध का कारण भूत विशिष्ट संयम नहीं पाया जाता। इससे अन्यत्र ३० का उदय होता है। सो इनमेंसे प्रत्येक उदयस्थानमें ६२ की सत्ता होती है। ३१ प्रकृतिक बन्धस्थानके समय ३० का उदय और ६३ की सत्ता होती है। तथा एक प्रकृतिक बन्धस्थानके समय ३० का उदय और ९३, ६२, ८९, ८८, ८०, ७६, ७६ और ७५ ये आठ सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार २३, २५ और २६ के बन्धके समय चौबीस चौबीस सत्तास्थान २८ के बन्धके समय सोहल सत्तास्थान, मनुष्यगति और तिर्यंचगतिके योग्य २६ और ३० के बन्धमें चौबीस चौबीस सत्तास्थान, देवगति आयोग्य तीर्थंकर प्रकृतिके साथ २६ के बन्धमें चौदह सत्तास्थान, ३१ के बन्धमें एक सत्तास्थान और एक प्रकृति बन्धमें आठ सत्तास्थान इस प्रकार मनुष्यगतिमें कुल १४६ सत्तास्थान होते हैं।

मनुष्यगतिमें नामकर्मके बन्ध, उदय और सत्तास्थानोंके संवेधका ज्ञापक कोष्ठक—

[५०]

बन्धस्थान	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२३	२१	८	९२, ८८, ८६, ८०
	२५	८	९२, ८८,
	२६	२०६	९२, ८८, ८६, ८०
	२७	८	९२ ८८,
	२८	५८४	९२, ८८ ८६ ८०
	२९	५८४	९२, ८८, ८६, ८०
	३०	११५२	९२, ८८, ८६, ८०
२५	२१	”	९२ ८८ ८६, ८०
	२५		९२ ८८
	२६		९२ ८८ ८६ ८०
	२७		९२, ८८
	२८		९२, ८८ ८६, ८०
	२९		९२, ८८ ८६ ८०
	३०		९२, ८८, ८६ ८०
२६	२१	”	९२, ८८ ८६, ८०
	२५		९२, ८८
	२६		९२ ८८, ८६, ८०
	२७		९२, ८८,
	२८		९२, ८८, ८६, ८०
	२९		९२, ८८ ८६ ८०
	३०		९२ ८८ ८६, ८०

बन्धस्थान	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२८	२१	८	९२, ८८
	२५	८	९२, ८८
	२६	२८८	९२, ८८
	२७	८	२९ ८८
	२८	५८४	९२ ८८
	२९	५८४	९२ ८८
	३०	११५२	९२ ८९ ८८, ८६
२९	२१	९	९३, ९२, ८९, ८८, ८६, ८०
	२५	९	९३, ९२ ८९, ८८
	२६	२८९	९३, ९२, ८९, ८८, ८६, ८०
	२७	९	९३, ९२, ८९, ८८,
	२८	५८७	९३, ९२ ८९, ८८, ८६, ८०
	२९	५८७	९३, ९२, ८९ ८८, ८६, ८०
	३०	११५४	९३ ९२, ८९ ८८, ८६, ८०
३०	२१	९	९२, ८८, ८६, ८०
	२५	८	९२, ८८,
	२६	२८९	९२, ८८, ८६, ८०
	२७	८९	९२, ८८,
	२८	५८४	९२, ८८, ८६, ८०
	२९	५८६	९२, ८८, ८६, ८०
	३०	११५४	९२, ८८, ८६, ८०
३१	३०,	१४४	९३
१	३०		९३, ९२, ८९, ८८ ८०, ७९, ८६, ७५

देवगतिमें २५ का बन्ध करनेवाले देवोंके देवोंसम्बन्धी छहों उदयस्थान होते हैं। जिनमेंसे प्रत्येकमें ९२ और ८८ ये दो-दो सत्तास्थान होते हैं। इसी प्रकार २६ और २९ का बन्ध करनेवाले देवोंके भी जानना चाहिये। उद्योतसहित तिर्यंचगतिके योग्य ३० का बन्ध करनेवाले देवोंके भी इसी प्रकार छह उदयस्थान और प्रत्येक उदयस्थानमें ९२ और ८८ ये दो-दो सत्तास्थान होते हैं। परन्तु तीर्थंकर प्रकृतिसहित ३० का बन्ध करनेवाले देवोंके छह उदयस्थानोंमेंसे प्रत्येक उदयस्थानमें ९३ और ८९ ये दो-दो सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार यहाँ कुल ६० सत्त्वस्थान होते हैं।

देवगतिमें नामकर्मके बन्ध, उदय और सत्तास्थानोंके संवेधका ज्ञापक कोष्ठक—

[५१]

बन्धस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२५	८	२१	८	९२, ८८
		२५	८	९२, ८८
		२७	८	९२, ८८
		२८	१६	९२, ८८
		२९	१६	९२, ८८
		३०	८	९२, ८८

बन्धस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२८	९	२१	१६	९२,८८
		२५	८	९२ ८८
		२६	५७६	९२,८८
		२७	८	९२,८८
		२८	११५६	९२ ८८
		२९	१७२८	९२ ८८
		३०	२८८०	९२,८९,८८,८६
		३१	११५६	९२,८८,८६
२९	९२४८	२१	२७	९२,८८,८६,८०,७८,९३,८९
		२५	९	९३,९२,८९ ८८
		२६	५७८	९२,८८ ८६,८०,७८ ९३,८९
		२७	९	९३,९२,८९,८८
		२८	११९९	९३,९२,८९,८८,८६,८०
		२९	१७४५	९३,९२,८९,८८,८६,८०
		३०	२८८८	९३ ९२ ८९,८८,८६,८०
		३१	११५६	९२,८८,८६,८०
३०	४६४१	२१	२७	९३,९२,८९,८८,८६,८०,७८
		२५	९	९३,९२,८९,८८
		२६	५७६	९२ ८८,८६ ८०,७८
		२७	९	९३,९२,८९,८८
		२८	११९९	९३,९२,८९,८८,८६,८०
		२९	१७४५	९३,९२,८९,८८,८६,८०
		३०	२८८८	९३,९२,८९,८८,८६ ८०
		३१	११५६	९३,९२,८९,८८ ८०
३१	१	३०	१४४	९३
१	१	३०	१४४	९३,९२,८९,८८,८०,७९,७६,७५

अब ग्रन्थकार बन्धादिस्थानोंके आठ अनुयोग द्वारोंमें कथन करनेकी सूचना करनेके लिये आगेकी गाथा कहते हैं—

इय कम्मपगइठाणाइँ सुट्ठु बंधुदयसंतकम्माणं ।
गइआइएहिं अट्ठसु चउप्पगारेण नेयाणि ॥५३॥

अर्थ—ये पूर्वोक्त बन्ध, उदय और सत्तासम्बन्धी कर्म-प्रकृतियोंके स्थान सावधानीपूर्वक गति आदि मार्गणास्थानोंके साथ आठ अनुयोग द्वारोंमें चार प्रकारसे जानना चाहिये।

विशेषार्थ—यहाँ तक ग्रन्थकारने ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंकी मूल और उत्तर प्रकृतियोंके बन्ध, उदय और सत्ता-स्थानोंका सामान्यरूपसे तथा जीवस्थान, गुणस्थान, गति और इन्द्रियमार्गणामें निर्देश किया। किन्तु इस गाथामें उन्होंने गति आदि मार्गणाओंके साथ आठ अनुयोगद्वारोंमें उनको घटित करनेकी सूचना की है। साथ ही उन्होंने केवल प्रकृति-रूपसे घटित करनेकी सूचना नहीं की है, किन्तु प्रकृतिके साथ स्थिति अनुभाग और प्रदेशरूपसे भी घटित करनेकी सूचना की है। बात यह है कि ये बन्ध, उदय और सत्तारूप सब कर्म प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशोंके भेदसे चार चार प्रकारके हैं। जिस कर्मका जो स्वभाव है वही उसकी प्रकृति है। यथा ज्ञानावरणका स्वभाव ज्ञानको आवृत करनेका है आदि। विवक्षित कर्म जितने कालतक आत्मासे लगे रहते हैं उतने कालका नाम स्थिति है। कर्मोंमें जो फल देनेकी हीनाधिक शक्ति पाई जाती है उसे अनुभाग कहते हैं। तथा कर्मदलकी प्रदेश संज्ञा है। मार्गणा शब्दका अर्थ अन्वेषण करना है, अत यह अर्थ हुआ कि जिनके द्वारा या जिनमें जीवोंका अन्वेषण

किया जाता है उन्हें मार्गणा कहते हैं। मार्गणाके चौदह भेद हैं—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद कपाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, सज्ञी और आहार। पुरानी परम्परा यह है कि जीवसम्बन्धी जिस किसी विशेप अवस्थाका वर्णन पहले सामान्यरूपसे किया जाता रहा है। तदनन्तर उसका विशेप चिन्तन चौदह मार्गणाओंके द्वारा आठ अनुयोगद्वारोंमें किया जाता रहा है। अनुयोगद्वार यह अधिकारका पर्यायवाची नाम है। ऐसे अधिकार यद्यपि पहले विपयविभागकी दृष्टिसे हीनाधिक किये जाते रहे हैं। परन्तु मार्गणाओंका विस्तृत विवेचन आठ अधिकारोंमें ही पाया जाता है इसलिये वे मुख्यरूपसे आठ ही लिये जाते रहे हैं। इन अधिकारोंके ये नाम हैं—सत् सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व। भागाभाग नामके एक अधिकारका निर्देश और पाया जाता है, परन्तु वह अल्पबहुत्वसे भिन्न नहीं है। इसलिये उसे अलगसे नहीं गिनाया। मालूम होता है कि ग्रन्थकारने भी उसे पृथक् न मानकर ही आठ अधिकारोंकी सूचना की है। इन अधिकारोंका अर्थ इनके नामोंसे ही स्पष्ट है। अर्थात् सदनुयोगद्वारमें यह बतलाया जाता है कि विवक्षित धर्म किन मार्गणाओंमें है और किनमें नहीं। सख्या अनुयोगद्वारमें उस विवक्षित धर्मवाले जीवोंकी सख्या बतलाई जाती है। क्षेत्र अनुयोगद्वारमें विवक्षित धर्मवाले जीवोंका वर्तमान निवासस्थान बतलाया जाता है। स्पर्शन अनुयोगद्वारमें उन विवक्षित धर्मवाले जीवोंने जिसमें क्षेत्रका पहले स्पर्श किया हो, अब कर रहे हैं और आगे करेंगे, उस सबका समुच्चयरूपसे निर्देश किया जाता है। काल अनुयोगद्वारमें विवक्षित धर्मवाले जीवोंकी जघन्य व उत्कृष्ट स्थितिका विचार किया जाता है। अन्तर

शब्द विरह या व्यवधानवाची है अत इस अनुयोगद्वारमें यह बतलाया जाता है कि विवक्षित धर्मका सामान्यरूपसे या किस मार्गणामें कितने कालतक अन्तर रहता या नहीं रहता। भाव अनुयोगद्वारमें उस विवक्षित धर्मके भावका विचार किया जाता है और अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारमें उसके अल्पबहुत्वका विचार किया जाता है।

प्रकृतमें ग्रन्थकार सूचना करते हैं कि इसी प्रकार बन्ध, उदय और सत्तारूप कर्मोंका तथा उनके अवान्तर भेद-प्रभेदोंका प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूपसे गति आदि मार्गणाओंके द्वारा आठ अनुयोगद्वारोंमें विवेचन कर लेना चाहिये। यहाँ गाथामें जो 'इति' शब्द आया है वह पहले वर्णन किये गये विषयका निर्देश करता है। जिससे उक्त अर्थ ध्वनित होता है। किन्तु इस विषयमें मलयगिरि आचार्यका वक्तव्य है कि यद्यपि आठों कर्मोंके सदनुयोगद्वारका वर्णन गुणस्थानोंमें सामान्यरूपसे पहले किया ही है परन्तु संख्या आदि सात अनुयोगद्वारोंका व्याख्यान कर्मप्रकृतिप्राभृत आदि ग्रन्थोंको देखकर करना चाहिये। किन्तु वे कर्मप्रकृतिप्राभृत आदि ग्रन्थ वर्तमानकालमें उपलब्ध नहीं हैं इसलिये इन संख्यादि अनुयोगद्वारोंका व्याख्यान करना कठिन है। फिर भी जो प्रत्युतपन्न मति विद्वान् हैं वे पूर्वापर सम्बन्धको देखकर उनका अवश्य व्याख्यान करें। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त गाथामें जिस विषयकी सूचना की गई है उस विषयका

प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थ वर्तमानकालमें नहीं पाये जाते
अब उदयसे उदीरणामें विशेषताके बतलानेके लिये आ
गाथा कहते हैं—

उदयस्सुदीरणाए सामित्ताओ न विज्जइ विसेसो ।
मोत्तूण य इगुयालं सेसाणं सव्वपगईणं ॥ ५४ ॥

अर्थ—इकतालीस प्रकृतियोंको छोड़कर शेष सब प्रकृ
के उदय और उदीरणामें स्वामित्वकी अपेक्षा कोई
पता नहीं है ।

विशेषार्थ—काल प्राप्त कर्मपरमाणुओंके अनुभव कर
उदय कहते हैं और उदयावलिके बाहिर स्थित कर्म परमाणुअ
कषायसहित या कषायरहित योग संज्ञावाले वीर्यविशेषके
उदयावलिमें लाकर उनका उदयप्राप्त कर्म परमाणुओंके साथ अनु
करने को उदीरणा कहते हैं इस प्रकार हम देखते हैं कि कर्मपरमाणु
का अनुभवन उदय और उदीरणा इन दोनोंमें लिया गया है ।
इनमें अन्तर है तो कालप्राप्त और अकालप्राप्त कर्मपरमाणुओं
है । उदयमें काल प्राप्त कर्मपरमाणु रहते हैं और उदीरणामें अ

---

१ दिगम्बर परम्परामें मोहनीयका अविकल वर्णन कषायपाहु
और आठों कर्मोंके बन्धका अविकल वर्णन महाबन्धमें मिलता है ।
पूर्वोक्त सूचनानुसार सांगोपांग है । षट्खण्डागममें भी यथायोग्य व
मिलता है । जो जिज्ञासु इस विषयकी गहराईको समझना चाहते हैं वे
ग्रन्थोंका स्वाध्याय अवश्य करें ।

(१) 'उदयस्सुदीरणस्स य सामित्तादो ण विज्जदि विसेसो ॥ गो० क
गा० २७८ ।' 'उदओ उदीरणाए तुल्लो मोत्तूण एक्कचत्तालं । आवरणविग्घस
लणलोभवेए य दिट्ठिदुगं ॥' कर्म प्र० उद० गा० १ ।

प्राप्त कर्मपरमाणु रहते हैं। तो भी सामान्य नियम यह है कि जहाँ जिस कर्मका उदय होता है वहा उसकी उदीरणा अवश्य होती है। किन्तु इसके सात अपवाद हैं—पहला यह है कि जिनका स्वोदयसे सत्त्वनाश होता है उनकी उदीरणाव्युच्छित्ति एक आवलि काल पहले हो जाती है और उदयव्युच्छित्ति एक आवलि काल बाद होती है। दूसरा अपवाद यह है कि वेदनीय और मनुष्यायुकी उदीरणा प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक ही होती है जब कि इनका उदय अयोगिकेवली गुणस्थान तक होता है। तीसरा अपवाद यह है कि जिन प्रकृतियोंका अयोगिकेवली गुणस्थानमें उदय है उनकी उदीरणा सयोगिकेवली गुणस्थान तक ही होती है। चौथा अपवाद यह है कि चारों आयुकर्मोंका अपने अपने भवकी अन्तिम आवलिमें उदय ही होता है उदीरणा नहीं। पाचवाँ अपवाद यह है कि निद्रादिक पाचका शरीर पर्याप्तिके बाद इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने तक उदय ही होता है उदीरणा नहीं होती। छठा अपवाद यह है कि अंतरकरण करनेके बाद प्रथम स्थितिमें एक आवलि काल शेष रहने पर मिथ्यात्वका, क्षायिक सम्यक्त्वको प्राप्त करनेवालेके सम्यक्त्वका और उपशमश्रेणिमें जो जिस वेदके उदयसे उपशमश्रेणि पर चढा है उसके उस वेदका उदय ही होता है उदीरणा नहीं। तथा सातवा अपवाद यह है कि उपशम श्रेणिके सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानमे भी एक आवलिकाल शेष रहने पर सूक्ष्म लोभका उदय ही होता है उदीरणा नहीं। अब यदि इन सात अपवादवाली प्रकृतियोका संकलन किया जाता है तो वे कुल ४१ होती हैं। यही सबब है कि ग्रन्थकारने ४१ प्रकृतियोंको छोडकर शेष सब प्रकृतियोंके उदय और उदीरणामें स्वामित्वका अपेक्षा कोई विशेषता नहीं बतलाई है।

सवाल यह था कि ग्रन्थकारने बन्धस्थान और सत्त्वस्थानोंके साथ उदयस्थानोंका और इन सबके संवेधका तो विचार किया पर उदीरणास्थानोंको क्यों छोड़ दिया ? इसी सवालको ध्यानमें रखकर ग्रन्थकार ने उक्त गाथाका निर्देश किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इन ४१ प्रकृतियोंके कारण जो थोड़ा बहुत उदयसे उदीरणामें अन्तर आता है उसे सम्हालते हुए उदीरणाका कथन उदयके समान ही करना चाहिये।

अब आगे जिन ४१ प्रकृतियोंमें विशेषता है उनका निर्देश करनेके लिये आगेकी गाथा कहते हैं—

नाणंतरायदसगं दंसणनव वेयणिज्ज मिच्छत्तं।
सम्मत्त लोभ वेयाउगाणि नव नाम उच्चं च ॥५५॥

अर्थ – ज्ञानावरण और अन्तरायकी दस दर्शनावरणकी नौ, वेदनीयकी दो, मिथ्यात्व मोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, लोभ संज्वलन, तीनवेद, चार आयु, नाम कर्मकी नौ और उच्चगोत्र ये इकतालीस प्रकृतिया हैं जिनके उदय और उदीरणामें स्वामित्वकी अपेक्षा विशेषता है।

विशेषार्थ—ज्ञानावरण की पाच, अन्तरायकी पाच और दर्शनावरणकी चार इन चौदह प्रकृतियोंकी क्षीणमोह गुणस्थानमें एक आवलि काल शेष रहने तक उदय और उदीरणा बराबर होती रहती है। परन्तु एक आवलि कालके शेष रह जाने पर तदनन्तर उक्त १४ प्रकृतियोंका उदय ही होता है। उदीरणा नहीं होती, क्योंकि 'उदयावलिगत कर्मदलिक सब करणोंके अयोग्य हैं' इस नियमके अनुसार उनकी उदीरणा नहीं होती। शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवोंके शरीर पर्याप्तिके समाप्त होनेके अनन्तर समयसे लेकर जब तक इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती है तब तक निद्रादिक पाचका

उदय ही होता है उदीरणा नहीं होती। इसके अतिरिक्त शेष कालमें उदय और उदीरणा एक साथ होती है और इनका विच्छेद[1] भी एक साथ होता है। साता और असाता वेदनीयकी उदय और उदीरणा प्रमत्तसयत गुणस्थान तक एक साथ होती है किन्तु अगले गुणस्थानोंमें इनका उदय ही होता है उदीरणा नहीं होती। प्रथम सम्यक्त्वको उत्पन्न करनेवाले जीवके अन्तरकरण करनेके पश्चात् प्रथम स्थितिमें एक आवलि प्रमाण कालके शेष रहने पर मिथ्यात्वका उदय ही होता है उदीरणा नहीं होती। क्षायिक सम्यक्त्वको उत्पन्न करनेवाले जिस वेदक सम्यग्दृष्टि जीवने मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वका क्षय करके सम्यक्त्वकी सर्व अपवर्तनाके द्वारा अपवर्तना करके अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति शेष रखी है। तदनन्तर उदय और उदीरणाके द्वारा उसका अनुभव करते हुए जब एक आवलि स्थिति शेष रह जाती है तब सम्यक्त्व का उदय ही होता है उदीरणा नहीं होती। तीन वेदोंमेंसे जिस वेदसे जीव श्रेणिपर चढता है उसके अन्तरकरण करनेके बाद उस वेदकी प्रथम स्थितिमें एक आवलि प्रमाण कालके शेष रहने पर उदय ही होता उदीरणा नहीं होती। चारों ही आयुओंका अपने अपने भवकी अन्तिम आवलि प्रमाण कालके शेष रहने पर उदय ही होता है उदीरणा नहीं होती किन्तु मनुष्यायुमें इतनी और विशेषता है कि इसका प्रमत्तसंयत गुणस्थानके बाद उदय ही होता है उदीरणा नहीं होती।

---

(१) दिगम्बर परम्परामें निद्रा और प्रचलाकी उदय और सत्त्वव्युच्छित्ति क्षीणमोह गुणस्थानमें एक साथ बतलाई है, इसलिये इस अपेक्षासे इनमें से जिस उदयगत प्रकृतिकी उदयव्युच्छित्ति और सत्त्वव्युच्छित्ति एक साथ होगी उसकी उदयव्युच्छित्तिके एक आवलिकाल पूर्व ही उदीरणा व्युच्छित्ति हो जायगी।

तथा मनुष्यगति पचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर पर्याप्त, सुभग, आदेय, यश कीर्ति और तीर्थंकर इन नौ नाम कर्मकी प्रकृतियोंका और उच्चगोत्रका सयोगिकेवली गुणस्थान तक उदय और उदीरणा दोनो होते हैं। किन्तु अयोगिकेवली गुणस्थानमे इनका उदय ही होता है उदीरणा नहीं होती। इस प्रकार पिछली गाथामें उदय और उदीरणामें स्वामित्वकी अपेक्षा जिन इकतालीस प्रकृतियोंकी विशेषताका निर्देश किया वे इकतालीस प्रकृतियाँ कौन हैं इसका इस गाथामे ज्ञान हो जाता है। साथ ही विशेषताके कारणका भी पता लग जाता है जैसा कि पूर्वमें निर्देश किया ही है।

अब किस गुणस्थानमे कितनी प्रकृतियोका बन्ध होता है इसका विचार करते हैं—

तित्थंगराहारगविरहियाओ अज्जेइ सव्वपगईओ।
मिच्छत्तवेयगो सासणो वि इगुवीससेसाओ ॥५६॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि जीव तीर्थंकर और आहारकद्विकके बिना शेष सब प्रकृतियोंका बन्ध करता है। तथा सास्वादनसम्यग्दृष्टि जीव उन्नीसके बिना एकसौ एक प्रकृतियोंका बन्ध करता है ॥५६॥

विशेषार्थ—यद्यपि आठो कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियाँ १४८ हैं। फिर भी बन्ध की अपेक्षा १२० प्रकृतियाँ ली जाती हैं। इसका मतलब यह नहीं कि शेष २८ प्रकृतियाँ छोड दी जाती हैं। किन्तु इसका यह कारण है कि पाँच बन्धन और पाँच सघात पाँच शरीरके अविनाभावी है। जहाँ जिस शरीरका बन्ध होता है वहाँ उस बधन और सघातका अवश्य बन्ध होता है अत बन्धमें

(१) सत्तरसुत्तरमेगुत्तर तु— ॥ पञ्च० सप्त० गा० १४३। 'सत्तर मेक्कगसयं ॥'—गो० कर्म० गा १०३।

पाँच बन्धन और पाँच संघातको अलग नहीं गिनाया, इसलिये १४८ मेंसे इन दसके घट जाने से १३८ रहीं। वर्णादिक चारके अवान्तर भेद २० हैं किन्तु यहाँ अवान्तर भेदों की विवक्षा नहीं की गई है अतः १३८ मेंसे २०—४=१६ घटा देने पर १२२ रहीं। तथा सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व ये दोनों बन्धप्रकृतियाँ नहीं हैं क्योंकि सम्यक्त्व गुणके द्वारा ही जीव मिथ्यात्वदलिकके तीन भाग कर देता है जो अत्यन्त विशुद्ध होता है उसे सम्यक्त्व संज्ञा प्राप्त होती है। जो कम विशुद्ध होता है उसे सम्यग्मिथ्यात्व संज्ञा प्राप्त होती है और इन दोनोंके अतिरिक्त शेष भाग मिथ्यात्व कहलाता है। अतः १२२ मेंसे इन दो अबन्ध प्रकृतियोंके घट जानेसे बन्ध योग्य १२० प्रकृतियाँ रहती हैं। किन्तु तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध सम्यक्त्व गुणके साथ होता है और आहारकद्विकका बन्ध संयमगुणके साथ होता है, अतः मिथ्यात्व गुणस्थानमें इन तीन प्रकृतियोंका बन्ध न होकर शेष ११७ प्रकृतियोंका बन्ध होता है। सास्वादन गुणस्थानमें १०१ प्रकृतियोंका बन्ध होता है गाथामें जो यह कहा है उसका आशय यह है कि मिथ्यात्व गुणके निमित्तसे जिन सोलह प्रकृतियोंका बन्ध मिथ्यात्वमें होता है उनका बन्ध सास्वादनमें नहीं होता। वे सोलह प्रकृतियाँ ये हैं—मिथ्यात्व, नपुंसकवेद, नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु, एकेन्द्रिय जाति, दो इन्द्रिय जाति, तीन इन्द्रिय जाति, चार इन्द्रिय जाति, हुण्ड-संस्थान, सेवार्त संहनन, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण और अपर्याप्तक। अतः मिथ्यात्वमें बंधनेवाली ११७ प्रकृतियोंमेंसे उक्त १६ प्रकृतियोंके घटा देने पर सास्वादनमें १०१ का बन्ध होता है।

तथा मनुष्यगति पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर पर्याप्त, सुभग, आदेय, यश कीर्ति और तीर्थंकर इन नौ नाम कर्मकी प्रकृतियोंका और उच्चगोत्रका सयोगिकेवली गुणस्थान तक उदय और उदीरणा दोनों होते हैं। किन्तु अयोगिकेवली गुणस्थानमें इनका उदय ही होता है उदीरणा नहीं होती। इस प्रकार पिछली गाथामें उदय और उदीरणामें स्वामित्वकी अपेक्षा जिन इकतालीस प्रकृतियोंकी विशेषताका निर्देश किया वे इकतालीस प्रकृतियाँ कौन हैं इसका इस गाथासे ज्ञान हो जाता है। साथ ही विशेषताके कारणका भी पता लग जाता है जैसा कि पूर्वमें निर्देश किया ही है।

अब किस गुणस्थानमें कितनी प्रकृतियोंका बन्ध होता है इसका विचार करते हैं—

तित्थंगराहारगविरहियाओ अज्जेइ सव्वपगईओ।
मिच्छत्तवेयगो सासणो वि इगुवीससेसाओ॥५६॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि जीव तीर्थंकर और आहारकद्विकके बिना शेष सब प्रकृतियोंका बन्ध करता है। तथा सास्वादनसम्यग्दृष्टि जीव उन्नीसके बिना एकसौ एक प्रकृतियोंका बन्ध करता है॥५६॥

विशेषार्थ—यद्यपि आठों कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियाँ १४८ हैं। फिर भी बन्ध की अपेक्षा १२० प्रकृतियाँ ली जाती हैं। इसका मतलब यह नहीं कि शेष २८ प्रकृतियाँ छोड़ दी जाती हैं। किन्तु इसका यह कारण है कि पाँच बन्धन और पाँच संघात पाँच शरीरके अविनाभावी हैं। जहाँ जिस शरीरका बन्ध होता है वहाँ उस बंधन और संघातका अवश्य बन्ध होता है अतः बन्धमें

(१) सत्तरसुत्तरमेगुत्तर हु-॥ पञ्च० सप्त० गा० १४२। 'सत्तर सेक्कगसयं॥'—गो० कर्म० गा १०३।

किन्तु यहाँ इनके अतिरिक्त ७४ प्रकृतियोंका बन्ध अवश्य होता है। अविरतसम्यग्दृष्टि ३५ के बिना ७७ का बन्ध करता है इसका यह आशय है कि अविरतसम्यग्दृष्टि जीवके मनुष्यायु, देवायु, और तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध सम्भव है अत यहाँ १२० मेंसे ४६ न घटाकर ४३ ही घटाई है और इस प्रकार अविरतसम्यग्दृष्टिके ७७ का बन्ध बतलाया है। देशविरतमें ५३ के बिना ६७ का बन्ध होता है। इसका यह आशय है कि अप्रत्याख्यानावरणके उदयसे जिन दस प्रकृतियोंका बन्ध अविरत सम्यग्दृष्टिके होता है उनका बन्ध देशविरतके नहीं होता, अत चौथे गुणस्थानमें जिन ४३ प्रकृतियोंको घटाया है उनमें इन १० प्रकृतियोंके मिला देने पर देशविरतमें बन्धके अयोग्य ५३ प्रकृतियाँ हो जाती हैं और इनसे अतिरिक्त रहीं ६७ प्रकृतियोंका यहाँ बन्ध होता है। अप्रत्याख्यानावरणके उदयसे बधनेवाली वे १० प्रकृतियाँ ये हैं—अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, औदारिकशरीर, औदारिक आगोपाग और वज्रर्षभनाराच सहनन। तथा प्रमत्तविरतमें ५७ के बिना ६३ का बन्ध होता है ऐसा कहनेका यह तात्पर्य है कि प्रत्याख्यानावरणके उदयसे जिन प्रत्याख्यानावरण चतुष्कका देशविरत गुणस्थान तक बन्ध होता है उनका प्रमत्त विरतके नहीं होता, अत जिन ५३ प्रकृतियों को देशविरतमें बधनेके अयोग्य बतलाया है उनमें इन चारके और मिला देने पर प्रमत्त विरतमें ५७ प्रकृतियाँ बधनेके अयोग्य होती हैं और इस प्रकार यहाँ ६३ प्रकृतियोंका बन्ध होता है।

छायालसेस मीसो अविरयसम्मो तियालपरिसेसा।
तेवण्ण देसविरओ विरओ सगवण्णसेसाओ ॥५७॥

अर्थ—सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव छियालिसके विना ७४ का, अविरत सम्यग्दृष्टि जीव तेतालीसके विना ७७ का, देशविरत त्रेपनके बिना ६७ का और प्रमत्तविरत सत्तावनके बिना ६३ का बन्ध करता है।

विशेषार्थ—इस गाथामें मिश्रादि चार गुणस्थानोंमें कहाँ कितनी प्रकृतियोंका बन्ध होता है इसका निर्देश किया है। आगे उसका विस्तारसे खुलासा करते हैं। अनन्तानुबन्धीके उदयसे २५ प्रकृतियोका बन्ध होता है परन्तु मिश्र गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धीका उदय होता नहीं अत यहाँ बन्धमें २५ प्रकृतियाँ और घट जाती हैं। वे २५ प्रकृतियाँ ये हैं—स्त्यानर्द्धित्रिक, अनन्तानुबन्धी चतुष्क स्त्रीवेद, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, तिर्यंचायु, मध्यके चार संस्थान मध्यके चार संहनन, उद्योत, अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और नीचगोत्र। साथ ही यह नियम है कि मिश्र गुणस्थानमें किसी भी आयुका बन्ध नहीं होता। इसलिये यहाँ मनुष्यायु और देवायु ये दो आयु और घट जाती हैं। नरकायु की बन्धव्युच्छित्ति पहलेमें और तिर्यंचायुकी बन्धव्युच्छित्ति दूसरेमें हो जाती है अत यहाँ इन दो आयुओंके घटनेका प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार सास्वादनमें नहीं बंधनेवाली १९ प्रकृतियोंमें इन २५+२=२७ प्रकृतियोंके मिला देने पर ४६ प्रकृतियाँ होती हैं जिनका मिश्र गुणस्थानमें बन्ध नहीं होता।

---

(१) चोहत्तरि सगसयरी। सत्तट्ठी तिगसट्ठी॥' पंच० सप्त० गा० १४३। 'चउसत्तरि सगट्ठि तेवट्ठी'—गो० कर्म० गा० १०३।

किन्तु यहाँ इनके अतिरिक्त ७४ प्रकृतियोंका बन्ध अवश्य होता है। अविरतसम्यग्दृष्टि ३३ के बिना ७७ का बन्ध करता है इसका यह आशय है कि अविरतसम्यग्दृष्टि जीवके मनुष्यायु, देवायु, और तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध सम्भव है अत यहाँ १२० मेंसे ४६ न घटाकर ४३ ही घटाई है और इस प्रकार अविरतसम्यग्दृष्टिके ७७ का बन्ध बतलाया है। देशविरतमें ५३ के बिना ६७ का बन्ध होता है। इसका यह आशय है कि अप्रत्याख्यानावरणके उदयसे जिन दस प्रकृतियोंका बन्ध अविरत सम्यग्दृष्टिके होता है उनका बन्ध देशविरतके नहीं होता, अत चौथे गुणस्थानमें जिन ४३ प्रकृतियोंको घटाया है उनमें इन १० प्रकृतियोंके मिला देने पर देशविरतमें बन्धके अयोग्य ५३ प्रकृतियाँ हो जाती हैं और इनसे अतिरिक्त रहीं ६७ प्रकृतियोंका वहाँ बन्ध होता है। अप्रत्याख्यानावरणके उदयसे बधनेवाली वे १० प्रकृतियाँ ये हैं— अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, औदारिकशरीर, औदारिक आगोपाग और वज्रर्षभनाराच सहनन। तथा प्रमत्तविरतमें ५७ के बिना ६३ का बन्ध होता है ऐसा कहनेका यह तात्पर्य है कि प्रत्याख्यानावरणके उदयसे जिन प्रत्याख्यानावरण चतुष्कका देशविरत गुणस्थान तक बन्ध होता है उनका प्रमत्त विरतके नहीं होता, अत जिन ५३ प्रकृतियों को देशविरतमें बधनेके अयोग्य बतलाया है उनमें इन चारों और मिला देने पर प्रमत्त विरतमें ५७ प्रकृतियाँ बधनेके अयोग्य होती हैं और इस प्रकार यहाँ ६३ प्रकृतियोंका बन्ध होता है

इगुसट्ठिमप्पमत्तो[1] बंधइ देवाउयस्स इयरो वि।
अट्ठावण्णमपुव्वो छप्पण्णं वा वि छव्वीसं ॥५८॥

अर्थ—अप्रमत्तसंयत जीव उनसठ प्रकृतियोंका बन्ध करता है। यह देवायुका भी बन्ध करता है। तथा अपूर्वकरण जीव अट्ठावन, छप्पन और छब्बीस प्रकृतियोंका बन्ध करता है।

विशेषार्थ—पिछली गाथाओंमें किस गुणस्थानमें कितनी प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता इसका मुख्यरूपसे निर्देश किया है। किन्तु इस गाथासे उस क्रमको बदलकर अब यह बतलाया है कि किस गुणस्थानमें कितनी प्रकृतियोंका बन्ध होता है। यह तो पहले ही बतला आये हैं कि प्रमत्त विरतमें ६३ प्रकृतियोंका बन्ध होता है। इनमेंसे असाता वेदनीय, अरति, शोक अस्थिर, अशुभ और अयश कीर्ति इन छह प्रकृतियों को घटा कर आहारकद्विक मिला देने पर अप्रमत्त संयतके ५६ प्रकृतियोंका बन्ध प्राप्त होता है। यहाँ छह प्रकृतियाँ तो इसलिये घटाईं क्योंकि इनका बंध प्रमत्तसंयत तक ही होता है और आहारकद्विकको इसलिये मिलाया, क्योंकि छठे गुणस्थान तक ये अबन्धयोग्य प्रकृतियाँ थीं किन्तु सातवेंसे इनका बन्ध सम्भव है। यद्यपि ५६ प्रकृतियोंमें देवायु भी सम्मिलित है फिर भी ग्रंथकारने 'अप्रमत्तसंयत देवायुका भी बन्ध करता है' इस प्रकार जो पृथक् निर्देश किया है उसका टीकाकार यह अभिप्राय बतलाते हैं कि देवायुके बन्धका प्रारम्भ प्रमत्तसंयत ही करता है यद्यपि ऐसा नियम है फिर भी यह जीव देवायुका बन्ध करते हुए

(१) गुणसट्ठी अट्ठवण्णा य ॥ निद्दादुगे छवण्णा छब्बीसा णाम तीस विरमम्मि ॥' पञ्च० सप्त० गा० १४३-१४४ यथा 'सगवट्ठवण्णा दुवीस ॥' गो० कर्म० गा० १०२ ॥

अप्रमत्तसंयत भी हो जाता है और इस प्रकार अप्रमत्त संयत भी देवायुका बन्धक होता है। परन्तु अप्रमत्त संयत गुणस्थानमें देवायु का बन्ध होता है इससे यदि कोई यह समझे कि अप्रमत्त संयत भी देवायुके बंधका प्रारंभ करता है सो उसका ऐसा समझना ठीक नहीं है। इस प्रकार इसी बातका ज्ञान करानेके लिये ग्रंथकारने 'अप्रमत्त संयत भी देवायुका बन्ध करता है' यह वचन दिया है। अब इन ५९ प्रकृतियोंमेंसे देवायुका बन्ध विच्छेद होजाने पर अपूर्वकरण गुणस्थानवाला जीव पहले संख्यातवें भागमें ५८ प्रकृतियोंका बन्ध करता है। तदनन्तर निद्रा और प्रचलाका बन्धविच्छेद हो जाने पर संख्यातवें भागके शेष रहने तक ५६ प्रकृतियो का बन्ध करता है। तदनन्तर देवगति, देवानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रियशरीर, वैक्रियांगोपांग, आहारक शरीर आहारक आंगोपांग, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, समचतुरस्रसंस्थान, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त प्रत्येक, स्थिर, शुभ सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण और तीर्थंकर इन ३० प्रकृतियोका बन्धविच्छेद होजाने पर अन्तिम भागमें २६ प्रकृतियोंका बन्ध करता है।

बावीसा एगूणं बंधइ अट्ठारसंतमनियट्टी।
सत्तर सुहुमसरागो सायममोहो सजोगि त्ति ॥ ५९ ॥

अर्थ—अनिवृत्तिबादर जीव २२ का और इसके बाद क्रम से एक एक कम करते हुए २१, २०, १९ और १८ का बन्ध करता

(१) 'हासरईभयकुच्छाविरमे बावीस पुव्वमि ॥ पुवेयकोहमाइसु अबज्झमाणेसु पंच ठाणाणि। बारे सुहुमे सत्तरस पगतिओ सायमियरेसु ॥' पञ्च० सप्त० गा० १४४–१४५। 'दुवीसं सत्तारसेकोघे ॥ गो० कर्म० गा० १०३।

है। सूक्ष्मसम्पराय जीव १७ का बन्ध करता है। तथा मोहरहित (उपशान्त मोह और क्षीणमोह) जीव और सयोगिकेवली एक साता प्रकृति का बन्ध करता है।

विशेषार्थ—यद्यपि अपूर्वकरणमें २६ से कमका बन्ध नहीं होता फिर भी इसके अन्त समयमें हास्य, रति, भय और जुगुप्सा इन चारका बन्धविच्छेद होकर अनिवृत्तिकरणके पहले भाग में २२ का बन्ध होता है। तथा इसके पहले भागके अन्तमे पुरुष वेदका, दूसरे भागके अन्तमें क्रोधसंज्वलनका तीसरे भागके अन्तमें मानसंज्वलन का, चौथे भागके अन्तमें मायासंज्वलनका बन्धविच्छेद हो जाता है इसलिये दूसरे, तीसरे, चौथे और पाचवें भागमें क्रमसे इसके २१, २०, १९ और १८ प्रकृतियोंका बन्ध होता है। बन्ध की अपेक्षा अनिवृत्तिकरणके पाच भाग हैं। इसलिये पाचवें भागके अन्तमें जब लोभ संज्वलनका बन्धविच्छेद होता है तब इस गुणस्थानवाला जीव सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानवाला हो जाता है, अत इसके १७ प्रकृतियोंका निरन्तर बन्ध होता रहता है। किन्तु इस गुणस्थानके अन्तमे ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की चार, अन्तराय की पाँच, यश कीर्ति और उच्चगोत्र इन सोलह प्रकृतियोंका बन्धविच्छेद हो जाता है, अत उपशान्तमोह, क्षीणमोह और सयोगिकेवली जीव एक सातावेदनीय का बन्ध करते हैं। किन्तु सयोगिकेवली गुणस्थानके अन्तिम समयमे साताका भी बन्धविच्छेद हो जाता है इसलिये अयोगिकेवली बन्धके कारणोंका अभाव हो जानेसे कर्मबन्धसे रहित है। यद्यपि यह बात उक्त गाथामें नहीं बतलाई तो भी उक्त गाथामें जो यह निर्देश किया है कि एक साताका बन्ध मोहरहित और सयोगिकेवली जीव करते हैं इससे बन्धके मुख्य कारण कषाय और योगका अयोगिकेवली गुणस्थानमें अभाव होनेसे जाना जाता

है कि अयोगीके रंचमात्र भी कर्मका बन्ध नहीं होता। इस प्रकार किस गुणस्थानवालेके कितनी प्रकृतियोंका बन्ध होता है और कितनी प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता इसका चार गाथाओं द्वारा विचार किया।

अब उक्त कथनका संक्षेपमें ज्ञान करानेके लिये कोष्ठक देते हैं—

[५५]

बन्धयोग १२० प्रकृतियाँ

गुणस्थान	बन्ध	अबन्ध	बन्धविच्छेद
मिथ्यादृष्टि	११७	३	१६
सास्वादन	१०१	१९	२५
मिश्र	७४	४६	०
अविरत सम्यग्दृष्टि	७७	४३	१०
देशविरत	६७	५३	४

गुणस्थान	बन्ध	अबन्ध	बन्धविच्छेद
प्रमत्तविरत	६३	५७	६
अप्रमत्तविरत	५९	६१	१
अपूर्वकरण प्र० भा०	५८	६२	२
,, द्वि० भा०	५६	६४	३०
,, तृ० भा०	२६	९४	४
अनिवृत्तिक० प्र० भा०	२२	९८	१
,, द्वि० भा०	२१	९९	१
,, तृ० भा०	२०	१००	१
,, च० भा०	१९	१०१	१
,, पं० भा०	१८	१०२	१
सूक्ष्म सम्पराय	१७	१०३	१६
उपशान्तमोह	१	११९	०
क्षीणमोह	१	११९	०
सयोगिकेवली	१	११९	१
अयोगिकेवली	०	१२०	०

एसो उ बंधसामित्तओघो गइयाइएसु वि तहेव ।
ओहाओ साहिज्जा जत्थ जहा पगडिसब्भावो ॥ ६० ॥

अर्थ—यहाँ तक ओघसे बन्धस्वामित्वका कथन किया। गति आदिक मार्गणाओंमे भी जहाँ जितनी प्रकृतियोंका बन्ध होता हो तदनुसार वहाँ भी ओघके समान बन्धस्वामित्वका कथन करना चाहिये।

विशेषार्थ—पिछली चार गाथाओंमें किस गुणस्थानवाला कितनी प्रकृतियोंका बन्ध करता है और कितनी प्रकृतियोंका बन्ध नहीं करता इसका विधि और निषेध द्वारा कथन किया है। इससे यद्यपि ओघसे बन्ध स्वामित्वका ज्ञान हो जाता है फिर भी गति आदि मार्गणाओंमे कहा कितनी प्रकृतियोंका बन्ध होता है और कितनी प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता इसका ज्ञान होना शेष रह जाता है। ग्रन्थकारने इसके लिये इतनी ही सूचना की है कि जहाँ जितनी प्रकृतियोंका बन्ध होता हो इसका विचार करके ओघके समान मार्गणास्थानोंमें भी बन्धस्वामित्वका कथन कर लेना चाहिये। सो इस सूचनाके अनुसार यह आवश्यक हो जाता है कि यहाँ मार्गणास्थानोंमें भी बन्धका विचार किया जाय। किन्तु तीसरे कर्म ग्रन्थमें इसका विस्तार से विचार किया है। जिज्ञासु जन उसे वहाँसे जान सकते हैं अत यहाँ इसका विचार नहीं किया जाता। गाथामें जो ओघ पद आया है वह सामान्यका पर्यायवाची है और इससे स्पष्टत गुणस्थान की सूचना मिलती है क्योंकि सर्वप्रथम गुणस्थानोंमें ही बन्धस्वामित्वका विचार कर आये हैं।

अब किस गतिमें कितनी प्रकृतियोंकी सत्ता होती है इसका कथन करनेके लिये आगे की गाथा कहते हैं।

शुभ प्रकृतियोंका ही बन्ध करने लगा हो, जिसने अशुभ प्रकृतियोंके सत्तामें स्थित चतु स्थानी अनुभागको द्विस्थानी कर लिया हो, जिसने शुभ प्रकृतियोंके सत्तामें स्थित द्विस्थानी अनुभागको चतु - स्थानी कर लिया हो और जो एक स्थितिबन्धके पूर्ण होने पर अन्य स्थितिबन्धको पूर्व पूर्व स्थितिबन्धकी अपेक्षा उत्तरोत्तर पल्यके सख्यातवें भाग कम बाँधने लगा हो ऐसा अविरतसम्यग्दृष्टि, देश-विरत, प्रमत्तविरत या अप्रमत्तविरत जीव ही अनन्तानुबन्धी चतुष्कको उपशमाता है। जिसके लिये यह जीव यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामके तीन करण करता है। जिनके ऊपर बतलाये अनुसार तीन भेद हैं। यथाप्रवृत्तकरणमे करणके पहलेके समान अवस्था बनी रहती है अत इसे यथाप्रवृत्त-करण कहते हैं। इसका दूसरा नाम पूर्वप्रवृत्त करण भी है। अपूर्वकरणमें स्थितिबन्ध आदि बहुतसी क्रियायें होने लगती हैं इसलिये इसे अपूर्वकरण कहते हैं। और अनिवृत्तिकरणमें समान कालवालोंकी विशुद्धि समान होती है इसलिये इसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। अब इसी विषयको विशेष स्पष्टीकरणके साथ बतलाते हैं—

यथाप्रवृत्त करणमें प्रत्येक समय उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धि होती है। और शुभ प्रकृतियोंका बन्ध[1] आदि पूर्ववत् चालू रहता है। किन्तु स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी और गुण-सक्रम नहीं होता क्यो कि यहाँ इनके योग्य विशुद्धि नहीं पाई जाती। तथा नाना जीवोंकी अपेक्षा इस करणमे प्रति समय असख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते हैं जो छह स्थान पतित होते हैं। हानि और वृद्धिकी अपेक्षा ये छह स्थान दो प्रकारके हैं।

---

(१) दिगम्बर परम्परामें अध प्रवृत्तकरण सज्ञा मिलती है।

अनन्त भागहानि, असख्यात भागहानि, सख्यातभागहानि, सख्यातगुण हानि, असख्यात गुणहानि और अनन्तगुणहानि ये हानिरूप छह स्थान हैं। तथा अनन्त भागवृद्धि, असख्यात भागवृद्धि, सख्यात भागवृद्धि, सख्यात गुणवृद्धि, असख्यात गुणवृद्धि और अनन्तगुण वृद्धि ये वृद्धिरूप छह स्थान हैं। आशय यह है कि जब हम एक जीवकी अपेक्षा विचार करते हैं तब पहले समयके परिणामोंसे दूसरे समयके परिणाम अनन्तगुणी विशुद्धिको लिये हुए प्राप्त होते हैं इत्यादि। और जब नाना जीवोंकी अपेक्षा विचार करते हैं तब एक समयवर्ती नाना जीवोंके परिणाम छह स्थान पतित प्राप्त होते हैं। तथा यथाप्रवृत्तकरणके पहले समयमें नाना जीवोंकी अपेक्षा जितने परिणाम होते हैं, उनसे दूसरे समयमें विशेष अधिक होते हैं। दूसरे समयसे तीसरे समयमें और तीसरे समयसे चौथे समयमें इसी प्रकार अन्त तक विशेष अधिक विशेष अधिक परिणाम होते हैं। इसमें भी पहले समयमें जघन्य विशुद्धि सबसे थोड़ी होती है। इससे दूसरे समयमें जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। इससे तीसरे समयमें जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। इस प्रकार यथाप्रवृत्त करणके सख्यातवें भागके प्राप्त होने तक यही क्रम चालू रहता है। पर यहाँ जो जघन्य विशुद्धि प्राप्त होती है उससे पहले समयकी उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। तदनन्तर पहले समयकी उत्कृष्ट विशुद्धिसे यथाप्रवृत्तकरणके सख्यातवें भागके अगले समयकी जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। पुन इससे दूसरे समयकी उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। पुन इससे यथाप्रवृत्त करणके सख्यातवें भागके आगे दूसरे समयकी जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। इस प्रकार यथाप्रवृत्त करणके अन्तिम समयमें जघन्य विशुद्धिस्थानके प्राप्त होने तक ऊपर और

नीचे एक एक विशुद्धि स्थानको अनन्तगुणा करते जाना चाहिये
पर इसके आगे जितने उत्कृष्ट विशुद्धिस्थान शेष रह गये हैं केव
उन्हें उत्तरोत्तर अनन्तगुणा करना चाहिये। इस प्रकार अन्तर्मुहू
कालमें यथाप्रवृत्त करणको समाप्त करके दूसरा अपूर्वकरण हो
है इसमें प्रति समय असख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते हैं उ
प्रति समय छह स्थान पतित होते हैं। इसमें भी पहले समय
जघन्य विशुद्धि सबसे थोडी होती है जो यथाप्रवृत्त करणके अन्ति
समयमें कही गई उत्कृष्ट विशुद्धिसे अनन्तगुणी होती है। पुन
इससे पहले समयमें हो उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी होती है
तदनन्तर इससे दूसरे समयमें जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी होत
है। पुन इससे दूसरे समयमें उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी होत
है। इस प्रकार अपूर्वकरणका अन्तिम समय प्राप्त होने तक प्रत्येव
समयमें उत्तरोत्तर इसी प्रकार कथन करना चाहिये। तथा इसके
पहले समयमें ही स्थितिघात, रसघात गुणश्रेणि, गुणसक्रम और
अपूर्व स्थिति बन्ध ये पाच कार्य एक साथ हो जाते हैं।

स्थितिघातमें सत्तामें स्थित स्थितिके अग्रभागसे अधिकसे अधिक सैकडो सागर प्रमाण और कमसे कम पल्यके सख्यातवे भागप्रमाण स्थितिखण्डका अन्तर्मुहूर्त कालके द्वारा घात किया जाता है। यहाँ जिस स्थितिका आगे चल कर घात नहीं होगा उसमें प्रति समय दलिकोका निक्षेप किया जाता है और इस प्रकार एक अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर उस स्थितिखण्डका घात हो जाता है। तदनन्तर इसके नीचेके दूसरे पल्यके सख्यातवें भागप्रमाण स्थितिखण्डका उक्त प्रकारसे घात किया जाता है। इस प्रकार अपूर्व करणके कालमें उक्त क्रमसे हजारो स्थितिखण्डोका घात होता है जिससे पहले समयकी स्थितिसे अन्तके समयकी स्थिति सख्यातगुणी हीन रह जाती है।

रसघातमें अशुभ प्रकृतियोंका सत्तामें स्थित जो अनुभाग है उसके अनन्तवें भाग प्रमाण अनुभाग को छोड कर शेषका अन्तर्मुहूर्तकालके द्वारा घात किया जाता है। तदनन्तर जो अनन्तवाँ भाग अनुभाग शेष बचा था उसके अनन्तवें भागको छोड कर शेषका अन्तर्मुहूर्त कालके द्वारा घात किया जाता है। इस प्रकार एक एक स्थितिखण्डके उत्कीरण कालके भीतर हजारों अनुभागखण्ड खपा दिये जाते हैं।

गुणश्रेणिमें अनन्तानुबन्धीचतुष्ककी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिको छोडकर ऊपरकी स्थितिवाले दलिकोंमेंसे प्रति समय कुछ दलिक लेकर उदयावलिके ऊपरकी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिमें उनका निक्षेप किया जाता है। क्रम यह है कि पहले समयमें जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं उनमेंसे सबसे कम दलिक उदयावलिके ऊपर पहले समयमें स्थापित किये जाते हैं। इनसे असख्यातगुणे दलिक दूसरे समयमें स्थापित किये जाते हैं। इनसे असख्यातगुणे दलिक तीसरे समयमें स्थापित किये जाते हैं। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्तकाल के अन्तिम समय तक उत्तरोत्तर असख्यातगुणे असख्यातगुणे दलिकोंका निक्षेप किया जाता है। यह प्रथम समयमें ग्रहण किये गये दलिकोंकी निक्षेपविधि है। दूसरे आदि समयोंमें जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं उनका निक्षेप भी इसी प्रकार होता है। किन्तु इतनी विशेषता है कि गुणश्रेणिकी रचनाके पहले समयमें जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं वे सबसे थोडे होते हैं। दूसरे समयमें जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं वे इनसे असख्यातगुणे होते हैं। इसी प्रकार गुणश्रेणि करणके अन्तिम समयके प्राप्त होने तक तृतीयादि समयोंमें जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं वे उत्तरोत्तर असख्यातगुणे होते हैं। यहाँ इतनी विशेषता और है कि अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणका काल जिस प्रकार उत्तरोत्तर व्यतीत होता

जाता है तदनुसार गुणश्रेणिके दलिकोंका निक्षेप अन्तर्मुहूर्तके उत्तरोत्तर शेष बचे हुए समयोंमें होता है अन्तर्मुहूर्तसे ऊपरके समयोंमें नहीं होता। उदाहरणार्थ—मान लो गुणश्रेणिके अन्तर्मुहूर्तका प्रमाण पचास समय है और अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण इन दोनोंके कालका प्रमाण चालीस समय है। अब जो जीव अपूर्वकरणके पहले समयमें गुणश्रेणिकी रचना करता है वह गुणश्रेणीके सब समयोंमें दलिकोंका निक्षेप करता है। तथा दूसरे समयमें उनचास समयोंमें दलिकोंका निक्षेप करता है। इस प्रकार जैसे जैसे अपूर्वकरणका काल व्यतीत होता जाता है वैसे वैसे दलिकोंका निक्षेप कमती कमती समयोंमें होता जाता है।

गुणसंक्रम प्रदेशसंक्रमका एक भेद है। इसमें प्रति समय उत्तरोत्तर असंख्यात गुणित क्रमसे अवध्यमान अनन्तानुबन्धी आदि अशुभ प्रकृतियोंके कर्म दलिकोंका उस समय बंधनेवाली सजातीय प्रकृतियोंमें संक्रमण होता है। यह क्रिया अपूर्वकरणके पहले समयसे ही प्रारम्भ हो जाती है।

तथा अपूर्वकरणके पहले समयसे ही जो स्थितिबन्ध होता है वह अपूर्व अर्थात् इसके पहले होनेवाले स्थितिबन्धसे बहुत थोड़ा होता है। इसके सम्बन्धमें यह नियम है कि स्थितिबन्ध और स्थितिघात इन दोनोंका आरम्भ भी एक साथ होता है और इनकी समाप्ति भी एक साथ होती है इस प्रकार इन पाँच कार्योंका प्रारम्भ अपूर्वकरणमें एक साथ होता है।

अपूर्वकरणके समाप्त होने पर अनिवृत्तिकरण होता है। इसमें प्रविष्ट हुए जीवोंके जिस प्रकार शरीरके आकार आदिमें फरक दिखाई देता है उस प्रकार उनके परिणामोंमें फरक नहीं होता। अर्थात् समान समयवाले एक साथमें चढ़े हुए जीवोंके परिणाम समान ही होते हैं। और भिन्न समयवाले

जीवोके परिणाम सर्वथा भिन्न ही होते हैं। तात्पर्य यह है कि अनिवृत्तिकरणके पहले समयमे जो जीव हैं, थे और होंगे उन सबके परिणाम एक से ही होते हैं। दूसरे समयमें जो जीव हैं, थे और होंगे उनके भी परिणाम एकसे ही होते हैं। इसी प्रकार तृतीयादि समयोंमें भी समझना चाहिये। अनिवृत्तिकरणके इसलिये जितने समय हैं उतने ही इसके परिणाम होते हैं न्यूनाधिक नहीं। किन्तु इतनी विशेषता है कि इनके प्रथमादि समयोंमे जो विशुद्धि होती है द्वितीयादि समयोमे वह उत्तरोत्तर अनतगुणी होती है। अपूर्वकरणके स्थितिघात आदि पाचो कार्य अनिवृत्तिकरणमें भी चालू रहते हैं। इसके अन्तर्मुहूर्त कालमेंसे सख्यात भागोंके बीत जाने पर जब एक भाग शेष रहता है तब अनन्तानुबन्धीचतुष्कके एक आवलिप्रमाण नीचेके निषेकोको छोड कर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण निषेकोंका अन्तरकरण किया जाता है। इस क्रियाके करनेमें न्यूतन स्थितिबन्ध के कालके बराबर समय लगता है। एक आवलि या अन्तर्मुहूर्त प्रमाण नीचेकी और ऊपर की स्थितिको छोडकर मध्यमेसे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण दलिकोको उठाकर उनका बधनेवाली अन्य सजातीय प्रकृतियोंमे प्रक्षेप करनेका नाम अन्तरकरण है। यदि उदयवाली प्रकृतियोका अन्तरकरण किया जाता है तो उनकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण छोड दी जाती है और यदि अनुदयवाली प्रकृतियोंका अन्तरकरण किया जाता है तो उनकी नीचेकी स्थिति आवलिप्रमाण छोड दी जाती है। चूकि यहा अनन्तानुबन्धी चतुष्कका अन्तर करण करना है। किन्तु उसका चौथे आदि गुणस्थानोंमें उदय नहीं होता इसलिये इनके नीचेके आवलि प्रमाण दलिकोंको छोडकर ऊपरके अन्तर्मुहूर्त प्रमाण दलिकोंका अन्तरकरण किया जाता है। अन्तरकरणमें अन्तरका अर्थ व्यवधान और करणका अर्थ किया है। तदनुसार जिन प्रकृतियोंका अन्तर-

करण किया जाता है उनके दलिकोंकी लड़ीको मध्यसे भंग कर दिया जाता है। इससे दलिकोंकी तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं—प्रथम स्थिति, सान्तर स्थिति और उपरितन या द्वितीय स्थिति। प्रथम स्थितिका प्रमाण एक आवलि या एक अन्तर्मुहूर्त होता है। इसके बाद सान्तर स्थिति प्राप्त होती है। यह दलिकोंसे शून्य अवस्था है। इसका भी प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है। इसके बाद द्वितीय स्थिति प्राप्त होती है। इसका प्रमाण दलिकोंकी शेष स्थिति है। अन्तरकरण करनेके पहले दलिकोंकी लड़ी ०००००००००००००००० इस प्रकार अविच्छिन्न रहती है। किन्तु अन्तरकरण कर लेने पर उसकी अवस्था ००००० ००००००००० इस प्रकार हो जाती है। यहाँ मध्यमें जो शून्य स्थान दिखाई देता है वहाँ के कुछ दलिकोंको यथा सम्भव बँधनेवाली अन्य सजातीय प्रकृतियोंमें मिला दिया जाता है। इस अन्तरस्थान से नीचेकी स्थितिको प्रथम स्थिति और ऊपरकी स्थितिको द्वितीय स्थिति कहते हैं। उदयवाली प्रकृतियोंके अन्तर करण करनेका काल और प्रथम स्थितिका प्रमाण समान होता है। किन्तु अनुदयवाली प्रकृतियोंकी प्रथम स्थितिके प्रमाणसे अन्तरकरण करनेका काल बहुत बड़ा होता है। अन्तरकरण क्रियाके चालू रहते हुए उदयवाली प्रकृतियोंकी प्रथम स्थितिका एक एक दलिक उदयमें आकर निर्जीर्ण होता जाता है और अनुदयवाली प्रकृतियोंकी प्रथम स्थितिके एक एक दलिकका उदयमें आनेवाली सजातीय प्रकृतियोंमें स्तिवुक संक्रमणके द्वारा संक्रम होता रहता है। प्रकृतमें अनन्तानुबन्धीके उपशमका अधिकार है, किन्तु यहाँ इसका उदय नहीं है अतः इसके प्रथम स्थितिगत प्रत्येक दलिकका भी स्तिबुक संक्रमणके द्वारा पर प्रकृतियोंमें संक्रमण होता रहता है। इस प्रकार अन्तरकरणके हो जाने पर दूसरे समयमें अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी द्वितीय स्थितिवाले दलि-

देवगति, देवानुपूर्वी, पचेन्द्रियजाति, वैक्रियशरीर, आहारकशरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, समचतुरस्र सस्थान, वैक्रिय आगोपाग, आहारक आगोपाग वर्णादिक चार, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, प्रशस्तविहायोगति, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण और तीर्थकर इन तीस नामकर्मकी प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छित्ति होती है। तदनन्तर स्थितिखण्डपृथक्त्वके जाने पर अपूर्वकरणका अन्तिम समय प्राप्त होता है। इसमें हास्य, रति, भय और जुगुप्साकी बन्धव्युच्छित्ति, छह नोकषायों की उदयव्युच्छित्ति तथा सब कर्मोंकी देशोपशमना, निधत्ति और निकाचना करणोंकी व्युच्छित्ति होती है। इसके बाद अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें प्रवेश करता है। इसमें भी स्थितिघात आदि कार्य पहलेके समान होते हैं। अनिवृत्तिकरणके सख्यात बहु भाग कालके बीत जाने पर चारित्रमोहनीयकी इक्कीस प्रकृतियोंका अन्तरकरण करता है। अन्तरकरण करते समय चार सज्वलनोंमेंसे जिस सज्वलनका और तीन वेदोंमेंसे जिस वेदका उदय है उनकी प्रथम स्थितिको अपने अपने उदयकाल प्रमाण स्थापित करता है और अन्य उन्नीस प्रकृतियोंकी प्रथम स्थितिको एक आवलिप्रमाण स्थापित करता है। स्त्रीवेद और नपुसकवेदका उदयकाल सबसे थोडा है। पुरुषवेदका उदयकाल इससे सख्यातगुणा है। सज्वलनक्रोधका उदयकाल इससे विशेप अधिक है। सज्वलन मानका उदयकाल इससे विशेप अधिक है। सज्वलनमायाका उदयकाल इससे विशेप अधिक है और सज्वलन लोभका उदयकाल इससे विशेप अधिक है। पञ्चसग्रहमें कहा भी है—

'थीअपुमोदयकाला सखेज्जगुणो उ पुरिसवेयस्स।
तत्तो वि विसेसअहिओ कोहे तत्तो वि जहकमसो ॥'

अर्थात्–'स्त्रीवेद और नपुंसक वेदके कालसे पुरुषवेदका काल संख्यात गुणा है। इससे क्रोधका काल विशेष अधिक है। आगे भी इसी प्रकार यथाक्रम विशेष अधिक काल जानना चाहिये।'

जो सञ्ज्वलन क्रोधके उदयसे उपशमश्रेणि पर चढ़ता है उसके जबतक अप्रत्याख्यानावरण क्रोध और प्रत्याख्यानावरण क्रोधका उपशम नहीं होता है तब तक सञ्ज्वलन क्रोधका उदय रहता है। जो सञ्ज्वलन मानके उदयसे उपशम श्रेणि पर चढ़ता है उसके जबतक अप्रत्याख्यानावरण मान और प्रत्याख्यानावरण मानका उपशम नहीं होता है तब तक सञ्ज्वलन मानका उदय रहता है। जो सञ्ज्वलन मायाके उदयसे उपशमश्रेणि पर चढ़ता है उसके जब तक अप्रत्याख्यानावरण माया और प्रत्याख्यानावरण मायाका उपशम नहीं होता है तबतक सञ्ज्वलन मायाका उदय रहता है। तथा जो सञ्ज्वलन लोभके उदयसे उपशमश्रेणि पर चढ़ता है उसके जब तक अप्रत्याख्यानावरण लोभ और प्रत्याख्यानावरण लोभका उपशम नहीं होता है तबतक सञ्ज्वलन लोभका उदय रहता है। जितने कालके द्वारा स्थितिखण्डका घात करता है या अन्य स्थितिका बन्ध करता है उतने ही कालके द्वारा अन्तरकरण करता है, क्योंकि इन तीनोंका आरम्भ और समाप्ति एक साथ होती है। तात्पर्य यह है कि जिस समय अन्तरकरण क्रियाका आरम्भ होता है। उसी समय अन्य स्थितिखण्डके घातका और अन्य स्थितिबन्धका भी आरम्भ होता है और अन्तरकरण क्रिया के समाप्त होनेके समय ही इनकी समाप्ति भी होती है। इस प्रकार अन्तरकरणके द्वारा जो अन्तर स्थापित किया जाता है उसका प्रमाण प्रथम स्थितिसे संख्यातगुणा है। अन्तरकरण करते समय जिन कर्मोंका बन्ध और उदय होता है उनके अन्तरकरण सम्बन्धी दलिकोंको प्रथम स्थिति और द्वितीय स्थितिमें क्षेपण करता है।

जैसे पुरुषवेदके उदयसे श्रेणि पर चढनेवाला पुरुषवेदका। जिन कर्मोंका अन्तरकरण करते समय उदय ही होता है बन्ध नहीं, होता, उनके अन्तरकरण सम्बन्धी दलिकोंको प्रथम स्थितिमें ही क्षेपण करता है द्वितीय स्थितिमे नहीं जैसे स्त्रीवेदके उदयसे श्रेणि पर चढनेवाला स्त्रीवेदका। अन्तरकरण करनेके समय जिन कर्मोंका उदय न होकर केवल बन्ध ही होता है उसके अन्तरकरण सम्बन्धी दलिकोंको द्वितीय स्थितिमें ही क्षेपण करता है, प्रथम स्थितिमें नहीं। जैसे सज्वलन क्रोधके उदयसे श्रेणि पर चढनेवाला शेष सज्वलनोंका। किन्तु अन्तरकरण करनेके समय जिन कर्मोंका न तोबन्ध ही होता है और न उदय ही उनके अन्तरकरणसम्बन्धी दलिकोंका अन्य सजातीय बधनेवाली प्रकृतियोंमें क्षेपण करता है। जैसे दूसरी और तीसरी कषायोंका।

अन्तरकरण करके नपुसकवेदका उपशम करता है। पहले समयमें सबसे थोडे दलिकोंका उपशम करता है दूसरे समयमें असख्यातगुणे दलिकोका उपशम करता है। तीसरे समयमें इससे असख्यातगुणे दलिकोंका उपशम करता है। इस प्रकार अन्तिम समय प्राप्त होने तक प्रति समय असख्यातगुणे असख्यातगुणे दलिकोंका उपशम करता है। तथा जिस समय जितने दलिकोंका उपशम करता है उस समय उससे असख्यातगुणे दलिकोंका परप्रकृतियोंमे क्षेपण करता है। किन्तु यह क्रम उपान्त्य समय तक ही चालू रहता है। अन्तिम समयमें तो जितने दलिकोंका पर प्रकृतियोंमें सक्रमण होता है उससे असख्यातगुणे दलिकोंका उपशम करता है। इसके बाद एक अन्तर्मुहूर्तमें स्त्रीवेदका उपशम करता है। इसके बाद एक अन्तर्मुहूर्तमें हास्यादि छहका उपशम करता है। हास्यादि छहका उपशम होते ही पुरुषवेदके बन्ध, और उदीरणाका तथा प्रथम स्थितिका विच्छेद हो जाता है। किन्तु आगाल प्रथम

स्थितिमें दो आवलिका काल शेष रहने तक ही होता है। तथा इसी समयसे छह नोकषायोंके दलिकोंका पुरुषवेद में क्षेपण न करके सज्वलन क्रोधादिकमें क्षेपण करता है। हास्यादि छहका उपशम हो जानेके बाद एक समय कम दो आवलिकाकालमें सकल पुरुषवेदका उपशम करता है। पहले समयमें सबसे थोड़े दलिकोंका उपशम करता है। दूसरे समयमें असंख्यातगुणे दलिकोंका उपशम करता है। तीसरे समयमें इससे असंख्यातगुणे दलिकोंका उपशम करता है। दो समय कम दो आवलियोंके अन्तिम समय तक इसी प्रकार उपशम करता है। तथा दो समय कम दो आवलि काल तक प्रति समय यथाप्रवृत्त संक्रमके द्वारा पर प्रकृतियोंमें दलिकोंका निक्षेप करता है। पहले समयमें बहुत दलिकोंका निक्षेप करता है। दूसरे समयमें विशेष हीन दलिकोंका निक्षेप करता है। तीसरे समयमें इससे विशेष हीन दलिकोंका निक्षेप करता है। अन्तिम समय तक इसी प्रकार जानना चाहिये। जिस समय हास्यादि छहका उपशम हो जाता है और पुरुषवेदकी प्रथम स्थिति क्षीण हो जाती है उसके अनन्तर समयसे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध प्रत्याख्यानावरण क्रोध और सज्वलन क्रोधके उपशम करनेका एक साथ प्रारम्भ करता है। तथा सज्वलन क्रोधकी प्रथम स्थितिमें एक समय कम तीन आवलिका शेष रह जानेपर अप्रत्याख्यानावरण क्रोध और प्रत्याख्यानावरण क्रोधके दलिकोंका सज्वलन क्रोधमें निक्षेप न करके सज्वलन मानादिकमें निक्षेप करता है। तथा दो आवलि कालके शेष रहने पर आगाल नहीं होता है किन्तु केवल उदीरणा ही होती है। और एक आवलिका कालके शेष रह जाने पर सज्वलन क्रोधके बन्ध, उदय और उदीरणाका विच्छेद हो जाता है और अप्रत्याख्यानावरण क्रोध तथा प्रत्याख्यानावरण क्रोधका उपशम हो जाता है। उस

समय सज्वलन क्रोधकी प्रथम स्थितिगत एक आवलिका प्र
दलिकोको और उपरितन स्थितिगत एक समय कम दो आवा
कालके द्वारा वद्ध दलिकोको छोडकर शेप दलिक उपशान्त
जाते हैं। तदनन्तर प्रथम स्थितिगत एक आवलिका प्र
दलिकोंका स्तिवुकसक्रमके द्वारा क्रमसे सज्वलन मानमें नि
करता है और एक समयकम दो आवलिकालमें वद्ध दलिव
पुरुपवेदके समान उपशम करता है और परप्रकृतिरूपसे सक
करता है। इस प्रकार अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानाव
क्रोधके उपशम होनेके वाद एक समय कम दो आवलिका का
सज्वलन क्रोधका उपशम हो जाता है। जिस समय सज्व
क्रोधके वन्ध, उदय और उदीरणाका विच्छेद होता है उ
अनन्तर समयसे लेकर सज्वलन मानकी द्वितीय स्थिति
दलिकोंको लेकर उनकी प्रथम स्थिति करके वेदन करता
प्रथम स्थिति करते समय उदय समयमें सबसे थोडे दलिको
निक्षेप करता है। दूसरे समय असख्यातगुणे दलिकोंका नि
करता। तीसरे समयमें इससे असख्यातगुणे दलिकोंका नि
करता है। इस प्रकार प्रथम स्थितिके अन्तिम समय तक उत्तरोत
असख्यातगुणे दलिकोंका निक्षेप करता है। प्रथम स्थिति करने
प्रथम समयसे लेकर अप्रत्याख्यानावरणमान, प्रत्याख्यानावर
मान और सज्वलनमानके उपशम करनेका एक साथ प्रार
करता है। सज्वलन मानकी प्रथम स्थितिमें एक समय कम ती
आवलिका कालके शेप रहने पर अप्रत्याख्यानावरण मान औ
प्रत्याख्यानावरण मानके दलिकोंका सज्वलन मानमें प्रक्षेप
करके सज्वलन माया आदिमें प्रक्षेप करता है। दो आवलिका
शेप रहने पर आगाल नहीं होता किन्तु केवल उदीरणा ही होत
है। एक आवलिका कालके शेप रहने पर सज्वलनमानके वन्ध

उदय और उदीरणाका विच्छेद हो जाता है। तथा अप्रत्याख्यानावरणमान और प्रत्याख्यानावरणमानका उपशम हो जाता है। उस समय सज्वलनमानकी प्रथम स्थितिगत एक आवलिका प्रमाण दलिकोंको और उपरितन स्थितिगत एक समय कम दो आवलिका कालमें बद्ध दलिकोंको छोड़कर शेष दलिक उपशान्त हो जाते हैं। तदनन्तर प्रथम स्थितिगत एक आवलिका प्रमाण दलिकोंका स्तिबुक सक्रमके द्वारा क्रमसे सज्वलन मायामें निक्षेप करता है और एक समय कम दो आवलिकाकालमें बद्ध दलिकोंका पुरुषवेदके समान उपशम करता है और परप्रकृतिरूपसे सक्रमण करता है। इस प्रकार अप्रत्याख्यानावरण मान और प्रत्याख्यानावरण मानके उपशम होनेके बाद एक समय कम दो आवलिका कालमें सज्वलन मानका उपशम हो जाता है। जिस समय सज्वलन मानके बन्ध उदय और उदीरणाका विच्छेद हो जाता है उसके अनन्तर समयसे लेकर सज्वलन मायाकी द्वितीय स्थितिसे दलिकोंको लेकर उनकी प्रथम स्थिति करके वेदन करता है। तथा उसी समयसे लेकर अप्रत्याख्यानावरण माया प्रत्याख्यानावरण माया और सज्वलन मायाके उपशम करनेका एक साथ प्रारम्भ करता है। सज्वलन मायाकी प्रथम स्थितिमें एक समय कम तीन आवलिका कालके शेष रहने पर अप्रत्याख्यानावरण माया और प्रत्याख्यानावरण मायाके दलिकोंका सज्वलन मायामें प्रक्षेप न करके सज्वलन लोभमें प्रक्षेप करता है। दो आवलिकाके शेष रहने पर आगाल नहीं होता किन्तु केवल उदीरणा ही होती है। एक आवलिका कालके शेष रहने पर सज्वलन मायाके बन्ध, उदय और उदीरणाका विच्छेद हो जाता है तथा अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मायाका उपशम हो जाता है। उस समय सज्वलन मायाकी प्रथम स्थिति-

गत एक आवलिका प्रमाण दलिकोंको और उपरितन स्थितिगत एक समय कम दो आवलिका कालमें बद्ध दलिकोंको छोडकर शेष दलिक उपशान्त हो जाते हैं। तदनन्तर प्रथम स्थिति गत एक आवलिका प्रमाण दलिकोंका स्तिबुक संक्रमके द्वारा क्रमसे सञ्ज्वलन मायामें निक्षेप करता है और एक समय कम दो आवलिका कालमें बद्ध दलिकोंका पुरुषवेदके समान उपशम करता है और परप्रकृतिरूपसे संक्रमण करता है। इस प्रकार अप्रत्याख्यानावरण माया और प्रत्याख्यानावरण मायाके उपशम होनेके बाद एक समय कम दो आवलिका कालमें सञ्ज्वलन मायाका उपशम हो जाता है। जिस समय सञ्ज्वलन मायाके बन्ध, उदय और उदीरणाका विच्छेद होता है उसके अनन्तर समयसे लेकर सञ्ज्वलन लोभकी द्वितीय स्थितिसे दलिकोंको लेकर उनकी लोभवेदक कालके तीन भागोंमेंसे दो भाग प्रमाण प्रथम स्थिति-करके वेदन करता है। इनमेंसे पहले त्रिभागका नाम अश्वकर्ण करण काल है और दूसरे त्रिभागका नाम किट्टीकरणकाल है। अश्वकर्णकरण कालमें पूर्वस्पर्धकोंसे दलिकोंको लेकर अपूर्व स्पर्द्धक करता है।

बात यह है कि जीव प्रति समय अनन्तानन्त परमाणुओंके बने हुए स्कन्धोंको कर्मरूपसे ग्रहण करता है। इनमेंसे प्रत्येक स्कन्धमें जो सबसे जघन्य रसवाला परमाणु है उसके रसके बुद्धिसे छेद करने पर सब जीवोंसे अनन्तगुणे अविभाग प्रतिच्छेद प्राप्त होते हैं। अन्य परमाणुमें एक अधिक अविभाग प्रतिच्छेद प्राप्त होते हैं। अन्य परमाणुमें दो अधिक अविभाग प्रतिच्छेद प्राप्त होते हैं। इस प्रकार सिद्धोंके अनन्तवें भाग अधिक रसके अविभाग प्रतिच्छेद प्राप्त होने तक प्रत्येक परमाणुमें रसका एक एक अविभाग प्रतिच्छेद बढाते जाना चाहिये।

ँ जघन्य रसवाले जितने परमाणु होते हैं उनके समुदाय एक वर्गणा कहते हैं। एक अधिक रसवाले परमाणुओंके दायको ़सरी वर्गणा कहते हैं। दो अधिक रसवाले परमाओंके समुदायको तीसरी वर्गणा कहते हैं। इस प्रकार कुल णाएं सिद्धोंके अनन्तवें भागप्रमाण या अभव्योंसे अनन्तगुणा होती हैं। इन सब वर्गणाओंके समुदायको एक स्पर्धक ते हैं। दूसरे आदि स्पर्धक भी इसी प्रकार प्राप्त होते हैं। न्तु इतनी विशेषता है कि प्रथम आदि स्पर्धकोंकी अन्तिम र्गणाके प्रत्येक वर्गमें जितने अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं दूसरे दि स्पर्धककी प्रथम वर्गणाके प्रत्येक वर्गमें सब जीवोंसे अनगुणे रसके अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं। और फिर अपनेपने स्पर्द्धककी अन्तिम वर्गणा तक रसका एक एक अविभाग तिच्छेद बढ़ता जाता है। ये सब स्पर्धक संसारी जीवोंके प्रारसे ही यथायोग्य होते हैं इसलिये इन्हें पूर्वस्पर्द्धक कहते हैं। न्तु यहाँ पर उनमेंसे दलिकोंको ले लेकर उनके रसको अत्यन्त न कर देता है। इसलिये उनको अपूर्वस्पर्धक कहते हैं। तात्पर्य है कि संसार अवस्थामें इस जीवने बन्धकी अपेक्षा कभी भी ने स्पर्धक नहीं किये थे किन्तु विशुद्धिके प्रकर्षसे इस समय रता है इस लिये ये अपूर्वस्पर्धक कहे जाते हैं। यह क्रिया पहले भागमें की जाती है। दूसरे त्रिभागमें पूर्वस्पर्द्धकों और अपूर्व र्द्धकोंमेंसे दलिकोंको ले लेकर प्रति समय अनन्त किट्टियाँ करता । अर्थात् पूर्वस्पर्द्धकों और अपूर्वस्पर्द्धकोंसे वर्गणाओंको ग्रहण रके और उनके रसको अनन्तगुणा हीन करके रसके अविभाग तिच्छेदोंमें अन्तराल कर देता है। जैसे, मानलो रसके अविभाग तिच्छेद सौ, एकसौ एक और एकसौ दो थे अब उन्हें घटा कर कमसे पाँच, पन्द्रह और पचीस कर दिया। इसीका नाम किट्टी

रण है। किट्टी करण कालके अन्तिम समयमें अप्रत्याख्याना रण लोभ प्रत्याख्यानावरण लोभका उपशम करता है। तथा मी समय सज्वलन लोभका बन्धविच्छेद होता है और बादर ज्वलनके उदय तथा उदीरणाके विच्छेदके साथ नौवें गुणस्था का अन्त हो जाता है। इसके बाद सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान ता है। इसका काल अन्तर्मुहूर्त है। इसके पहले समयमें परितन स्थितिमेंसे कुछ किट्टियोंको लेकर सूक्ष्मसम्पराय कालके रानर उनकी प्रथम स्थिति करके वेदन करता है और एक समय म दो आवलिकामें बधे हुए सूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त शेष ट्टिकोंका उपशम करता है। तदनन्तर सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानके अन्तिम समयमें सज्वलन लोभका उपशम हो जाता है और उसी समय ज्ञानावरणकी पाँच दर्शनावरणकी चार, अन्त-रायकी पाँच, यश कीर्ति और उच्चगोत्र इन सोलह प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छित्ति होती है। इसके बाद दूसरे समयमें ग्यारहवाँ गुणस्थान उपशान्त कषाय होता है। इसमें मोहनीयकी सब प्रकृतियाँ उपशान्त रहती हैं। उपशान्तकषायका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। इसके बाद इसका नियमसे पतन होता है। पतन दो प्रकारसे होता है भवक्षयसे और अद्धाक्षयसे। आयुके समाप्त हो जाने पर जो पतन होता है उसे भवक्षयसे होनेवाला पतन कहते हैं। यहाँ भवका अर्थ पर्याय है और क्षयका अर्थ विनाश। तथा उपशान्तकषायके कालके समाप्त हो जाने पर जो पतन होता है उसे अद्धाक्षयसे होनेवाला पतन कहते हैं। जिसका भवक्षयसे पतन होता है उसके अनन्तर समयमें अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान होता है और उसके पहले समयमें ही बन्धादिक सब करणोंका प्रारम्भ हो जाता है। जिसका अद्धाक्षयसे पतन होता है वह जिस क्रमसे चढता है

उसी क्रमसे गिरता है। इसके जहाँ जिस करणकी व्युच्छित्ति हुई वहाँ पहुँचने पर उस करणका प्रारम्भ होता है। यह जीव प्रमत्त संयत गुणस्थानमें जाकर रुक जाता है। कोई कोई देशविरति और अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानको भी प्राप्त होता है तथा कोई सास्वादनभावको भी प्राप्त होता है।

साधारणतः एक भवमें एक बार उपशमश्रेणिको प्राप्त होता है। कदाचित् कोई जीव दो बार भी उपशमश्रेणिको प्राप्त होता है इससे अधिक बार नहीं। जो दो बार उपशमश्रेणिको प्राप्त होता है उसके उस भवमें क्षपकश्रेणि नहीं होती। जो एक बार उपशमश्रेणिको प्राप्त होता है उसके क्षपकश्रेणि होती भी है।

यद्यपि ग्रन्थकारने मूल गाथामें अनन्तानुबन्धीकी चार और दर्शनमोहनीयकी तीन इन सात प्रकृतियोंका उपशम कहाँ और किस क्रमसे होता है इतना ही निर्देश किया है पर प्रसंगसे यहाँ अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना और चारित्र मोहनीयकी उपशमनाका भी विवेचन किया गया है। इस प्रकार उपशमश्रेणिका कथन समाप्त हुआ।

अब क्षपकश्रेणिके कथन करनेकी इच्छासे पहले क्षायिक सम्यक्त्वकी प्राप्ति कहाँ किस क्रमसे होती है इसका निर्देश करते हैं—

पढमकसायचउक्कं एत्तो मिच्छत्तमीससम्मत्तं।
अविरय देसे विरए पमत्ति अपमत्ति खीयंति ॥६३॥

अर्थ—अविरतसम्यग्दृष्टि देशविरत, प्रमत्तविरत और अप्रमत्तविरत इन चार गुणस्थानोंमेंसे किसी एकमें अनन्तानुबन्धी चारका और तदनन्तर मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्वका क्रमसे क्षय होता है।

विशेषार्थ—उपशमश्रेणिमें मोहनीयकी प्रकृतियोंका उपशम किया जाता है और क्षपकश्रेणिमें उनका क्षय किया जाता है। तात्पर्य यह है कि उपशमश्रेणिमे प्रकृतियोंकी सत्ता तो बनी रहती है किन्तु अन्तर्मुहूर्त प्रमाण दलिकोंका अन्तरकरण हो जाता है और द्वितीय स्थितिमे स्थित दलिक सक्रमण आदिके अयोग्य हो जाते हैं इसलिये अन्तर्मुहूर्त काल तक उनका फल नहीं प्राप्त होता। किन्तु क्षपकश्रेणिमें उनका समूल नाश हो जाता है। कदाचित् यह कहा जाय कि बन्धादिक के द्वारा उनकी पुन सत्ता प्राप्त हो जायगी सो भी बात नहीं, क्योंकि ऐसा नियम है कि सम्यग्दृष्टिके जिन प्रकृतियोंका समूल क्षय हो जाता है उनका न तो बन्ध ही होता है और न तद्रूप अन्य प्रकृतियोंका सक्रम ही, अत ऐसी प्रकृतियोंकी पुन सत्ता, सम्भव नहीं। हॉ अनन्तानुबन्धी चतुष्क इस नियमका अपवाद है इसीलिये उसका क्षय विसयोजना शब्दके द्वारा कहा जाता है। क्षपकश्रेणिका आरम्भ आठ वर्षसे अधिक आयुवाले, उत्तम सहननके धारक, चोथे पॉचवे छठे या सातवे गुणस्थानवर्ती जिनकालिक मनुष्यके ही होता है अन्यके नहीं। सबसे पहले वह अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसयोजना करता है। तदनन्तर मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, और सम्यक्त्वकी क्षपणाका प्रारम्भ करता है। इसके लिये यथाप्रवृत्त आदि तीन करण होते है। इनका कथन पहले कर ही आये है उसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिये। किन्तु इतनी विशेषता है कि अपूर्वकरणके पहले समयमें अनुदयरूप मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वके दलिकोंका गुणसक्रमके द्वारा सम्यक्त्वमें निक्षेप किया जाता है। तथा अपूर्वकरणमे इन दोनोंका उद्वलना सक्रम भी होता है। इसमें सबसे पहले सबसे बड़े स्थितिखण्डकी उद्वलना की जाती है। तदनन्तर एक एक विशेष कम स्थितिखण्डोंकी उद्वलना की जाती है। यह क्रम

अपूर्वकरणके अन्तिम समय तक चालू रहता है। इससे अपूर्वकरणके पहले समयमें जितनी स्थिति होती है अन्तिम समयमें उससे संख्यातगुण हीन अर्थात् संख्यातवा भाग स्थिति रह जाती है। इसके बाद यह अनिवृत्तिकरणमें प्रवेश करता है। यहाँ भी स्थितिघात आदि कार्य पहलेके समान चालू रहते हैं। अनिवृत्तिकरणके पहले समयमें दर्शनत्रिककी देशोपशमना, निधत्ति और निकाचनाका विच्छेद हो जाता है। अनिवृत्तिकरणके पहले समयसे लेकर हजारों स्थितिखण्डोंका घात हो जाने पर दर्शनत्रिककी स्थितिसत्ता असंज्ञीके योग्य शेष रहती है। इसके बाद हजार पृथक्त्व प्रमाण स्थिति खण्डोका घात हो जाने पर चौइन्द्रिय जीवके योग्य स्थितिसत्ता शेष रहती है। इसके बाद उक्त प्रमाण स्थितिखण्डोका घात हो जाने पर तीन इन्द्रिय जीवके योग्य स्थितिसत्ता शेष रहती है। इसके बाद पुनः उक्त प्रमाण स्थितिखण्डोंका घात हो जाने पर दो इन्द्रिय जीवके योग्य स्थितिसत्ता शेष रहती है। इसके बाद पुनः उक्त प्रमाण स्थितिखण्डोंका घात हो जाने पर एकेन्द्रिय जीवके योग्य स्थितिसत्ता शेष रहती है। इसके बाद पुनरपि उक्त प्रमाण स्थितिखण्डोंका घात हो जाने पर पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण स्थितिसत्ता शेष रहती है। तदनन्तर तीनों प्रकृतियोकी स्थितिके एक भागको छोडकर शेष बहुभागका घात करता है। तदनन्तर पुनरपि एक भागको छोडकर शेष बहु भागका घात करता है। इस प्रकार इस क्रमसे भी हजारों स्थितिखण्डों का घात करता है तदनन्तर मिथ्यात्वकी स्थितिके असंख्यात भागोंका तथा सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वके संख्यात भागोंका घात करता है। इस प्रकार प्रभूत स्थितिखण्डोके व्यतीत हो जाने पर मिथ्यात्वके दलिक आवलिप्रमाण शेष रहते हैं। तथा सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वके दलिक पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण शेष रहते हैं।

उपर्युक्त इन स्थितिखण्डोंका घात करते समय मिथ्यात्वसम्बन्धी दलिकोंका सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वमें निक्षेप किया जाता है। सम्यग्मिथ्यात्वसम्बन्धी दलिकोंका सम्यक्त्वमें निक्षेप किया जाता है और सम्यक्त्वसम्बन्धी दलिकोंका अपने कम स्थितिवाले दलिकोंमें ही निक्षेप किया जाता है। इस प्रकार जब मिथ्यात्वके एक आवलिप्रमाण दलिक शेष रहते हैं तब उनका भी स्तिबुकसंक्रमके द्वारा सम्यक्त्वमें निक्षेप किया जाता है। तदनन्तर सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वके असंख्यात भागोंका घात करता है और एक भाग शेष रहता है। तदनन्तर जो एक भाग बचता है उसके असंख्यात भागोंका घात करता है और एक भाग शेष रहता है। इस प्रकार इस क्रमसे कितने ही स्थितिखण्डोंके व्यतीत हो जाने पर सम्यग्मिथ्यात्वकी भी एक आवलिप्रमाण और सम्यक्त्वकी आठ वर्षप्रमाण स्थिति शेष रहती है। इसी समय यह जीव निश्चयनयकी दृष्टिसे दर्शनमोहनीयका क्षपक माना जाता है। इसके बाद सम्यक्त्वके अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिखण्डकी उत्कीरणा करता है। उत्कीरणा करते समय दलिकका उदय समयसे लेकर निक्षेप करता है। उदय समयमें सबसे थोड़े दलिकोंका निक्षेप करता है। दूसरे समयमें असंख्यातगुणे दलिकोंका निक्षेप करता है। तीसरे समयमें असंख्यातगुणे दलिकोंका निक्षेप करता है। इस प्रकार यह क्रम गुणश्रेणीशीर्ष तक चालू रहता है। इसके आगे अन्तिम स्थिति प्राप्त होने तक उत्तरोत्तर कम कम दलिकोंका निक्षेप करता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्तप्रमाण अनेक स्थितिखण्डोंकी उत्कीरणा करके उनका अधस्तन स्थितिमें निक्षेप करता है। इसके यह क्रम द्विचरम स्थितिखण्डके प्राप्त होनेतक चालू रहता है। किन्तु द्विचरम स्थितिखण्डसे अन्तिम स्थितिखण्ड संख्यातगुणा बड़ा होता है।

जब यह जीव सम्यक्त्वके अन्तिम स्थितिखण्डकी उत्कीरणा कर चुकता है तब उसे कृतकरण कहते हैं। इस कृतकरणके कालमें यदि कोई जीव मरता है तो वह चारों गतियोंमेंसे परभवसम्बन्धी आयुके अनुसार किसी भी गतिमें उत्पन्न होता है। इस समय यह शुक्ल लेश्याको छोड़कर अन्य लेश्याको भी प्राप्त होता है। इस प्रकार दर्शनमोहनीयकी क्षपणाका प्रारम्भ मनुष्य ही करता है किन्तु उसकी समाप्ति चारों गतियोंमें होती है। कहा भी है—

'पट्ठवगो उ मणूसो निट्ठवगो चउसु वि गईसु ॥'

अर्थात्—'दर्शनमोहनीयकी क्षपणाका प्रारम्भ मनुष्य ही करता है किन्तु उसकी समाप्ति चारों गतियों में होती है।'

यदि बद्धायु जीव क्षपकश्रेणिका प्रारम्भ करता है तो अनन्तानुबन्धी चतुष्कका क्षय हो जानेके पश्चात् उसका मरण होना भी सम्भव है। उस अवस्थामें मिथ्यात्वका उदय हो जानेसे यह जीव पुन: अनन्तानुबन्धीका बन्ध और संक्रमद्वारा सचय करता है क्योंकि मिथ्यात्वके उदयमें अनन्तानुबन्धीका सत्त्व नियमसे पाया जाता है। किन्तु जिसने मिथ्यात्वका क्षय कर दिया है वह पुन: अनन्तानुबन्धी चतुष्कका सचय नहीं करता। सात प्रकृतियोंका क्षय हो जाने पर जिसके परिणाम नहीं बदले हैं वह मरकर नियमसे देवोंमें उत्पन्न होता है किन्तु जिसके परिणाम बदल जाते हैं वह परिणामानुसार अन्य गतिमें भी उत्पन्न होता है। बद्धायु होने पर भी यदि कोई जीव उस समय मरण नहीं करता तो सात प्रकृतियोंका क्षय होने पर वह वहीं ठहर जाता है चारित्रमोहनीयके क्षयका यत्न नहीं करता। जो बद्धायु जीव सात प्रकृतियोंका क्षय करके देव या नारकी होता है वह नियमसे तीसरी पर्यायमें मोक्षको प्राप्त होता है और जो मनुष्य या तिर्यंच होता है वह असंख्यात वर्षकी

प्रबद्धको छोडकर पुरुषवेदके शेष दलिकोका क्षय हो जाता है। यहाँ पुरुषवेदके उदय और उदीरणाकी व्युच्छित्ति हो चुकी है इसलिये यह अपगतवेदी हो जाता है। किन्तु यह कथन जो जीव पुरुषवेदके उदयसे क्षपकश्रेणि पर आरोहण करता है उसकी अपेक्षा जानना चाहिये। किन्तु जो जीव नपुसकवेदके उदयसे क्षपकश्रेणि पर चढता है वह स्त्रीवेद और नपुसकवेदका एक साथ क्षय करता है। तथा इसके जिस समय स्त्रीवेद और नपुकवेदका क्षय होता है उसी समय पुरुषवेदकी वन्धव्युच्छित्ति होती है। और इसके बाद वह अपगतवेदी होकर पुरुषवेद और छह नोकपायोका एक साथ क्षय करता है। अब यदि कोई जीव स्त्रीवेदके उदयसे क्षपकश्रेणि पर चढता है तो वह नपुसक वेदका क्षय हो जानेके पश्चात् स्त्रीवेदका क्षय करता है। किन्तु इसके भी स्त्रीवेदके क्षय होनेके समय ही पुरुषवेदकी वन्धव्युच्छित्ति होती है। और इसके बाद अपगतवेदी होकर पुरुषवेद और छह नोकपायोका एक साथ क्षय करता है।

अब एक ऐसा जीव है जो पुरुषवेदके उदयसे क्षपकश्रेणि पर चढकर क्रोध कपायका वेदन कर रहा है तो उसके पुरुषवेदकी उदयव्युच्छित्तिके पश्चात् क्रोधकाल तीन भागोमें बॅट जाता है—अश्वकर्ण करणकाल, किट्टीकरणकाल और किट्टीवेदनकाल। घोडेके कानको अश्वकर्ण कहते हैं। यह मूलमें बडा और ऊपरकी ओर क्रमसे घटता हुआ होता है। इसी प्रकार जिस करणमें क्रोधसे लेकर लोभ तक चारों सज्वलनोंका अनुभाग उत्तरोत्तर अनन्त-गुणहीन हो जाता है उस करणकी अश्वकर्णकरण सज्ञा है। अन्यत्र इसके आदोलकरण और उद्वर्तनापवर्तनकरण ये दो नाम और मिलते हैं। किट्टीका अर्थ कृश करना है अत जिस करणमें पूर्व स्पर्धकों और अपूर्व स्पर्धकोमेसे दलिकोंको ले लेकर उनके

अनुभागको अनन्तगुणाहीन करके अन्तरालसे स्थापित किया जाता है उसकी किट्टीकरण सज्ञा है। और इन किट्टियोंके वेदन करनेको किट्टीवेदन कहते हैं। इनमेंसे जब यह जीव अश्वकर्ण-करणके कालमें विद्यमान रहता है तब चारो सज्वलनोंकी अन्तर करणसे ऊपरकी स्थितिमें प्रति समय अनन्त अपूर्व स्पर्धक करता है। तथा एक समय कम दो आवलिका प्रमाण कालमें बद्ध पुरुषवेदके दलिकोंको इतने ही कालमें क्रोधसज्वलनमें सक्रमण कर नष्ट करता है। यहाँ पहले गुणसक्रम होता है और अन्तिम समयमें सर्वसक्रम होता है। अश्वकर्णकरणकालके समाप्त हो जाने पर किट्टीकरणकालमें प्रवेश करता है। यद्यपि किट्टियाँ अनन्त हैं पर स्थूलरूपसे वे बारह होती हैं। जो प्रत्येक कपायमें तीन तीन प्राप्त होती हैं। किन्तु जो जीव मानके उदयसे क्षपकश्रेणिपर चढता है वह उद्वलनाविधिसे क्रोधका क्षय करके शेष तीन कषायोंकी नौ किट्टी करता है। यदि मायाके उदयसे क्षपकश्रेणि पर चढता है तो क्रोध और मानका उद्वलनाविधिसे क्षय करके शेष दो कषायोंकी छह किट्टियाँ करता है। और यदि लोभके उदयसे जीव क्षपकश्रेणि पर चढता है तो उद्वलनाविधिसे क्रोधादिक तीनका क्षय करके लोभकी तीन किट्टी करता है। इस प्रकार किट्टी करणके कालके समाप्त हो जाने पर क्रोधके उदयसे क्षपकश्रेणि पर चढा हुआ जीव क्रोधकी प्रथम किट्टीकी द्वितीय स्थितिमें स्थित दलिकका अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है और एक समय अधिक एक आवलिका प्रमाण कालके शेष रहने तक उसका वेदन करता है। तत्पश्चात् दूसरी किट्टीकी दूसरी स्थितिमें स्थित दलिकका अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है और एक समय अधिक एक आवलिका प्रमाण कालके शेष रहने तक उसका वेदन करता है। तत्पश्चात् तीसरी किट्टी-

की दूसरी स्थितिमें स्थित दलिकका अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है और एक समय अधिक एक आवलिका प्रमाणकालके शेप रहने तक उसका वेदन करता है। तथा इन तीनों किट्टियोंके वेदनकालके समय उपरितन स्थितिगत दलिकका गुणसंक्रमके द्वारा प्रति समय सज्वलनमानमें निक्षेप करता है। तथा जब तीसरी किट्टीके वेदनका अन्तिम समय प्राप्त होता है तब सज्वलन क्रोधके बन्ध, उदय और उदीरणाकी एक साथ व्युच्छित्ति हो जाती है। इस समय इसके एक समय कम दो आवलिका प्रमाण कालके द्वारा बंधे हुए दलिकोंको छोड़कर शेपका अभाव हो जाता है। तत्पश्चात् मानकी प्रथम किट्टीकी दूसरी स्थितिमें स्थित दलिकका अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है और एक अन्तर्मुहूर्त कालतक उसका वेदन करता है। तथा मानकी प्रथम किट्टीके वेदनकालके भीतर ही एक समय कम दो आवलिका प्रमाण कालके द्वारा क्रोधसज्वलनके बन्धका सक्रमण भी करता है। यहाँ दो समय कम दो आवलिका कालतक गुणसक्रम होता है और अन्तिम समयमें सर्व सक्रम होता है। इस प्रकार मानकी प्रथम किट्टीका एक समय अधिक एक आवलिका शेप रहने तक वेदना करता है और तत्पश्चात् मानकी दूसरी किट्टीकी दूसरी स्थितिमें स्थित दलिकका अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है और एक समय अधिक एक आवलिका कालके शेप रहने तक उसका वेदन करता है। तत्पश्चात् तीसरी किट्टीकी दूसरी स्थितिमें स्थित दलिकका अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है और एक समय अधिक एक आवलिका कालके शेप रहनेतक उसका वेदन करता है। इसी समय मानके बन्ध उदय और उदीरणाकी व्युच्छित्ति हो जाती है तथा सत्तामें केवल एक समय कम दो आवलिकाके द्वारा बँधे हुए दलिक शेप रहते

हैं शेषका अभाव हो जाता है। तत्पश्चात् मायाकी प्रथम किट्टी की दूसरी स्थितिमें स्थित दलिकका अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है और एक अन्तर्मुहूर्त कालतक उसका वेदन करता है। तथा मानके बन्धादिकके विच्छिन्न हो जाने पर उसके दलिकका एक समय कम दो आवलिकाकालमें गुणसंक्रमके द्वारा मायामें निक्षेप करता है। मायाकी प्रथम किट्टीका एक समय अधिक एक आवलिका शेष रहने तक वेदन करता है तत्पश्चात् मायाकी दूसरी किट्टीकी दूसरी स्थितिमें स्थित दलिकका अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है और उसका एक समय अधिक एक आवलिका प्रमाण कालके शेष रहनेतक वेदन करता है। तत्पश्चात् मायाकी तीसरी किट्टीकी दूसरी स्थितिमें स्थित दलिकका अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है और उसका एक समय अधिक एक आवलिका कालके शेष रहने तक वेदन करता है। इसी समय मायाके बन्ध, उदय और उदीरणाकी एक साथ व्युच्छित्ति हो जाती है तथा सत्तामें केवल एक समय कम दो आवलिकाके द्वारा बँधे हुए दलिक शेष रहते हैं शेषका अभाव हो जाता है। तत्पश्चात् लोभकी प्रथम किट्टीकी दूसरी स्थितिमें स्थित दलिकका अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है और एक अन्तर्मुहूर्त कालतक उसका वेदन करता है। तथा मायाके बन्धादिकके विच्छिन्न हो जाने पर उसके नवीन बँधे हुए दलिक का एक समय कम दो आवलिका कालमें गुणसंक्रमके द्वारा लोभमें निक्षेप करता है। तथा मायाकी प्रथम किट्टीका एक समय अधिक एक आवलिका कालके शेष रहने, तक ही वेदन करता है। तत्पश्चात् लोभकी दूसरी किट्टीकी दूसरी स्थितिमें स्थित दलिकका अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है और एक समय अधिक एक आवलिका कालके शेष रहने तक उसका वेदन

करता है। जब यह जीव दूसरी किट्टीका वेदन करता है तब तीसरी किट्टीके दलिककी सूक्ष्म किट्टी करता है यह क्रिया भी दूसरी किट्टीके वेदनकालके समान एक समय अधिक एक आवलिका कालके शेष रहने तक चालू रहती है। जिस समय सूक्ष्म किट्टी करनेका कार्य समाप्त होता है उसी समय सञ्ज्वलन लोभका बन्धविच्छेद, बादर कषायके उदय और उदीरणाका विच्छेद तथा अनिवृत्ति बादर सम्पराय गुणस्थानके कालका विच्छेद होता है। तदनन्तर सूक्ष्म किट्टीकी दूसरी स्थितिमें स्थित दलिकका अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है और उसका वेदन करता है। इसी समयसे यह जीव सूक्ष्म सम्पराय कहा जाता है। सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानके कालमें एक भागके शेष रहने तक यह जीव एक समय कम दो आवलिकाके द्वारा बँधे हुए सूक्ष्म किट्टी गत दलिकका स्थिति घातादिकके द्वारा प्रत्येक समयमें क्षय भी करता है। तदनन्तर जो एक भाग शेष बचा है उसमें सर्वापवर्तनाके द्वारा सञ्ज्वलन लोभका अपवर्तन करके उसे सूक्ष्मसम्परायके कालके बराबर करता है। यह सूक्ष्म सम्परायका काल भी अन्तर्मुहूर्त ही है। यहाँसे आगे सञ्ज्वलन लोभके स्थितिघात आदि कार्य होना बन्द हो जाते हैं, किन्तु शेष कर्मोंके स्थितिघात आदि कार्य बराबर होते रहते हैं। सर्वापवर्तनाके द्वारा अपवर्तित की गई इस स्थितिका उदय और उदीरणाके द्वारा एक समय अधिक एक आवलिका कालके शेष रहने तक वेदन करता है। तत्पश्चात् उदीरणाका विच्छेद हो जाता है और सूक्ष्म सम्परायके अन्तिम समय तक सूक्ष्म लोभका केवल उदय ही रहता है। सूक्ष्मसम्परायके अन्तिम समयमें ज्ञानावरणकी पाँच, दर्शनावरणकी चार, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र और अन्तरायकी पाँच इन सोलह प्रकृतियोंका बन्ध-

ज्ञानावरणकी पाँच, दर्शनावरणकी चार, अन्तरायकी पाँच और निद्राद्विक इन सोलह प्रकृतियोंकी स्थितिका सर्वापवर्तनाके द्वारा अपवर्तन करके उसे क्षीण कषायके शेष रहे हुए कालके बराबर करता है। केवल निद्राद्विककी स्थितिको स्वरूपकी अपेक्षा एक समय कम रहता है। सामान्य कर्मकी अपेक्षा तो इनकी स्थिति शेष कर्मोंके समान ही रहती है। क्षीणकषायके सम्पूर्ण कालकी अपेक्षा यह काल यद्यपि उसका एक भाग है तो भी उसका प्रमाण अन्तर्मुहूर्त होता है। इनकी स्थिति क्षीणकषायके कालके बराबर होते ही इनमें स्थितिघात आदि कार्य नहीं होते किन्तु शेष कर्मोंके होते हैं। निद्राद्विकके बिना उपर्युक्त शेष चौदह प्रकृतियोंका एक समय अधिक एक आवलि कालके शेष रहने तक उदय और उदीरणा दोनों होते हैं। तदनन्तर एक आवलि काल तक केवल उदय ही होता है। क्षीणकषायके उपान्त्य समयमें निन्द्राद्विकका स्वरूप सत्ताकी अपेक्षा क्षय करता है और अन्तिम समयमें शेष चौदह प्रकृतियोंका क्षय करता है। इसके अनन्तर समयमें यह जीव सयोगिकेवली होता है। वह लोकालोकका पूरी तरह ज्ञाता द्रष्टा होता है। जगमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं, न हुआ और न होगा जिसे जिनदेव नहीं जानते हैं। अर्थात् वे सबको जानते और देखते हैं।

इस प्रकार सयोगिकेवली जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्टसे कुछ कम पूर्वकोटि काल तक विहार करते हैं। यदि उनके वेदनीय आदि तीन कर्मोंकी स्थिति आयुकर्म की स्थितिसे अधिक होती है तो उनकी स्थिति आयुकर्मके बराबर करने के लिये अन्तमें वे समुद्घात करते हैं और यदि शेष तीन कर्मोंकी स्थिति आयुकर्मके बराबर होती है तो वे समुद्घात नहीं करते। मूल शरीरको न छोड़कर आत्मप्रदेशोंका शरीरसे बाहर निकलना समुद्घात कहलाता है। इसके

सात भेद हैं—वेदना समुद्घात कषायसमुद्घात, मारणान्तिक-समुद्घात, तैजससमुद्घात, वैक्रियसमुद्घात, आहारकसमुद्घात और केवलिसमुद्घात। तीव्र वेदनाके कारण जो समुद्घात होता है उसे वेदनासमुद्घात कहते हैं। क्रोधादिकके निमित्तसे जो समुद्घात होता है उसे कषायसमुद्घात कहते हैं। मरणके पहले उस निमित्तसे जो समुद्घात होता है उसे मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं। जीवोंका अनुग्रह या विनाश करनेमें समर्थ तैजस शरीरकी रचनाके लिये जो समुद्घात होता है उसे तैजससमुद्घात कहते हैं। वैक्रियशरीरके निमित्तसे जो समुद्घात होता है उसे वैक्रिय-समुद्घात कहते हैं। आहारकशरीरके निमित्तसे जो समुद्घात होता है उसे आहारकसमुद्घात कहते हैं। तथा वेदनीय आदि तीन अघातिकर्मोंकी स्थिति आयुकर्मके बराबर करनेके लिये केवली जिन जो समुद्घात करते हैं उसे केवलिसमुद्घात कहते हैं। इसमें आठ समय लगते हैं। पहले समयमें अपने शरीरका जितना बाहुल्य है तत्प्रमाण आत्मप्रदेशोंको ऊपर और नीचे लोकके अन्तपर्यन्त रचते हैं इसे दण्डसमुद्घात कहते हैं। दूसरे समयमें पूर्व और पश्चिम या दक्षिण और उत्तर दिशामें कपाट-रूपसे आत्मप्रदेशोंको फैलाते हैं। तीसरे समयमें उनका मन्थान समुद्घात करते हैं। चौथे समयमें लोकमें जो अवकाश शेष रहता है उसे भर देते हैं। पाँचवें समयमें सकोच करते हैं। छठे समयमें मन्थानका सकोच करते हैं। सातवें समयमें पुन कपाट अवस्थाको प्राप्त होते हैं और आठवें समयमें स्वशरीरस्थ हो जाते हैं। जो केवली समुद्घातको प्राप्त होते हैं वे समुद्घातके पश्चात् और जो समुद्घातको नहीं प्राप्त होते वे योगनिरोधके योग्य कालके शेष रहने पर योगनिरोधका प्रारम्भ करते हैं। इसमें सबसे पहले बादर काययोगके द्वारा बादर मनोयोगको रोकते हैं।

तत्पश्चात् बादर वचनयोगको रोकते हैं। इसके बाद सूक्ष्म काययोगके द्वारा बादर काययोगको रोकते हैं। तत्पश्चात् सूक्ष्म मनोयोगको रोकते हैं। तत्पश्चात् सूक्ष्म वचनयोगको रोकते हैं। तत्पश्चात् सूक्ष्म काययोगको रोकते हुए सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति ध्यानको प्राप्त होते हैं। इस ध्यानकी सामर्थ्यसे आत्मप्रदेश सकुंचित होकर निश्छिद्र हो जाते हैं। इस ध्यानमें स्थितिघात आदिके द्वारा सयोगी अवस्थाके अन्तिम समय तक आयुकर्मके सिवा भवका उपकार करनेवाले शेष सब कर्मोंका अपवर्तन करते हैं जिससे सयोगिकेवलीके अन्तिम समयमें सब कर्मोंकी स्थिति अयोगिकेवली गुणस्थानके कालके बराबर हो जाती है। यहाँ इतनी विशेषता है कि जिन कर्मोंका अयोगिकेवलीके उदय नहीं होता उनकी स्थिति स्वरूपकी अपेक्षा एक समय कम हो जाती है किन्तु कर्म सामान्यकी अपेक्षा उनकी भी स्थिति अयोगिकेवली गुणस्थानके कालके बराबर रहती है। सयोगिकेवली गुणस्थानके अन्तिम समयमें कोई एक वेदनीय, औदारिकशरीर, तैजसशरीर, कार्मण शरीर, छह संस्थान, पहला संहनन, औदारिक आंगोपांग, वर्णादि चार, अगुरुलघु, उपघात, परघात उच्छ्वास, शुभ अशुभ विहायोगति, प्रत्येक, स्थिर अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुःस्वर और निर्माण इन तीस प्रकृतियोंके उदय और उदीरणाका विच्छेद करके उसके अनन्तर समयमें वे अयोगिकेवली हो जाते हैं। अयोगिकेवली गुणस्थानका काल अन्तर्मुहूर्त है। इस अवस्थामें वे भवका उपकार करनेवाले कर्मोंका क्षय करनेके लिये व्युपरतक्रियाप्रतिपाति ध्यानको करते हैं। वहाँ स्थिति घात आदि कार्य नहीं होते। किन्तु जिन कर्मोंका उदय होता है उनको तो अपनी स्थिति पूरी होनेसे अनुभव करके नष्ट कर देते हैं तथा जिन प्रकृतियोंका उदय नहीं होता उनका स्तिबुक संक्रम

जिन प्रकृतियोंका अनुदयरूपसे संकेत किया है वे पैंतालीस हैं। यथा—औदारिक शरीर, औदारिकबन्धन, औदारिकसंघात, तैजसशरीर, तैजसबन्धन, तैजससंघात, कार्मण शरीर, कार्मणबन्धन, कार्मणसंघात, छह संस्थान, छह संहनन, औदारिक आंगोपांग वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, मनुष्यानुपूर्वी, परघात, उपघात, अगुरुलघु, प्रशस्त व अप्रशस्त विहायोगति, प्रत्येक, अपर्याप्त, उच्छ्वास, स्थिर, अस्थिर शुभ अशुभ, सुस्वर, दुःस्वर, दुर्भग, अनादेय, अयश कीर्ति और निर्माण। इनके अतिरिक्त नीचगोत्र और कोई एक वेदनीय ये दो प्रकृतियां और हैं। इस प्रकार कुल सत्तावन प्रकृतियाँ हैं जिनका अयोगी अवस्थाके उपान्त्य समयमें क्षय हो जाता है। यहाँ वर्णादिक चारके अवान्तर भेद नहीं गिनाये इसलिये सत्तावन प्रकृतियाँ कहीं हैं। अब यदि इनमें वर्णादिक चारके स्थानमें उनके अवान्तर भेद सम्मिलित कर दिये जायं तो उपान्त्य समयमें क्षय होनेवाली प्रकृतियोंकी संख्या तिहत्तर हो जाती है। यद्यपि गाथामें किसी एक वेदनीयका नामोल्लेख नहीं किया है फिर भी गाथामें जो 'अपि' शब्द आया है इसके बलसे उसका ग्रहण हो जाता है।

अब अयोगिकेवली गुणस्थानमें किन प्रकृतियोंका उदय होता है यह बतलानेके लिये आगली गाथा कहते हैं—

अन्नयरवेयणीयं मणुयाउय उच्चगोय नव नामे।

वेएइ अजोगिजिणो उक्कोस जहन्न एक्कारं ॥६६॥

अर्थ—अयोगी जिन उत्कृष्टरूपसे किसी एक वेदनीय, मनुष्यायु, उच्चगोत्र और नामकर्मकी नौ प्रकृतियां इस प्रकार इन बारह प्रकृतियोंका वेदन करते हैं। तथा इनमेंसे तीर्थंकर प्रकृतिके कम हो जाने पर जघन्यरूपसे ग्यारह प्रकृतियोंका वेदन करते हैं।

विशेषार्थ—यह नियम है कि सयोगिकेवली गुणस्थानके अन्तिम समयमें किसी एक वेदनीयकी उदय व्युच्छित्ति हो जाती है। यदि साताकी उदयव्युच्छित्ति हो जाती है तो अयोगी अवस्थामें असाताका उदय रहता है और यदि असाताकी उदयव्युच्छित्ति हो जाती है तो अयोगी अवस्थामें साताका उदय रहता है इसी बातको ध्यान में रखकर गाथामें 'अन्यतर वेदनीय' कहा है। दूसरे गाथामें उत्कृष्टरूपसे बारह और जघन्य रूपसे ग्यारह प्रकृतियोंके उदय बतलानेका कारण यह है कि सब जीवोंके तीर्थंकर प्रकृतिका उदय नहीं होता। जिन्होंने तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया होता है उन्हींके उसका उदय होता है अन्यके नहीं, अत अयोगी अवस्थामें अधिकसे अधिक बारह और कमसे कम ग्यारह प्रकृतियोंका उदय बन जाता है। बारह प्रकृतियोंका नामोल्लेख गाथामें किया ही है।

अब अगली गाथा द्वारा अयोगी अवस्थामें उदय योग्य नामकर्मकी नौ प्रकृतिया बतलाते हैं—

मणुयगइ जाइ तस बायर च पज्जत्तसुभगमाइज्जं।
जसकित्ती तित्थयरं नामस्स हवंति नव एया ॥६७॥

अर्थ—मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यश कीर्ति और तीर्थंकर ये नामकर्मकी नौ प्रकृतिया हैं जिनका अयोगी अवस्था मे उदय होता है।

मनुष्यानुपूर्वीकी सत्ता उपान्त्य समयतक होती है या अन्तिम समय तक आगे अगली गाथा द्वारा इसी मतभेदका निर्देश करते हैं—

तच्चाणुपुव्विसहिया तेरस भवसिद्धियस्स चरिमम्मि।
संत सगमुक्कोसं जहन्नय बारस हवंति ॥६८॥

अर्थ—तद्भव मोक्षगामी जीवके अन्तिम समयमें उत्कृष्टरूपसे मनुष्यानुपूर्वी सहित तेरह प्रकृतियोंकी और जघन्यरूपसे बारह प्रकृतियोंकी सत्ता होती है।

विशेषार्थ—पहले यह बतला आये हैं कि जिन प्रकृतियोंका अयोगी अवस्थामें उदय नहीं होता उनकी सत्त्वव्युच्छित्ति उपान्त्य समयमें हो जाती है। मनुष्यानुपूर्वीका उदय प्रथम, दूसरे और चौथे गुणस्थानमें ही होता है अत सिद्ध हुआ कि इसका उदय अयोगी अवस्थामे नहीं हो सकता और इसलिये पूर्वोक्त नियमके अनुसार इसकी सत्त्व व्युच्छित्ति अयोगी अवस्थाके उपान्त्य समयमे बतलाई है। किन्तु अन्य आचार्योंका मत है कि मनुष्यानुपूर्वीकी सत्त्वव्युच्छित्ति अयोगी अवस्थाके अन्तिम समयमें होती है। उपर्युक्त गाथामे इसी मतभेदका निर्देश किया गया है। पूर्वोक्त कथनका सार यह है कि सप्ततिका प्रकरणके कर्ताके मतानुसार मनुष्यानुपूर्वीका उपान्त्य समयमे क्षय हो जाता है इसलिये अन्तिम समयमे उदयागत बारह या ग्यारह प्रकृतियोंका ही सत्त्व पाया जाता है। तथा कुछ अन्य आचार्योंके मतानुसार अन्तिम समयमें मनुष्यानुपूर्वीका सत्त्व और रहता है अत अन्तिम समयमें तेरह या बारह प्रकृतियोंका सत्त्व पाया जाता है।

अन्य आचार्य मनुष्यानुपूर्वीका सत्त्व अन्तिम समयमें क्यों मानते हैं, आगे अगली गाथा द्वारा इसी बातका उल्लेख करते हैं—

मणुयगइसहगयाओ भवखित्तविवागजीवविवाग त्ति ।
वेयणियन्नयरुच्च च चरिमभवियस्स खीयति ॥६९॥

अर्थ—मनुष्यगतिके साथ उदयको प्राप्त होनेवाली भवविपाकी क्षेत्रविपाकी और जीवविपाकी प्रकृतियाँ तथा कोई एक वेदनीय और उच्चगोत्र कुल मिला कर ये तेरह प्रकृतियाँ तद्भव मोक्षगामी जीवके अन्तिम समयमें क्षयको प्राप्त होती हैं।

विशेषार्थ—इस गाथा में बतलाया है कि मनुष्यगतिके साथ उदयको प्राप्त होनेवाली भवविपाकी, क्षेत्रविपाकी और जीवविपाकी तथा कोई एक वेदनीय और उच्चगोत्र इन प्रकृतियों का अयोगिकेवली गुणस्थानके अन्तिम समयमें क्षय होता है। जो प्रकृतियाँ नरकादि भवकी प्रधानतासे अपना फल देती हैं वे भवविपाकी कही जाती हैं। जैसे चारों आयु। जो प्रकृतियाँ क्षेत्रकी प्रधानतासे अपना फल देती हैं वे क्षेत्रविपाकी कहलाती हैं। जैसे चारों आनुपूर्वी। जो प्रकृतियाँ अपना फल जीवमें देती हैं उन्हें जीवविपाकी प्रकृतियाँ कहते हैं। जैसे पाँच ज्ञानावरण आदि। प्रकृतमें भवविपाकी मनुष्यायु है। क्षेत्रविपाकी मनुष्यानुपूर्वी है। जीवविपाकी पूर्वोक्त नामकर्मकी नौ प्रकृतियाँ हैं। तथा इनके अतिरिक्त कोई एक वेदनीय और उच्चगोत्र ये दो प्रकृतियाँ और हैं।

(१) गोम्मटसार कर्मकाण्डमें एक इसी मतका उल्लेख है कि मनुष्यानुपूर्वी की चौदहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें सत्त्वव्युच्छित्ति होती है। यथा—

उदयगबार णराणू तेरस चरिमम्हि वोच्छिण्णा ॥ २४० ॥,

किन्तु धवला प्रथम पुस्तकमें सप्ततिकाके समान दोनों ही मतोंका उल्लेख किया है। देखो धवला प्रथम पु० पृ० २२४।

इस प्रकार ये कुल तेरह प्रकृतियाँ हैं जिनका क्षय भवसिद्धिक जीव के अन्तिम समयमे होता है। पूर्वोक्त कथनका सार यह है कि मनुष्यानुपूर्वीका जब भी उदय होता है तो वह मनुष्यगतिके साथ ही होता है अत उसका क्षय भी मनुष्यगतिके साथ ही होता है। इस व्यवस्थाके अनुसार भवसिद्धिकके अन्तिम समयमे तेरह या तीर्थंकर प्रकृतिके विना बारह का क्षय होता है। किन्तु अन्य आचार्योंका मत है कि मनुष्यानुपूर्वीका अयोगी अवस्थामे उदय नहीं होता अत उसका अयोगी अवस्थाके उपान्त्य समयमें ही क्षय हो जाता है। जो प्रकृतियाँ उदयवाली होती हैं उनका स्तिबुक-संक्रम नहीं होता अतएव उनके दलिक स्वस्वरूपसे अपने अपने उदयके अन्तिम समयमे दिखाई देते हैं और इसलिये उनका अन्तिम समयमें सत्ताविच्छेद होता है यह बात तो युक्त है, परन्तु चारो आनुपूर्वी क्षेत्र विपाकी प्रकृतियाँ है उनका उदय केवल अपान्तराल गति मे ही होता है इसलिये भवस्थ जीवके उनका उदय सम्भव नहीं और इसलिये मनुष्यानुपूर्वीका अयोगी अवस्थाके अन्तिम समयमे सत्ताविच्छेद न होकर द्विचरम समयमें ही उसका सत्ताविच्छेद हो जाता है। पहले द्विचरम समयमे जो सत्तावन प्रकृतियोंका सत्तविच्छेद और अन्तिम समयमे जो बारह या तीर्थंकर प्रकृतिके विना ग्यारह प्रकृतियोंका सत्ताविच्छेद बतलाया है वह इसी मतके अनुसार बतलाया है।

इस प्रकार अयोगी अवस्थाके अन्तिमसमयमे कर्मोंका समूल नाश हो जानेके पश्चात् क्या होता है इसका अगली गाथा द्वारा विचार करते हैं—

अह सुइयसयलजगसिहरमरुयनिरुवमसहावसिद्धिसुहं।
अनिहणमव्वाबाहं तिरयणसारं अणुहवंति ॥ ७० ॥

अर्थ—कर्मोंका क्षय होजानेके पश्चात् जीव एकान्त शुद्ध, सम्पूर्ण जगमें जितने सुख हैं उन सबमें प्रधान, रोगरहित, उपमा रहित, स्वाभाविक, नाशरहित बाधारहित और रत्नत्रयके सारभूत सिद्धि सुख का अनुभव करते हैं।

विशेषार्थ इस गाथामें जब आत्मा आठों कर्मोंका क्षय हो जानेके पश्चात् मुक्त हो जाता है तब उसे कैसे सुखकी प्राप्ति होती है इसका विचार किया गया है। गाथामें सिद्धि सुखके नौ विशेषण दिये हैं। पहला विशेषण शुचिक है। मलयगिरि आचार्यने इसका अर्थ एकान्त शुद्ध किया है। भाव यह है कि ससारी जीवका सुख राग द्वेष से मिला हुआ रहता है। किन्तु सिद्ध जीवोंके राग द्वेपका सर्वथा अभाव हो गया है इसलिये उनके जो सुख होता है वह शुद्ध आत्मासे उत्पन्न होता है उसमे बाहरी वस्तुका सयोग और वियोग तथा उसमें इष्टानिष्ट कल्पना कारण नहीं पड़ती। दूसरा विशेषण सकल है जिसका अर्थ सम्पूर्ण होता है। बात यह है कि ससार अवस्थामें जीवके कर्मोंका सम्बन्ध बना रहता है इसलिये एक तो इसे आत्मीक सुखकी प्राप्ति होती ही नहीं और कदाचित् सम्यग्दर्शनादिके निमित्तसे आत्मीक सुखकी प्राप्ति होती भी है तो भी व्याकुलताका अभाव न होनेसे वह किंचिन्मात्रामें ही होती है किन्तु सिद्ध जीवोंके सब बाधक कारण दूर होगये हैं अत उन्हें पूर्ण सिद्धिजन्य सुख प्राप्त होता है। तीसरा विशेषण जगशिखर है। जिसका अर्थ है जगमें जितने सुख हैं सिद्ध जीवोंका सुख उन सबमें प्रधान है बात यह है कि आत्माके अनन्त अनुजीवी गुणोंमें सुख भी एक गुण है। अब जब तक यह जीव ससारमें वास करता है तब तक उसका वह गुण घातित रहता है। कदाचित् प्रकट भी होता है तो स्वल्प-मात्रामें प्रकट होता है। किन्तु सिद्ध जीवोंके प्रतिबन्धक कारणोंके

्र हो जानेसे पूरा सुख गुण प्रकट हो जाता है इसलिये जगमें
ंजतने भी प्रकारके सुख हैं उनमें सिद्ध जीवोंका सुख प्रधानभूत है
ाह सिद्ध होता है। चौथा विशेषण रोगरहित है। रोगादि दोषों
ी उत्पत्ति शरीरके निमित्तसे होती है। पर सिद्ध जीव शरीर
हित हैं। उनके शरीर प्राप्तिका निमित्त कारण कर्म भी दूर हो
ाया है, अत सिद्ध जीवोंका सुख रोगादि दोषोंसे रहित है यह
सेद्ध होता है। पाँचवाँ विशेषण निरुपम आया है। बात यह
ै कि प्रत्येक गुण धर्म दूसरे गुणधर्मोंसे भिन्न हैं। उसके स्वरूप
नेर्णयके लिये हम जो कुछ भी दृष्टान्त देकर शब्दों द्वारा उसे
ापने का प्रयत्न करते हैं उस मापने का उपमा कहते हैं। उप
प्रर्थात् उपचारसे या नजदीकसे जो माप करने की प्रक्रिया है उसे
उपमा कहते है। भाव यह है कि प्रत्येक गुणधर्म और उसकी
ार्याय दूसरे गुणधर्मोंसे या उसी विवक्षित गुणधर्मकी अन्य
ार्यायसे भिन्न है अत थोडी बहुत समानताको देखकर दृष्टान्त
द्वारा उसका परिज्ञान कराया जाता है इसलिये इस प्रक्रियाको
उपमामें लिया जाता है। परन्तु यह प्रक्रिया उन्हींमें घटित हो
सकती है जो इन्द्रियगोचर हैं। सिद्ध परमेष्ठीका सुख तो अती-
न्द्रिय है इसलिये उपमा द्वारा उसका परिज्ञान नहीं हो सकता।
उसे यदि कोई भी उपमा दी जा सकती है तो उसीको दी जा
सकती है। ससारमें तत्सदृश ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिसकी उसे
उपमा दी जा सके इसलिये सिद्ध परमेष्ठीके सुखको अनुपम कहा
है। छठा विशेषण स्वभावभूत है। इसका यह आशय है कि
जिस प्रकार ससारी सुख कोमल स्पर्श, सुस्वादु भोजन, वायुमण्डल
को सुरभित करनेवाले नाना प्रकार के पुष्प, इत्र, तैल आदि के
गन्ध, रमणीय रूपका अवलोकन, मधुर सगीत आदिके निमित्तसे
उत्पन्न होता है सिद्ध सुखकी वह बात नहीं है किन्तु वह आत्मा

का स्वभाव है। सातवाँ विशेषण अनिधन है। इसका यह भाव है कि सिद्ध पर्याय की प्राप्ति हो जानेके पश्चात् उसका कभी नाश नहीं होता। उसके स्वाभाविक अनन्त गुण सदा स्वभावरूप से स्थिर रहते हैं। उनमें सुख भी एक गुण है अत उसका भी कभी नाश नहीं होता। आठवाँ विशेषण अव्याबाध है। जो अन्यके निमित्तसे होता है या अस्थायी होता है उसीमें बाधा उत्पन्न होती है। परन्तु सिद्ध जीवोंका सुख न तो अन्यके निमित्त से ही उत्पन्न होता है और न कुछ काल तक ही टिकनेवाला है। वह तो आत्माका अनपायी और सर्वदा व्यक्त रहनेवाला धर्म है इसलिये उसे अव्याबाध कहा है। आखिरी विशेषण त्रिरत्नसार है। आखिर ससारी जीव रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र की उपासना किस लिये करता है। इसलिये ही कि इसकी उपासना द्वारा वह निराकुल अवस्थाको प्राप्त करना चाहता है। सुखकी अभिव्यक्ति निराकुलतामें ही है। यही सबब है कि यहाँ सुखको रत्नत्रयका सार बतलाया है।

उपसहार गाथा—

दुरहिगम निउण परमत्थ रुइर-बहुभगदिट्ठिवायाओ।
अत्था अणुमरियव्वा बधोदयसतकम्माण ॥७१॥

अर्थ—दृष्टिवाद अङ्ग अति कष्ट से जानने योग्य है सूक्ष्म बुद्धिगम्य है, यथावस्थित अर्थका प्रतिपादन करने वाला है आह्लादकारी है और अनेक भेदवाला है। जो बन्ध, उदय और सत्तारूप कर्मोंको विशेषरूपसे जानना चाहते हैं उन्हें यह सब इससे जानना चाहिये।

विशेषार्थ—ग्रन्थकर्त्ता ने यह ध्वनित किया है कि यद्यपि हमने यह सप्ततिका प्रकरण दृष्टिवाद अङ्गके आधारसे लिखा है फिर भी वह दुरधिगम है। सब कोई उसका सरलतासे अध्ययन नहीं कर सकते। जिनकी बुद्धि सूक्ष्म है वे ही उसमें प्रवेश पाते

हैं। माना कि उसमें यथावस्थित अर्थका ही सुन्दरतासे प्रतिपादन किया गया है पर उसके अनेक भेद प्रभेद हैं अत पूरी तरह उसका मथन करना कठिन है। इसलिये हमसे जितना बन सका उसके अनुसार उसका अध्ययन करके यह ग्रन्थ निबद्ध किया है। जो विशेष अर्थके जिज्ञासु हैं वे उसका अध्ययन करें और उससे बन्ध, उदय और सत्तारूप कर्मोंके भेद प्रभेदोंको समझ लें।

अब अपनी लघुताता को दिखलानेके लिये आचार्य अगली गाथा कहते हैं—

जो जत्थ अपडिपुन्नो अत्थो अप्पागमेण बद्धो त्ति।
तं खमिउण बहुसुया पूरेऊण परिकहंतु ॥ ७२ ॥

अर्थ—चूंकि मैं अल्प आगम का ज्ञाता हूँ या यह आगम का संक्षेप है इसलिये मैंने जिस प्रकरणमें जितना अपरिपूर्ण अर्थ निबद्ध किया है वह मेरा दोष है अत बहुश्रुत जन मेरे दोषको क्षमा करके और उस अर्थ की पूर्ति करके कथन करें।

विशेषार्थ—इस गाथामें अपनी लघुता प्रकट करते हुए आचार्य लिखते हैं एक तो मैं अल्पज्ञ हूँ या यह ग्रन्थ आगमका संक्षेप है। इस कारणसे बहुत सम्भव है कि इस ग्रन्थमें मैंने जो विषय विवेचन की शृङ्खला बाँधी है वह स्खलित हो। यद्यपि यह जान बूझकर नहीं किया गया है पर ऐसा होना सम्भव है अत यह मेरा अपराध है। किन्तु जो बहुश्रुत जन हैं वे मेरे इस दोषको भूल जायें। यदा कदाचित् न भूल सकें तो क्षमा करें। और जिस प्रकरणमें जो कमी दिखाई दे उसे पूरा कर लें।

※ हिन्दी व्याख्या सहित सप्ततिकाप्रकरण समाप्त ※

हिन्दीव्याख्यासहित

सप्ततिकाप्रकरणके

परिशिष्ट

‹

१ सप्ततिका प्रकरण की गाथाओं का अकारादि अनुक्रम

२ अन्तर्भाष्य गाथा-सूची

पज्जत्तगसण्णियरे अट्ठ चउक्कं च वेयणियभंगा ।
सत्तग तिगं च गोए पत्तेयं जीवठाणेसु ॥ १ ॥
पज्जत्तापज्जत्तग समणे पज्जत्त अमण सेसेसु ।
अट्ठावीसं दसगं नवगं पणगं च आउस्स ॥ २ ॥
चउ छस्सु दोण्णि सत्तसु एगे चउ गुणिसु वेयणियभंगा ।
गोए पण चउ दो तिसु एगऽट्ठसु दोण्णि एक्कम्मि ॥ ३ ॥
अट्ठच्छाहिगवीसा सोलस वीसं च बार छ दोसु ।
दो चउसु तीसु एक्कं मिच्छाइसु आउगे भंगा ॥ ४ ॥
बारसपणसट्ठसया उदयविगप्पेहिं मोहिया जीवा ।
चुलसीईसत्तत्तरिपयविंदसएहिं विन्नेया ॥ ५ ॥
अट्ठग चउ चउ चउरट्ठगा य चउरो य होंति चउवीसा ।
मिच्छाइ अपुव्वंता बारस पणगं च अनियट्टे ॥ ६ ॥
अट्ठट्ठी बत्तीसं बत्तीसं सट्ठिमेव बावन्ना ।
चोयाल चोयाल वीसा वि य मिच्छमाईसु ॥ ७ ॥
चउ पणवीसा सोलस नव चत्ताला सया य बाणउया ।
बत्तीसुत्तरछायालसया मिच्छस्स बन्धविही ॥ ८ ॥
अट्ठ य सय चोवट्ठि बत्तीस सया य सासणे भेया ।
अट्ठावीसाईसु सव्वाणऽट्ठहिग छण्णउई ॥ ९ ॥
बत्तीस दोण्णि अट्ठ य बासीयसया य पंच नव उदया ।
बारहिगा तेवीसा बावण्णेक्कारस सया य ॥ १० ॥

३ अनुवाद तथा हिन्दी टिप्पण में उद्धृत अवतरणोंका अकारादि अनुक्रम

बंधोदयकम्मंसा णाणावरणंतराइए पंच ।
बंधोवरमे वि तहा उदयंसा होंति पंचेव ॥ ६ ॥
णव छक्क चत्तारि य तिण्णि य ठाणाणि दंसणावरणे ।
बंधे संते उदए दोण्णि य चत्तारि पंच वा होंति ॥ ७ ॥
बंधरयबंधे संते संता णव होंति छच्च खीणम्मि ।
खीणंते संतुदया चउ तेसु चयारि पंच वा उदयं ॥ ८ ॥
गोदेसु सत्त भंगा अट्ठ य भंगा हवंति वेयणिए ।
पण णव पण णव संता आउचउक्के वि कमसो दु ॥ ९ ॥
बावीसमेक्कवीसं सत्तारस तेरसेव नव पंच ।
चउ तिय दुग च एग बंधट्ठाणाणि मोहस्स ॥ १० ॥
छब्बावीसे चउ इगवीसे सत्तरस तेर दो दोसु ।
णवबंधए वि दोण्णि य एगेगमदो परं भंगा ॥ ११ ॥
एक्कं व दो व चत्तारि तदो एगाधिया दसुक्कस्सा ।
ओघेण मोहणिज्जे उदयट्ठाणाणि णव होंति ॥ १२ ॥
अट्ठयसत्तयछक्कयचउतियदुयएयअहियवीसा य ।
तेरस बारेयार एत्तो पंचादि एगूण ॥ १३ ॥
सततस पयडिठाणाणि ताणि मोहस्स होंति पण्णरस ।
बंधोदयसंते पुणु भंगवियप्पा बहु जाणे ॥ १४ ॥
बावीसादिसु पंचसु दसादि उदया हवंति पंचेव ।
सेसे दु दोण्णि एग एगेगमदो परं णेय ॥ १५ ॥
णवपंचाणउदिसएहुदयवियप्पेहिं मोहिया जीवा ।
ऊणत्तरिएयत्तरिपयबंधसएहिं विण्णेया ॥ १६ ॥
आदितिय बावीसे इगिवीसे अट्ठवीस कम्मंसा ।
सत्तरस तेरस णव बंधए अडचउतिगदुगेगहियवीसा ॥१७॥

४ दिगम्बर परम्पराकी सित्तरी

[दिगम्बर परम्परामें प्राकृत पंचसंग्रहका सित्तरी एक प्रकरण है। इसमें भाष्यगाथाओंके साथ इस प्रकरणकी पाँचसौसे कुछ अधिक गाथाएँ हैं। पाठकोंकी जानकारीके लिये मूलप्रकरण यहाँ दिया जा रहा है। इससे उन्हें दोनों परम्पराओंके सित्तरी प्रकरणमें कहाँ कितना अन्तर है इस बातके जाननेमें सुविधा होगी। इस सित्तरीके मूलरूपके निश्चित करने का यह अन्तिम प्रयत्न न होकर प्रथम प्रयत्न है, पाठक इतना ध्यान रखें।]

—सम्पादक

सिद्धपदेहिं महत्थं बंधोदयसंतपयडिठाणाणि।
वोच्छं सुण संखेवं[1] णिस्संदं दिट्ठिवादादो ॥ १ ॥
कदि बंधंतो वेददि कदि कदि वा पयडिठाणकम्मंसा।
मूलुत्तरपयडीसु य भंगवियप्पा दु बोहव्वा ॥ २ ॥
अट्ठविहसत्तछब्बंधगेसु अट्ठेव उदयकम्मंसा।
एयविहे तिवियप्पो एयवियप्पो अबंधम्मि ॥ ३ ॥
सत्तट्ठबंध अट्ठोदयंस तेरससु जीवठाणेसु।
एयम्मि पंच भंगा दो भंगा होंति केवलिणो ॥ ४ ॥
अट्ठसु एयवियप्पो छस्सु वि गुणसण्णिदेसु दुवियप्पो।
पत्तेयं पत्तेयं बंधोदयसंतकम्माणं ॥ ५ ॥

---

(१) मेरे मित्र पं० हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्रीकी कृपासे पंचसंग्रहकी हमें एक ही प्रति मिल सकी। प्रयत्न करने पर भी हम दूसरी प्रति प्राप्त नहीं कर सके। इसलिये जहाँ मूल गाथामें शब्द या व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धि प्रतीत हुई वहाँ हमने यथासम्भव उसका सुधार कर दिया है।

—सम्पादक

बंधोदयकम्मंसा णाणावरणंतराइए पंच ।
बंधोवरमे वि तहा उदयंसा होंति पंचेव ॥ ६ ॥
णव छक्क चत्तारि य तिण्णि य ठाणाणि दंसणावरणे ।
बंधे संते उदए दोण्णि य चत्तारि पंच वा होंति ॥ ७ ॥
णवबंधए संते सत्ता णव होंति छच्च खीणम्मि ।
खीणंते संतुदया चउ तेसु चयारि पंच वा उदयं ॥ ८ ॥
गोदेसु सत्त भंगा अट्ठ य भंगा हवंति वेयणिए ।
पण णव पण णव भंगा आउचउक्के वि कमसो दु ॥ ९ ॥
बावीसमेक्कवीसं सत्तारस तेरसेव णव पंच ।
चउ तिय दुयं च एयं बंधट्ठाणाणि मोहस्स ॥ १० ॥
छब्बावीसे चउ इगवीसे सत्तरस तेर दो दोसु ।
णवबंधए वि दोण्णि य एगेगमदो परं भंगा ॥ ११ ॥
एक्कं य दो य चत्तारि तदो एगाधिया दसुक्कस्सा ।
ओघेण मोहणिज्जे उदयट्ठाणाणि णव होंति ॥ १२ ॥
अट्ठयसत्तयछक्कयचउतियदुयएयअहियवीसा य ।
तेरस बारेयारं एत्तो पंचादि एगूणं ॥ १३ ॥
संतस्स पयडिठाणाणि ताणि मोहस्स होंति पण्णरस ।
बंधोदयसंते पुण भंगवियप्पा बहुं जाणे ॥ १४ ॥
बावीसादिसु पंचसु दसादि उदया हवंति पंचेव ।
सेसे दु दोण्णि एग एगेगमदो परं णेयं ॥ १५ ॥
णवपंचाणउदिसएहुदयवियप्पेहिं मोहिया जीवा ।
ऊणत्तरिएयत्तरिपयपयसएहिं विण्णेया ॥ १६ ॥
आइतिय बावीसे इगिवीसे अट्ठवीस कम्मंसा ।
सत्तरस तेरस णव बंधए अडचउतिगदुगेगहियवीसा ॥१७॥

४ दिगम्बर परम्पराकी सित्तरी

[दिगम्बर परम्परामें प्राकृत पंचसंग्रहका सित्तरी एक प्रकरण है। इसमें भाष्यगाथाओंके साथ इस प्रकरणकी पाँचसौसे कुछ अधिक गाथाएँ हैं। पाठकोंकी जानकारीके लिये मूलप्रकरण यहाँ दिया जा रहा है। इससे उन्हें दोनों परम्पराओंके सित्तरी प्रकरणमें कहाँ कितना अन्तर है इस बातके जाननेमें सुविधा होगी। इस सित्तरीके मूलरूपके निश्चित करने का यह अन्तिम प्रयत्न न होकर प्रथम प्रयत्न है, पाठक इतना ध्यान रखें।]

—सम्पादक

सिद्धपदेहि महत्थं बंधोदयसंतपयडिठाणाणि ।
वोच्छ सुण संखेव[1] णिस्संदं दिट्ठिवादादो ॥ १ ॥
कदि बंधतो वेददि कदि कदि वा पयडिठाणकम्मंसा ।
मूलुत्तरपयडीसु य भंगवियप्पा दु बोहव्वा ॥ २ ॥
अट्ठविहसत्तछब्बंधगेसु अट्ठेव उदयकम्मंसा ।
एगविहे तिवियप्पो एगवियप्पो अबंधम्मि ॥ ३ ॥
सत्तट्ठबंध अट्ठोदयंस तेरससु जीवठाणेसु ।
एक्कम्मि पंच भंगा दो भंगा होंति केवलिणो ॥ ४ ॥
अट्ठसु एयवियप्पो छासु वि गुणसण्णिदेसु दुवियप्पो ।
पत्तेयं पत्तेयं बंधोदयसंतकम्माणं ॥ ५ ॥

---

(१) मेरे मित्र पं० हीरालालजी 'सिद्धान्त शास्त्रीकी कृपासे पंचसंग्रह की हमें एक ही प्रति मिल सकी। प्रयत्न करने पर भी हम दूसरी प्रति प्राप्त नहीं कर सके। इसलिये जहाँ मूल गाथामें शब्द या व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धि प्रतीत हुई वहाँ हमने यथासम्भव उसका सुधार कर दिया है।

—सम्पादक

बंधोदयकम्मसा णाणावरणतराइए पच ।
बधोवरमे वि तहा उदयसा होंति पंचेव ॥ ६ ॥
णव छक्क चत्तारि य तिण्णि य ठाणाणि दसणावरणे ।
बंधे सते उदए दोण्णि य चत्तारि पच वा होंति ॥ ७ ॥
उवरयबंधे संते सता णव होंति छच्च खीणम्मि ।
खीणसे सतुदया चउ तेसु चयारि पंच वा उदय ॥ ८ ॥
गोदेसु सत्त भगा अट्ठ य भगा हवति वेयणिए ।
पण णव पण णव भगा आउचउक्के वि कमसो दु ॥ ६ ॥
बावीसमेक्कवीस सत्तारस तेरसेव नव पच ।
चउ तिय दुय च एय बधट्ठाणाणि मोहस्स ॥ १० ॥
छब्बावीसे चउ इगवीसे सत्तरस तेर दो दासु ।
णवबधए वि दोण्णि य एगेगमदो पर भगा ॥ ११ ॥
एक्क व दो व चत्तारि तदो एगाधिया दसुक्कस्सा ।
ओघेण मोहणिज्जे उदयट्ठाणाणि णव होंति ॥ १२ ॥
अट्ठयसत्तयछक्कयचउतिगदुगएगअहियवीसा य ।
तेरस वारेयार एत्तो पचादि एगूण ॥ १३ ॥
सतस्स पयडिठाणाणि ताणि मोहस्स होंति पण्णरस ।
बधोदयसते पुणु भगवियप्पा बहु जाणे ॥ १४ ॥
बावीसादिसु पचसु दसादि उदया हवति पचेव ।
सेसे दु दोण्णि एग एगेगमदो पर णेय ॥ १५ ॥
णवपंचाणउदिसएहुदयविगप्पेहिं मोहिया जीवा ।
ऊणत्तरिएयत्तरिपयबधसएहिं विण्णेया ॥ १६ ॥
आइतिय बावीसे इगिवीसे अट्ठवीस कम्मसा ।
सत्तरस तेरस णव बंधए अट्ठचउतिगदुगेगहियवीसा ॥१७॥

पचविहे अट्ठवउएगहियवीसा तेरबारसेगारं ।
पडविहबंधे सता पचहिया होंति ते चेव ॥ १८ ॥
सेसेसु अयघम्मि य सता अट्ठचउरएगहियवोसा ।
ते पुण अहिया णेया कमसो चउतियदुगेगेण ॥ १९ ॥
दसणवपण्णरसाइं बंधोदयसतपयडिठाणाणि ।
भणियाणि मोहणिज्जे इत्तो णाम पर वोच्छ ॥ २० ॥
तेवीस पणुवीस छब्बीस अट्ठवीसमुगुतीस ।
तीसेक्कतीसमेग बधट्ठाणाणि णामस्स ॥ २१ ॥
इगिवीस चउवीस एत्तो इगितीसय ति एयहिय ।
उदयट्ठाणाणि तहा णव अट्ठ य होंति णामस्स ॥ २२ ॥
तिदुइगिणउइं णउइं अडचउदुगहियमसीदिमसीदिं च ।
उणसीदिं अट्ठत्तरि सत्तत्तरि दस य णव सता ॥ २३ ॥
अट्ठेगारस तेरस बधोदयसतपयडिठाणाणि ।
ओघेणादेसेण य जत्थ जहासभव विभजे ॥ २४ ॥
णव पंचोदयसत्ता तेवीसे पचवीस छब्बीसे ।
अट्ठचउरट्ठवीसे णव सत्तुगुनीस तीसम्मि ॥२५॥
एगेग इगितीसे एगेगुदयट्ठ सतम्मि ।
उवरयबधे चउदस वेदयसतम्मि ठाणाणि ॥२६॥
तिवियप्पपयडिट्ठाणा जीवगुणसण्णिदेसु ठाणेसु ।
भगा पउंजियव्वा जत्थ जहा पयडिसमवो हवइ ॥ २७ ॥
तेरससु जीवसखेवएसु णाणतराय तिवियप्पो ।
एक्कम्मि तिदुवियप्पो करण पडि एत्थ अवियप्पो ॥ २८ ॥
तेरे णउ चउ पणय णव सता एयम्मि तेरह वियप्पा ।
वेयणीयाउगोदे विभज्ज मोह पर वोच्छ ॥ २९ ॥

अट्ठसु पयसु पुगे एय दुय दस य मोहबंधगए ।
तिय चउ णव उदयगदे तिय तिय पण्णरस संतम्मि ॥ ३० ॥
सत्तेव अपज्जत्ता सामी तह सुहुम बायरा चेव ।
विगलिंदिया तिन्नि दु तहा असण्णी य सण्णी य ॥ ३१ ॥
पणय दुय पणय पणय चदु पण बंधुदय सत पणय च ।
पण छक्क पणय छ छक्क पणय अट्ठट्ठमेयार ॥ ३२ ॥
णाणावरणे विग्घे बंधोदयसत्त पंच ट्ठाणाणि ।
मिच्छाइ दसगुणेसु खीणुवसंतेसु पंच सतुदया ॥ ३३ ॥
णव छक्क चत्तारि य तिण्णि य ठाणाणि दसणावरणे ।
बंधे सते उदए दोण्णि य चत्तारि पंच वा होंति ॥ ३४ ॥
उवरयबंधे सते सत णव होंति छच्च खीणम्मि ।
खीणते सतुदया चउ तेसु चयारि पंच वा उदय ॥ ३५ ॥
बायाल तेरसुत्तरसद च पणुवीसय वियाणाहि ।
वेदणियाउगगोदे मिच्छाइ अजोगिण भगा ॥ ३६ ॥
गुणठाणएसु अट्ठसु एगेग बंधपयडिठाणाणि ।
पचणियट्टिट्ठाणे बंधोवरमो पर तत्तो ॥ ३७ ॥
सत्ताइ दस उ मिच्छे सासायण मीसए णवुक्कोसा ।
छादी अविरदसम्मे देसे पचादि अट्ठेव ॥ ३८ ॥
विरए खओवसमिए चउरादि सत्त छक्कस्स छ णियट्टिम्मि ।
अणियट्टिबायरे पुण एक्को वा दो व उदयसा ॥ ३९ ॥
एगं सुहुमसरागो वेदेदि अवेदया भवे सेसा ।
भगाण च पमाण पुव्वुद्दिट्ठेण णायव्व ॥ ४० ॥
एक्क च छक्केगार एगारेगारसेव णव तिण्णि ।
एदे चउवीसगदा बारस दुगे पच एगम्मि ॥ ४१ ॥

पचविहे अडचउएगहियबीसा तेरसारसेगार ।
चउविहबंधे सता पचहिया होंति ते चेव ॥ १८ ॥
सेसेसु भयवधम्मि य सता अडचउरएगहियवीसा ।
ते पुण अहिया णेया कमसो चउतियदुगेगेण ॥ १९ ॥
दसणवपण्णरसाइ बंधोदयसंतपयडिठाणाणि ।
भणियाणि मोहणिज्जे इत्तो णाम पर वोच्छ ॥ २० ॥
तेवीस पणुवीस छव्वीस अट्ठवीसमुगुतीस ।
तीसेक्कतीसमेग बधट्ठाणाणि णामस्स ॥ २१ ॥
इगिवीस चउवीस एत्तो इगितीसय ति एयहिय ।
उदयट्ठाणाणि तहा णव अट्ठ य होंति णामस्स ॥ २२ ॥
तिदुइगिणउदिं णउदिं अडचउदुगहियमसीदिमसीदिं च ।
उणसीदिं अट्ठत्तरि सत्तत्तरि दस य णव सता ॥ २३ ॥
अट्ठेगारस तेरस बंधोदयसतपयडिठाणाणि ।
ओघेणादेसेण य जत्थ जहासभव विभजे ॥ २४ ॥
णव पचोदयसता तेवीसे पणवीस छव्वीसे ।
अट्ठचउरट्ठवीसे णव सत्तुगुतीस तीसम्मि ॥२५॥
एगेग इगितीसे एगेगुदयट्ठ सतम्मि ।
उवरयबधे चउदस वेदयसतम्मि ठाणाणि ॥२६॥
तिवियप्पपयडिट्ठाणा जीवगुणसण्णिदेसु ठाणेसु ।
भगा पउजियव्वा जत्थ जहा पयडिसभवो हवइ ॥ २७ ॥
तेरससु जीवसंखेवएसु णाणतराय तिवियप्पो ।
एक्कम्मि तिदुविगप्पो करण पडि एत्थ अविगप्पो ॥ २८ ॥
तेरे णव चव पणय णव सता एयम्मि तेरह वियप्पा ।
वीयणीयाउगोदे विमज्ज मोह परं वोच्छ ॥ २९ ॥

अट्ठसु पचसु एगे एग दुग दस य मोहबधगए ।
तिग चउ णव उदयगदे तिग तिग पण्णरस सतम्मि ॥ ३० ॥
तेरोव अपज्जत्ता सामी तह सुहुम बायरा चेव ।
विगलिंदिया तिन्नि दु तहा असण्णी य सण्णी य ॥ ३१ ॥
पणग दुग पणग पणग चदु पण बधुदय सत पणग च ।
पण छक्क पणग ॥ छक्क पणग अट्ठट्ठमेयारं ॥ ३२ ॥
णाणावरणे विग्घे बधोदयसत पच ठाणाणि ।
मिच्छाइ दसगुणेसु खीणुवसतेसु पच सतुदया ॥ ३३ ॥
णव छक्क चत्तारि य तिण्णि य ठाणाणि दसणावरणे ।
बधे सते उदए दोण्णि य चत्तारि पच वा होंति ॥ ३४ ॥
उवरयबधे सते सत णव होंति छच्च खीणम्मि ।
खीणते सतुदया चउ तेसु चत्तारि पच वा उदय ॥ ३५ ॥
बायाल तेरसुत्तरसद च पणुवीसय वियाणाहि ।
वेदणियाउगगोदे मिच्छाइ सजोगिणं भगा ॥ ३६ ॥
गुणठाणएसु अट्ठसु एगेग बधपयडिठाणाणि ।
पचणियट्टिट्ठाणे बधोवरमो पर तत्तो ॥ ३७ ॥
सत्ताइ दस उ मिच्छे सासायण मीसए णवुक्कोसा ।
छादी अविरदसम्मे देसे पचादि अट्ठेव ॥ ३८ ॥
विरए खओवसमिए चउरादि सत्त छक्कस्स छ णियट्टिम्मि ।
अणियट्टिबायरे पुण एक्को वा दो व उदयसा ॥ ३९ ॥
एगं सुहुमसरागो वेदेदि अवेदगा भवे सेसा ।
भगाण च पमाण पुव्वुद्दिट्ठेण णायव्व ॥ ४० ॥
एक्क य छक्केगार एगारेगारसेव णव तिण्णि ।
एदे चउवीसगदा बारस दुगे पच एगम्मि ॥ ४१ ॥

जे जत्थ गुणा उदया जाओ य हवंति तत्थ पयडीओ ।
जोगोवओगलेसादिएहिं जिह जोगते गुणिज्जाहि ॥ ४२ ॥
तिण्णेगे एगेग दो मिस्से पंच चदु णियट्टीए तिण्णि ।
दस बादरम्मि सुहुमे चत्तारि य तिण्णि उवसंते ॥ ४३ ॥
छण्णव छत्तिय सत्त य एग दुय तिय दु तियट्ठ चदु ।
दुअ दुअ चउ दुय पण चउ चदुरेग चदुपणगेग चदु ॥४४॥
एगेगमट्ठ एगेगमट्ठछदुमत्थ केवलिजिणाणं ।
एग चदुरेग चदुरो दो चदु दो छक्कमुदयंसा ॥ ४५ ॥
दो छक्कट्ठचउक्कं णिरयादिसु पयडिबंधठाणाणि ।
पण णव दसय पणय ति पंच बारे चउक्कं च ॥ ४६ ॥
इगि वियलिंदिय सयले पण पंचय अट्ठ बंधठाणाणि ।
पण छक्क दस य उदए पण पण तेरे दु संतम्मि ॥ ४७ ॥
इय कम्मपयडिठाणाणि सुट्ठु बंधुदयसंतकम्माणं ।
गदिआदिएसु अट्ठसु चउप्पयारेण णेयाणि ॥ ४८ ॥
उदयस्सुदीरणस्स य सामित्तादो ण विज्जदि विसेसो ।
मोत्तूण य इगिदालं सेसाणं सव्वपयडीणं ॥ ४९ ॥
णाणंतरायदसयं दंसण णव वेयणीय मिच्छत्तं ।
सम्मत्त लोभ वेदाउगाणि णव णाम उच्चं च ॥ ५० ॥
तित्थयराहारविरहियाउ अज्जेदि सव्वपयडीओ ।
मिच्छत्तवेदओ सासणो य इगुवीससेसाओ ॥ ५१ ॥
छायालसेस मिस्सो अविरयसम्मो तिदालपरिसेसा ।
तेवण्णा देसविरदो विरदो सगवण्ण सेसाओ ॥ ५२ ॥
इगुसट्ठिमप्पमत्तो बंधइ देवाउगं च इयरो वि ।
अट्ठावण्णमपुव्वो छप्पण्णं चावि छव्वीसं ॥ ५३ ॥

पासीसा एगूण बंधइ अट्ठारसं च अणियट्टी ।
सत्तरस सुहुमसरागो सायममोहो दु सजोई दु ॥ ५४ ॥
एसो दु बंधसामित्तोघो गदिआदिएसु णेदव्वो ।
ओघादो साहेउजो जत्थ जहा पयडिसब्भओ होइ ॥ ५५ ॥
तित्थयरदेवणिरयाउगं च तीसु वि गदीसु बोद्धव्वं ।
अवसेसा पयडीओ हवंति सव्वासु वि गदीसु ॥ ५६ ॥
पढमकसायचउक्कं दंसणतिय सत्तया दु उवसंता ।
अविरदसम्मत्तादी जाव णियट्टि त्ति णादव्वा ॥ ५७ ॥
सत्तावीसं सुहुमे अट्ठावीसं च मोहपयडीओ ।
उवसंतवीयराए उवसंता होंति णादव्वा ॥ ५८ ॥
पढमकसायचउक्कं एत्तो मिच्छत्त मिस्स सम्मत्तं ।
अविरद सम्मे देसे विरदे अपमत्ते य खीयंति ॥ ५९ ॥
अणियट्टिबायरे थीणगिद्धितिग णिरय तिरियणामाओ ।
संखेज्जदिमे सेसे तप्पाओग्गा य खीयंति ॥ ६० ॥
एत्तो हणदि कसायट्ठयं च पच्छा णवंसयं इत्थी ।
तो णोकसायछक्कं पुरिसवेदम्मि संछुहइ ॥ ६१ ॥
पुरिसं कोहे कोहं माणे माणं च छुहइ मायाए ।
मायं च छुहइ लोहे लोहं सुहुमम्मि तो हणइ ॥ ६२ ॥
खीणकसायदुचरिमे णिद्दा पयला य हणइ छदुमत्थो ।
णाणंतरायदसयं दंसणचत्तारि चरिमम्मि ॥ ६३ ॥
देवगइसहगयाओ दुचरिमभवसिद्धियम्हि खीयंति ।
सविवागेदरमणुयगइ णाम णीचं पि एत्थेव ॥ ६४ ॥
अण्णयरवेयणीयं मणुयाऊ उच्चगोय णाम णव ।
वेदेदि अजोगिजिणो उक्कस्स जहण्णमेयार ॥ ६५ ॥

मणुयगई पंचिंदिय तस बायरणाम सुभगमाइज्जं ।
पज्जत्त जसकित्ती तित्थयर णाम णव होंति ॥ ६६ ॥
मणुयाणुपुव्विसहिया तेरसभवसिद्धियस्स चरमंते ।
संतस्स दु उक्कस्सं जहण्णय बारसा होंति ॥ ६७ ॥
मणुयगइसहगयाओ भवखेत्तविवागजीववागा य ।
वेदणियण्णदरुच्चं चरिमे भवसिद्धियस्स खीयंति ॥ ६८ ॥
अह सुठियसयलजयसिहरमरयणिरुवमसहावसिद्धिसुखं ।
अणिहणमव्वावाहं तिरयणसारं अणुहवंति ॥ ६९ ॥
दुरधिगमणिउणपरमट्ठरुइरबहुभंगदिट्ठिवादाओ ।
अत्था अणुसरियव्वा बंधोदयसंतकम्माणं ॥ ७० ॥
जो एत्थ अपडिपुण्णो अत्थो अप्पागमेण बद्धो त्ति ।
तं खमिऊण बहुसुया पूरेऊणं परिकहिंतु ॥ ७१ ॥

५ अनुवादगत पारिभाषिक शब्दोंका

(१) यहाँ ऐसे ही शब्दोंका संग्रह किया गया है जिनकी परिभाषा है । जिनके विषयमें विशेष कुछ कहा गया है ...

६ सप्ततिकाके अनुवाद, टिप्पणी तथा प्रस्तावनामें उपयुक्त ग्रन्थोंकी सूची तथा संकेत विवरण

अ० पंच सं०—अमितगतिका पंचसंग्रह, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई ।

आप्तमीमांसा—जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता ।

आ० नि०—आवश्यकनियुक्ति, आगमोदय समिति सूरत ।

क० पा०
कसाय० } कसायपाहुड, अप्रकाशित ।

क० पा० चु०
कसाय चु०
कसाय० चुण्णि } कसायपाहुड चुण्णि, अप्रकाशित ।

कर्मप्रकृति
कर्मप्र० उद०—कर्मप्रकृति उदय
कमप्र० उदी०—कमप्रकृति उदीरणा
कमप्र० उप०—कमप्रकृति उपशमना
कर्म प्र० बन्धोद०—कर्मप्रकृति बन्धोदयसत्त्व } मुक्ताबाई ज्ञान-मन्दिर डभोई ।

कर्मस्तव—आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल आगरा ।

गा० कर्म०—गोम्मटसार कमकाण्ड, रायचन्द्र जैन, शास्त्रमाला बम्बई ।

गोमट्टसार जीवकाण्ड— " " "

चूर्णि—चूर्णिसहिता सित्तरी, पाटन गुजरात ।

जयध०—जयधवला अप्रकाशित ।

जी० चू० द्वा० } जीवस्थान चूलिका स्थानसमुत्कीर्तन जैन साहित्यो-
जी० चू० } द्धारक फण्ड अमरावती।

त० सू०— तत्त्वार्थसूत्र सूरत।

द्रव्य०— द्रव्यसग्रह ,,

धवला— } अप्रकाशित
धव० उद० आ० } धवला उदय, आरा प्रति अप्रकाशित
धव० उदी० आ० } ,, उदीरणा, ,, ,,

पञ्चसग्रह प्राकृत—अप्रकाशित।

पञ्च० सप्त० } पचसग्रह सप्ततिका, मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोई
पचस० सप्तति० }

प० क० ग्र०—पचम कर्मग्रन्थ, आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मडल आगरा।

पञ्चास्तिकाय—रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई।

प्रकरणरत्नाकर—प्रकाशक श्री भीमसी माणक बम्बई।

प्रज्ञापना—

प्रमेयकमलमार्तण्ड—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।

प्रवचनसार—रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई।

मल० सप्त० टी०—मलयगिरि सप्तति टीका, श्री जैन आत्मानन्द सभा भावनगर।

मोक्षमार्गप्रकाश—अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला बम्बई।

राजवार्तिक—तत्त्वार्थ राजवार्तिक, जैन सिद्धान्तप्रकाशनी सस्था कलकत्ता।

रामचरितमानस—बनारस।

विशेषणवती—श्वेताम्बर सस्था रतलाम।

वि० भा०—विशेषावश्यक, भाष्य श्वेताम्बर संस्था रतलाम।
वृत्ति—सप्ततिकाकी मलयगिरि वृत्ति, जैन आत्मानन्द सभा भावनगर।

शतक
शतकचूर्णि } सचूर्णि शतकप्रकरण, राजनगरस्थ वीर समाज।

समयप्राभृत—रायचन्द्र जैनशास्त्रमाला बम्बई।
सर्वार्थसिद्धि—मल्लिसागर दि० जैन ग्रन्थमाला मेरठ।
सुभाषितरत्नसंदोह—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।
गा०—गाथा, प०—पत्र, पृ०—पृष्ठ, श्लो०—श्लोक, सू०—सूत्र।

